प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी)

भाग १ : प्रथमावृत्ति : ३००० (अगस्त, १९८१)
द्वितीयावृत्ति : २२०० (जून, १९८२)

भाग २ : प्रथमावृत्ति : ५००० (जून, १९८२)

भाग ३ : प्रथमावृत्ति : ५००० (जुलाई, १९८३)

प्रवचनरत्नाकर (गुजराती)

भाग १ : प्रथमावृत्ति : ५०००
भाग २ : प्रथमावृत्ति : ५०००
भाग ३ : प्रथमावृत्ति : ५०००
भाग ४ : प्रथमावृत्ति : ५०००
भाग ५ : प्रथमावृत्ति : ५०००
भाग ६ : प्रथमावृत्ति : ५०००
भाग ७ : प्रथमावृत्ति : ५०००

मूल्य : दश रुपये

मुद्रक :
जयपुर प्रिण्टर्स
मिर्जा इस्माइल रोड
जयपुर ३०२००१
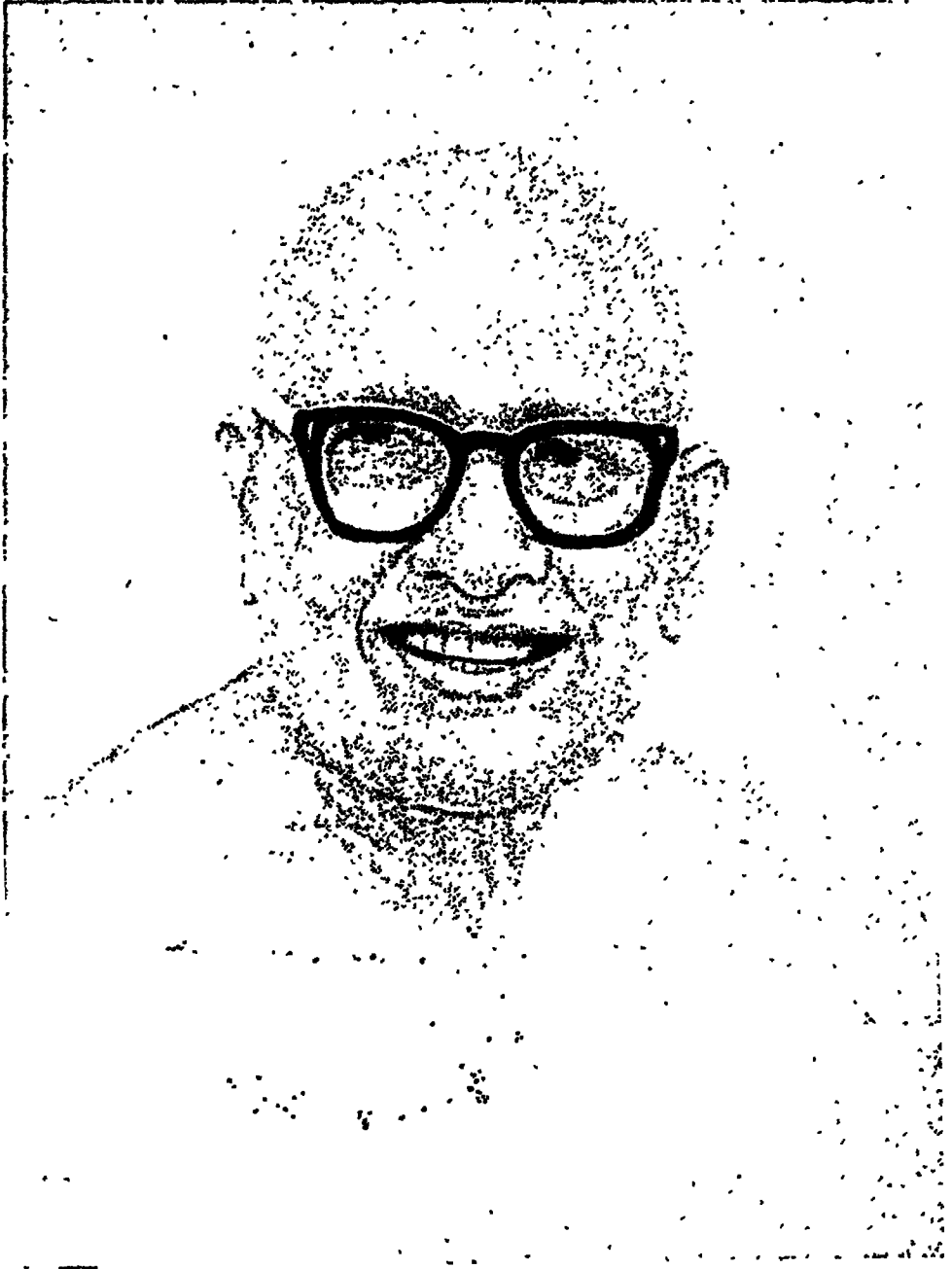
आध्यात्मिक सत्पुरुष
स्व० पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी

जन्म : वैसाख सुदी २, वि० सं० १९४६ • निधन : मार्गशीर्ष कृष्णा ७, वि० सं० २०३७

विषय-सूची

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर द्वारा संचालित
पुस्तक बिक्री विभाग सम्बन्धी रीति-नीति

यह विभाग सत्साहित्य को लागत मूल्य या उससे भी कम मूल्य पर जन-जन तक पहुँचाने के पावन उद्देश्य से ही कार्यरत है। यह कार्य अत्यन्त श्रम-साध्य है, अतः इस पर अनावश्यक एवं अनुपयोगी अधिक भार बढ़ाना संभव नहीं है। सिद्धान्तानुकूल पूर्ण प्रमाणित साहित्य रखना ही हमें अभीष्ट है।

हमारे विक्री विभाग की लोकप्रियता एवं सफलता का लाभ उठाने के लिए कतिपय प्रकाशन-संस्थाएँ अपने प्रकाशनों में प्राप्तिस्थान के अन्तर्गत हमारा नाम, बिना हमारी अनुमति के प्रकाशित कर देती हैं।

उक्त सन्दर्भ में हमारी रीति-नीति स्पष्ट है कि हम अपने और अपने से संबंधित संस्थाओं के प्रकाशनों की बिक्री की ही मुख्यरूप से व्यवस्था करते हैं। अन्य संस्थाओं के जिन प्रकाशनों की हम आवश्यकता समझते हैं, उन्हें स्वयं ही बुलाकर रखते हैं।

अतः सभी से साग्रह अनुरोध है कि हमारी अनुमति के बिना हमारा नाम प्राप्तिस्थान में न छापें। कृपया निम्न बातों पर अवश्य ध्यान दें :—

(१) प्राप्तिस्थान में नाम छापने से पूर्व अनुमति प्राप्त करने के लिए पुस्तक की एक प्रति भेजना अत्यन्त आवश्यक है; उसे देखकर जब हमारी प्रकाशन समिति स्वीकृति दे, तब ही प्राप्तिस्थान में हमारा नाम छापें।

(२) नाम छापने की अनुमति प्राप्त हो जाने के बाद भी बिना आर्डर के पुस्तकें न भेजें, क्योंकि हमारे पास स्टॉक रखने का सीमित स्थान है; अतः अधिक स्टॉक नहीं रख सकते। जितनी पुस्तकें मँगाई जायें, उतनी ही भेजें।

(३) पुस्तकों का रुपया बिक्री के बाद ही दिया जा सकेगा।

(४) लागत मूल्य से अधिक मूल्यवाली पुस्तकें बिक्री विभाग में रखना संभव नहीं है। इसीप्रकार लौकिक पुस्तकें भी नहीं रखी जा सकतीं।

(५) हम अपने ग्राहकों को पुस्तकें फ्री पेकिंग, पोस्टेज और भाड़े से भेजते हैं; जिसमें लगभग १०% खर्च आ जाता है, वह आपकी पुस्तकों में भी लगेगा ही। अतः बिल १०% कम करके बनावें, साथ ही फ्री पोस्टेज, पेकिंग और भाड़े के पुस्तकें भेजें।

(६) यद्यपि पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के साहित्य को जन-जन तक पहुँचाना हमारा मूल उद्देश्य है; तथापि उनके महाप्रयाण के बाद प्रकाशित उनके उसी साहित्य को हम रख सकेंगे, जिसमें उनकी पूर्व प्रकाशित पुस्तकों, आत्मधर्मों अथवा टेपों का प्रमाण प्रस्तुत किया जायगा।

— मंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

प्रकाशकीय

परमपूज्य आचार्य कुन्दकुन्दकृत महान ग्रन्थराज समयसार पर हुए पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों का संकलन 'प्रवचनरत्नाकर भाग ३' प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है।

पूज्य स्वामीजी इस युग के सर्वाधिक चर्चित आध्यात्मिक क्रान्तिकारी महापुरुष हो गए हैं। वर्त्तमान में दृष्टिगोचर दिगम्बर जैनधर्म की अभूतपूर्व धर्मप्रभावना का श्रेय पूज्य स्वामीजी को ही है। उनका कार्यकाल दिगम्बर जैनधर्म के प्रचार-प्रसार का स्वर्णयुग रहा है।

पूज्य स्वामीजी के उपकारों को दिगम्बर जैन समाज हजारों वर्षों तक भी नहीं भुला सकेगा। उनकी भवतापनाशक वाणी के प्रताप से हम जैसे लाखों पामर प्राणियों ने दिगम्बर जिनधर्म का वास्तविक स्वरूप समझा है। जन्मजात दिगम्बर जैन होते हुए भी हमें धर्म के सच्चे स्वरूप का भान भी न था। धर्म की आत्मा को पहचाने बिना हम बाह्य क्रिया-काण्ड में ही उलझ रहे थे। पूज्य स्वामीजी के निश्चय-व्यवहार की सन्धि-पूर्वक हुए प्रवचनों ने हमारी आँखें खोल दी हैं। उनके प्रताप से लाखों दिगम्बर जैन भाई-बहनों ने दिगम्बर जिनधर्म का सच्चा स्वरूप पहचाना है तथा हजारों श्वेताम्बर भाइयों ने भी दिगम्बर धर्म स्वीकार किया है।

यद्यपि आज वे हमारे बीच में नहीं हैं, तथापि उनके प्रताप से निर्मित ६१ दिगम्बर जिनमन्दिर एवं लाखों की संख्या में प्रकाशित सत्साहित्य हमें हजारों वर्षों तक सत्य का दर्शन कराता रहेगा।

समयसार ग्रन्थ ने स्वामीजी की जीवनधारा में क्रान्तिकारी मोड़ उत्पन्न किया है। स्थानकवासी साधु अवस्था में वि० सं० १९७८ (सन् १९२१ ई०) की किसी महान मंगलमय घड़ी में समयसार ग्रन्थ को पाकर उनकी अन्तःचेतना में सुषुप्त संस्कार झनझना उठे। दिगम्बर जिनधर्म की समीचीनता स्वीकार करते हुए वि० सं० १९९१ (सन् १९३४ ई०) में महावीर-जयन्ती के दिन सोनगढ़ में उन्होंने मुँहपट्टी त्यागकर दिगम्बर श्रावक के रूप में जीवन बिताना प्रारम्भ कर दिया। तब से ४५ वर्षों तक निरन्तर उनके श्रीमुख से जिनागम का अमृतरस झरता रहा, जिसका पान कर लाखों लोगों के जीवन में आध्यात्मिक क्रान्ति हुई है।

श्री षट्खण्डागम भाग १, समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, नियमसार, अष्टपाहुड़, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, वृहद्द्रव्यसंग्रह, मोक्षमार्ग-

प्रकाशक, तत्त्वार्थसार, आत्मानुशासन, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका, समयसारकलशटीका, नाटकसमयसार, छहढाला आदि अनेक ग्रन्थों पर प्रवचनों के माध्यम से उन्होंने अनेकान्त, वस्तुस्वातन्त्र्य, कर्त्ता-कर्म संबंध, क्रमबद्धपर्याय, निमित्त-उपादान आदि जैनदर्शन के आधारभूत सिद्धान्तों की, आगम एवं युक्तिसंगत व्याख्या करके, जिनशासन की अद्वितीय सेवा की है। उनके प्रवचनों के प्रभाव से जिनागम का प्रत्येक सैद्धान्तिक पहलू तथा जिनागम की प्रतिपादन शैली – स्याद्वाद, निश्चय-व्यवहार तथा प्रमाण-नय-निक्षेप आदि का स्वरूप भी जन-जन में चर्चित हो गया है।

अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों का सांगोपांग विवेचन उनकी वाणी की महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है। उनके द्वारा प्रतिपादित स्वानुभूति का स्वरूप, विषय एवं उसके पुरुषार्थ का विवेचन चिरकाल तक स्वानुभूति की प्रेरणा देता रहेगा।

४३ वर्ष पूर्व जहाँ सम्पूर्ण सौराष्ट्र में दिगम्बर जिनबिम्ब के दर्शन भी दुर्लभ थे; वर्तमान में उनके प्रताप से न केवल सौराष्ट्र में, अपितु सारे भारत में ६१ जिनमंदिरों का निर्माण हुआ है। उनके कर-कमलों द्वारा सम्पन्न ३३ पञ्चकल्याणक एवं ३० वेदीप्रतिष्ठा महोत्सवों के माध्यम से हजारों वीतरागभाववाही दिगम्बर जिनबिम्बों की स्थापना हुई है। उनके प्रभावनाकाल में नैरोबी (अफ्रीका) में हुआ विशाल पञ्चकल्याणक महोत्सव अविस्मरणीय है। सोनगढ़ में निर्मित सीमंधर स्वामी दिगम्बर जिनमन्दिर, समवशरण, मानस्तम्भ, कुन्दकुन्द प्रवचन मंडप, श्री महावीर कुन्दकुन्द परमागम मन्दिर आदि उनके हृदय में विद्यमान जिनेन्द्रभक्ति के अमर स्मारक हैं।

स्वाध्याय के क्षेत्र में पू० स्वामीजी ने अभूतपूर्व क्रान्ति की है। उनके प्रवचनों के प्रभाव से समाज में स्वाध्याय की प्रवृत्ति को यथार्थ दिशा मिली है। नयविवक्षापूर्वक जिनवाणी का भावार्थ हृदयंगम करते हुए स्वाध्याय करने की परम्परा का विकास उन्हीं की देन है।

उनके बालब्रह्मचर्य के तेज एवं वैराग्यरस से ओतप्रोत जीवन, सरलभाषा और प्रवाहमयी व आह्लादपूर्ण प्रवचनशैली से प्रभावित होकर प्रत्येक व्यक्ति उनका हुए बिना नहीं रहता। उनकी वैज्ञानिक एवं तर्कसंगत व्याख्या से स्वाध्याय की प्रेरणा पाकर देश-विदेश में सैकड़ों स्थानों पर मुमुक्षुमंडलों की स्थापना हुई है, जिनमें संचालित नियमित शास्त्रसभाओं में लाखों भाई-बहिन जिनागम का अभ्यास करते हैं।

सत्साहित्य का प्रकाशन स्वामीजी के प्रभावना-योग की महत्त्वपूर्ण देन है। श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर, श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट भावनगर, श्री कुन्दकुन्द कहान परमागम प्रवचन ट्रस्ट बम्बई आदि १५ प्रकाशन संस्थाओं से लगभग ४० लाख की संख्या में विभिन्न प्रकाशन हो चुके हैं, तथा यह क्रम अभी भी निरन्तर जारी है और विशेषता यह है कि इन सभी ग्रन्थों का विक्रय-मूल्य लागत से भी कम रखा जाता है।

तत्त्वप्रचार के सशक्त माध्यम शिक्षण-शिविर प्रणाली का जन्म भी पूज्य स्वामीजी की देन है। सोनगढ़ में ग्रीष्मावकाश में बाल शिक्षण शिविरों तथा श्रावण मास में प्रौढ़ शिक्षण शिविरों का आयोजन प्रारम्भ हुआ। धीरे-धीरे सारे देश में शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर लगने लगे। सोनगढ़ में प्रवचनकार प्रशिक्षण शिविर भी आयोजित किये गये। गत दो दशकों में तो सारे देश में सैकड़ों शिक्षण शिविर आयोजित हुये हैं।

स्वामीजी के प्रवचनों के प्रचार-प्रसार हेतु सोनगढ़ से सन् १९४३ ई० से आत्मधर्म का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया। इससमय यह लगातार ४० वर्ष से प्रकाशित होने वाला व जैनसमाज का सर्वाधिक बिक्रीवाला मासिक पत्र है; जो हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़ और तमिल — इन पाँच भाषाओं में १५ हजार की संख्या में प्रतिमाह प्रकाशित होता है। बालकों में तत्त्वज्ञान और सदाचार के संस्कार डालने हेतु देश में लगभग ३०० वीतराग-विज्ञान पाठशालायें चल रही हैं। विद्यार्थियों की परीक्षा की व्यवस्था के लिए श्री वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षाबोर्ड की स्थापना की गई है, जिसकी परीक्षाओं में प्रतिवर्ष लगभग २०,००० विद्यार्थी सम्मिलित होते हैं।

दिगम्बर तीर्थों के प्रति अत्यन्त भक्ति से प्रेरित होकर पूज्य स्वामीजी ने वि० सं० २०१३ व २०२० में सारे भारत के तीर्थों की ससंघ वंदना की तथा सं० २०१५ में दक्षिण भारत के तीर्थों की वन्दना भी की।

पूज्य स्वामीजी के उपदेशों के प्रभाव से तीर्थक्षेत्रों के जीर्णोद्धार एवं जिनवाणी के शोध व प्रकाशन की महती आवश्यकता पूर्ति हेतु उनके मंगल-आशीर्वाद से श्री कुन्दकुन्द कहान दि० जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट की स्थापना की गयी। इस ट्रस्ट ने अपने उद्देश्यों और गतिविधियों से अल्प-काल में ही दि० जैन समाज में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है।

तीर्थों के जीर्णोद्धार के अलावा समाज में आध्यात्मिकरुचि-सम्पन्न आत्मार्थी विद्वान् तैयार करने हेतु जयपुर में श्री टोडरमल दिगम्बर जैन

सिद्धान्त महाविद्यालय का संचालन इस ट्रस्ट की महत्त्वपूर्ण गतिविधि है। गत दो वर्षों व इस वर्ष में कुल मिलाकर इस विद्यालय के ३१ छात्र शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण करके समाज में तत्त्व-प्रचार सम्बन्धी कार्य करने लगे हैं। इस ट्रस्ट के माध्यम से जिनवाणी की शोध एवं सुरक्षा हेतु मद्रास और बेंगलोर में शोध-संस्थान कार्यरत हैं। ट्रस्ट की ओर से कुछ दिन पूर्व ही श्री टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर में एक 'साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग' भी खोला गया है।

इसप्रकार निरन्तर ४५ वर्षों तक पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा जिनशासन की अद्वितीय प्रभावना होती रही है। यद्यपि आज वे हमारे बीच में नहीं हैं, तथापि उनके द्वारा दिखाया शाश्वत सुख का मार्ग चिरकाल तक हमें भव:दुखों से बचने की प्रेरणा देता रहेगा, क्योंकि उनके प्रताप से निर्मित जिनमन्दिर एवं प्रकाशित सत्साहित्य उनके स्मारक के रूप में विद्यमान हैं।

यद्यपि टेपों में सुरक्षित उनकी वाणी युगों-युगों तक हमें आत्मानुभूति की प्रेरणा देती रहेगी, तथापि टेपों की लम्बे समय तक सुरक्षा करना कठिन है तथा उनका जन-जन तक पहुँचना भी सुलभ नहीं है। अतः स्वामीजी की उपस्थिति में ही इस बात की तीव्र आवश्यकता महसूस की जा रही थी कि उनके सभी प्रवचनों का शृंखलाबद्ध प्रकाशन किया जाए।

टेप-रेकार्ड से सुनकर प्रवचन लिखना तथा उन्हें व्यवस्थितरूप में प्रकाशित करना अत्यधिक श्रम एवं व्यय-साध्य कार्य है। अतः इस कार्य हेतु स्वामीजी की ९०वीं जयन्ती के अवसर पर श्री कुन्दकुन्द कहान परमागम प्रवचन ट्रस्ट की स्थापना की गई। इस ट्रस्ट ने श्री वीतराग सत्साहित्य प्रकाशक ट्रस्ट, भावनगर के सहयोग से अल्प समय में ही प्रवचन-रत्नाकर के नाम से समयसार के १८वीं बार के प्रवचनों को गुजराती में प्रकाशित करना प्रारम्भ कर दिया है। गुजराती प्रवचनरत्नाकर के दो भागों को पूज्य स्वामीजी की उपस्थिति में ही उन्हें समर्पित करने का गौरव प्राप्त करने के उपलक्ष में उक्त ट्रस्ट बधाई के पात्र हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री की ९१वीं जयन्ती के अवसर पर बंबई में परमागम प्रवचन ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित गुजराती प्रवचनों के हिन्दी प्रकाशन पर विचार-विमर्श करते समय पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ने यह दायित्व वहन करना सहर्ष स्वीकार किया। इस अवसर पर उपस्थित मुमुक्षु भाइयों ने हिन्दी प्रवचन प्रकाशन हेतु पाँच लाख रुपये का फण्ड एकत्र करने का संकल्प किया तथा उसीसमय दो लाख रुपये के वचन भी प्राप्त हो गए।

इसी अवसर पर माननीय पं० रतनचन्दजी भारिल्ल ने गुजराती प्रवचनों के हिन्दी अनुवाद का तथा माननीय डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल ने इसके सम्पादन का दायित्व निस्पृहभाव से स्वीकार किया, एतदर्थ हम दोनों विद्वानों के अत्यन्त आभारी हैं।

प्रवचनरत्नाकर भाग १ का प्रकाशन सन् १९८१ में ३००० की संख्या में मुद्रित कराया गया था। उससमय हमने यह अनुमान किया था कि इनका विक्रय दो वर्षों में हो पावेगा, लेकिन यह जानकारी देते हुए हमें हर्ष होता है कि पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों की यह पुस्तक मात्र पाँच माह में ही समाप्त हो गई। अतः भाग १ की द्वितीय आवृत्ति पुनः २२०० की संख्या में मुद्रित कराई गई।

प्रवचनरत्नाकर भाग १ की अत्यधिक माँग देखते हुए प्रवचनरत्नाकर भाग २ की प्रथम आवृत्ति ही ५००० की संख्या में प्रकाशित की गई। इसी शृंखला में भाग ३ की भी प्रथम आवृत्ति ५००० की संख्या में प्रकाशित की जा रही है।

पूज्य स्वामीजी के प्रवचन जन-जन तक कम से कम मूल्य में पहुँचाने की भावना से ट्रस्ट ने निर्णय किया है कि कीमत कम करने हेतु १०,००१) रु० देनेवाले महानुभावों का २००० प्रतियों में फोटो प्रकाशित किया जायेगा तथा १० प्रतियाँ निशुल्क भेंट दी जाएँगी। ५,००१) रु० देनेवाले महानुभावों का १००० प्रतियों में फोटो प्रकाशित किया जाएगा तथा ५ प्रतियाँ निशुल्क भेंट की जाएँगी। २,५०१) रु० देनेवाले महानुभावों का ५०० प्रतियों में फोटो प्रकाशित किया जाएगा तथा २ प्रतियाँ निःशुल्क भेंट की जाएँगी।

इस दूसरे भाग की कीमत कम करने हेतु राशि प्रदान करनेवालों की सूची पुस्तक के अन्त में पृष्ठ ३७१ पर दी गई है। एतदर्थ मैं उन सभी महानुभावों का धन्यवादार्ह हूँ।

हमें खेद है कि तीव्र भावना होते हुए भी हम प्रवचनरत्नाकर के हिन्दी संस्करण पूज्य गुरुदेवश्री की उपस्थिति में उन्हें समर्पित नहीं कर सके। भाग १ का हिन्दी अनुवाद एवं सम्पादन कार्य चल ही रहा था कि पूज्य गुरुदेवश्री महाप्रयाण कर गए। प्रवचनरत्नाकर का प्रथम भाग सन् १९८१ में रक्षाबन्धन के अवसर पर प्रकाशित किया गया था। दूसरा भाग भी एक वर्ष के अन्दर ही तैयार होकर सन् १९८२ में वीतराग-विज्ञान शिक्षण प्रशिक्षण शिविर, इन्दौर के अवसर पर प्रकाशित किया गया था। हमें हर्ष है

कि यह तीसरा भाग भी आपके समक्ष प्रस्तुत है। गुजराती प्रवचनरत्नाकर भाग ३ तक के सभी प्रवचन हिन्दी प्रवचनरत्नाकर के दोनों भागों में संकलित व अनुवादित किए जा चुके हैं। इस तृतीय भाग में गुजराती प्रवचनरत्नाकर का चतुर्थ भाग व पंचम भाग का कुछ अंश संकलित किया गया है। पूज्य गुरुदेवश्री की अनुपस्थिति में यह ग्रंथ प्रकाशित करते हुए मैं यही भावना व्यक्त करता हूँ कि शीघ्र ही उनके सभी प्रवचन प्रकाशित होकर जन-जन के आत्मकल्याण में निमित्त बनें।

प्रथम भाग में समयसार की शुरू की २५ गाथाओं के, द्वितीय भाग में गाथा २६ से गाथा ६८ तक के एवं तृतीय भाग में ६९ से ९१ तक की गाथाओं के प्रवचन संकलित हैं। चतुर्थ भाग के अनुवाद का कार्य भी प्रारम्भ हो गया है। आशा है, चतुर्थ भाग भी शीघ्र ही पाठकों के समक्ष प्रस्तुत होगा। हमारे अन्य प्रकाशनों के सम्बन्ध में पुस्तक के अन्त में पृष्ठ ३७२ पर देखें।

ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण हेतु मैं श्री सोहनलालजी जैन, जयपुर प्रिण्टर्स, जयपुर को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता, जिन्होंने स्वयं रुचि लेते हुए अत्यन्त लगन एवं श्रम से ग्रन्थ को इतना सुन्दर और शुद्धरूप प्रदान किया है।

सभी जीव पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी का मर्म समझकर शुद्धात्मतत्त्व के आश्रयपूर्वक स्वसमयदशा – स्वानुभूतिदशा प्रगट करें व आत्मकल्याण करें – यही भावना व्यक्त करता हूँ।

– नेमीचन्द पाटनी

(१ जुलाई, १९८३) मन्त्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

सम्पादक की ओर से

जिन-अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान दिगम्बर परम्परा में सर्वोपरि है। भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद उन्हें ही स्मरण किया जाता रहा है। दो हजार वर्ष पूर्व लिखे गये आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ दिगम्बर परम्परा के परमागम हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों पर उनके रहस्य को उद्घाटित करनेवाली अद्भुत टीकाएँ आचार्य अमृतचन्द्र ने आज से लगभग एक हजार वर्ष पहले संस्कृत भाषा में लिखी थीं। यद्यपि उनके अनुवाद भी पण्डित श्री जयचन्दजी छाबड़ा जैसे विद्वानों द्वारा लिखे गये थे, तथापि इस युग में उनका प्रचार व प्रसार नगण्य ही था। जनसाधारण की तो बात ही क्या करें, बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान भी उनसे अपरिचित ही थे।

आज जो समयसार जन-जन की वस्तु बना हुआ है, उसका एकमात्र श्रेय पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी को है, उन्होंने इस पर आद्योपान्त १९ बार तो सभा में प्रवचन किए हैं, स्वयं ने तो न मालूम कितनी बार इनका गहराई से अध्ययन किया होगा।

इस सन्दर्भ में पण्डित कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्य वाराणसी का कथन दृष्टव्य है, जो कि इसप्रकार है :-

"आज से पचास पूर्व तक शास्त्र सभा में शास्त्र बाँचने के पूर्व भगवान कुन्दकुन्द का नाममात्र तो लिया जाता था, किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार आदि अध्यात्म ग्रन्थों की चर्चा करने वाले अत्यन्त विरले थे। आज भी दि० जैन विद्वानों में भी समयसार का अध्ययन करने वाले विरले हैं। हमने स्वयं समयसार तब पढ़ा, जब श्री कानजी स्वामी के कारण ही समयसार की चर्चा का विस्तार हुआ। अन्यथा हम भी समयसारी कहकर ब्र० शीतलप्रसादजी की हँसी उड़ाया करते थे। यदि कानजी स्वामी का उदय न हुआ होता तो दिगम्बर जैन समाज में भी कुन्दकुन्द के साहित्य का प्रचार न होता।"[1]

---

[1] जैन सन्देश, ४ नवम्बर १९७६, सम्पादकीय

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी का हम जैसे उन लाखों लोगों पर अनन्त-अनन्त उपकार है, जिन्होंने साक्षात् उनके मुख से समयसार आदि ग्रन्थों पर प्रवचन सुने हैं और समझ में न आने पर अपनी शंकाओं का सहज समाधान प्राप्त किया है।

आज वे हमारे बीच नहीं है, पर उनके वे प्रवचन जो उन्होंने अपने जीवनकाल में अनवरत रूप से किये थे, हमें टेपों के रूप में उपलब्ध हैं। आज वे प्रवचन ही हमारे सर्वस्व हैं।

यद्यपि पूज्य गुरुदेवश्री के हजारों प्रवचन प्रकाशितरूप में भी हमें उपलब्ध थे, और हैं भी; फिर भी यह आवश्यकता गुरुदेवश्री की उपस्थिति में भी निरन्तर अनुभव की जा रही थी कि उनके उपलब्ध समस्त प्रवचन प्रकाशित होने चाहिए। एक तो टेप सबको सहज सुलभ नहीं होते, दूसरे लम्बें काल तक उनकी सुरक्षा संदिग्ध रहती है। हमारी यह निधि पूर्ण सुरक्षित हो जाने के साथ-साथ जन-जन की पहुँच के भीतर हो जानी चाहिए – इस उद्देश्य से सम्पूर्ण प्रवचनों के प्रकाशन की आवश्यकता निरन्तर अनुभव की जा रही थी।

परिणामस्वरूप पूज्य गुरुदेवश्री की उपस्थिति में ही श्री कुन्दकुन्द कहान परमागम प्रवचन ट्रस्ट की स्थापना हुई। उक्त ट्रस्ट ने बड़ी ही तत्परता से अपना काम आरम्भ किया और बहुत ही कम समय में 'प्रवचनरत्नाकर' के नाम से सर्वप्रथम 'समयसार' परमागम पर १८वीं बार हुये प्रवचनों का प्रकाशन आरम्भ किया। चूँकि गुरुदेवश्री के मूलप्रवचन अधिकांश गुजराती भाषा में ही हैं, अतः उनका प्रकाशन भी सर्वप्रथम गुजराती भाषा में ही आरम्भ हुआ। १६ अप्रैल, १९८० ई० को बम्बई (मलाड़) में आयोजित पूज्य गुरुदेवश्री की ९१वीं जन्म-जयन्ती के अवसर पर प्रवचनरत्नाकर का प्रथम भाग गुजराती भाषा में प्रकाशित होकर आ गया था तथा पूज्य गुरुदेवश्री को प्रत्यक्षरूप से समर्पित किया गया था।

उसी अवसर पर इसके हिन्दी प्रकाशन की चर्चा आरम्भ हुई। पर्याप्त ऊहापोह के उपरान्त इसके हिन्दी अनुवाद का कार्य पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल को, सम्पादन का कार्य मुझे एवं प्रकाशन का भार पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर को सौंपा गया।

गुरुदेवश्री के मंगल-आशीर्वाद से ही सुगठित अनेक तत्त्वप्रचार सम्बन्धी गतिविधियों के सक्रिय संचालन में पहले से ही व्यस्त रहने के कारण यद्यपि मैं इस स्थिति में नहीं था कि कोई नया भार लूँ, क्योंकि

इसकारण मेरा स्वयं का अध्ययन, मनन, चिन्तन एवं लेखन अवरुद्ध होता है; तथापि गुरुदेवश्री के प्रवचनों का गहराई से अध्ययन करने के इस सुअवसर का लोभ-संवरण मुझसे नहीं हो सका।

इसके सम्पादन में मैंने आत्मधर्म के सम्पादन से प्राप्त अनुभव का पूरा-पूरा लाभ उठाया है। आत्मधर्म में सात वर्ष से लगातार प्रतिमाह गुरुदेवश्री के प्रवचनों के लगभग २०-२२ पृष्ठ तो जाते ही हैं। उनके सम्पादन से गुरुदेवश्री के प्रतिपाद्य और प्रतिपादन शैली से मेरा घनिष्ठ परिचय हो गया है। तथा प्रवचनरत्नाकर भाग १ के सम्पादनकार्य के अवसर पर सम्पादन सम्बन्धी बहुत-कुछ ऊहापोह हो जाने के कारण इसके सम्पादन में यद्यपि मुझे अधिक श्रम नहीं उठाना पड़ा है; तथापि इन तीनों भागों के सम्पादन में मुझे अभूतपूर्व वचनातीत लाभ मिला है। गुरुदेवश्री के हृदय को अन्तर से जानने का अवसर मिला है। जो लाभ उनकी वाणी को पढ़ने और सुनने से भी सम्भव न हुआ था, वह लाभ इनके सम्पादन से प्राप्त हुआ है। इसका कारण यह है कि उपयोग की स्थिरता जितनी इनके सम्पादन के काल में रहती है, उतनी सहज पढ़ने या सुनने में नहीं रहती; क्योंकि जितनी गहराई में जाकर पूज्य गुरुदेवश्री ने आचार्य कुन्दकुन्द व आचार्य अमृतचन्द्र के मर्म को खोला है, उतनी गहराई में उपयोग के न पहुँच पाने से वह मर्म सहज पकड़ में नहीं आता है। अपने इस अनुभव के आधार पर तत्त्वप्रेमी पाठकों से पुनः अनुरोध करना चाहूँगा कि वे यदि इस रत्नाकर के रत्न पाना चाहते हैं तो उपयोग को सूक्ष्म कर, स्थिर कर – इसका स्वाध्याय करें, अन्यथा उनके हाथ कुछ न लगेगा।

इसके सम्पादन में गुजराती में प्रकाशित 'प्रवचनरत्नाकर' के मूल माल को अक्षुण्ण रखते हुए कुछ आवश्यक परिवर्तन एवं परिवर्द्धन भी किए गए हैं। उनका उल्लेख करना इसलिए आवश्यक है कि जिससे गुजराती से मिलान करके अध्ययन करनेवाले पाठकों को कोई असुविधा न हो।

सर्वप्रथम उल्लेखनीय बात यह है कि गुजराती में जीवाजीवाधिकार को तीन भागों में बाँटा गया है, जबकि हिन्दी प्रवचनरत्नाकर में दो भागों में ही विभाजित किया गया है। आगे भी भागों का विभाजन गुजराती भागों को आधार न बनकर स्वतंत्ररूप से किया गया है। इस विभाजन में विषयवस्तु को तो ध्यान में रखा ही गया है; साथ में यह भी उचित लगा कि इतने विशाल ग्रन्थ का, जो कि अनेक भागों में प्रकाशित किया जाना है, प्रत्येक भाग चार सौ पृष्ठों के आस-पास तो होना ही चाहिए।

छोटे-छोटे वाल्यूम (भाग) बनाने में विषयवस्तु तो बार-बार टूटती ही है, साथ में जिल्द का अनावश्यक खर्च भी बढ़ता है।

प्रवचन की भाषा में अनावश्यक टेढ़ें भी बहुत होती हैं और पुनरुक्ति भी बहुत पाई जाती हैं, तथा सामान्य लोगों को भी सरलता से समझ में आ जाय – इस दृष्टि से जहाँ तक सम्भव हुआ, वाक्यों का गठन सीधा व सरल कर दिया गया है; पर इस प्रक्रिया में गुरुदेवश्री के प्रवचन की टोन (शैली) समाप्त न हो जावे – इस बात का भी पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। पुनरुक्ति भी कम की गई है; पर बहुत कम। जहाँ बहुत अधिक पिष्ट-पेषण था, वहाँ ही कुछ कम किया गया है।

हिन्दी प्रकाशन में मूलग्रंथ संस्कृत व हिन्दी टीकासहित दिया गया है, जबकि गुजराती में संस्कृत टीका नहीं दी गई है। साथ में हिन्दी पद्यानुवाद भी दिया गया है। और भी छोटी-छोटी बहुत-सी बातें हैं, जिनका उल्लेख सम्भव नहीं है। वे सब अध्ययन करने पर पैनी-दृष्टिवाले पाठकों को सहज समझ में आ जावेंगी।

मैंने इस अनुवाद को मूल से मिलान करके बहुत गहराई से देखा है। इसके मर्म की गहराई को पाने के लिए भी और इसके प्रामाणिक प्रकाशन के लिए भी। फिर भी छद्मस्थों से त्रुटियाँ रह जाना असम्भव नहीं है, अतः सुधी पाठकों से सावधानीपूर्वक अध्ययन करने का अनुरोध है।

प्रकाशन सम्बन्धी छोटी-मोटी त्रुटियों की उपेक्षा की अपेक्षा के साथ-साथ सविनय यह अनुरोध है कि यदि कोई भावसम्बन्धी भूल दिखाई दे तो मुझे सुझाने की अनुकम्पा अवश्य करें, जिससे आगामी संस्करणों में आवश्यक सुधार किया जा सके।

–(डॉ०) हुकमचन्द भारिल्ल

अनुवादक की ओर से

जब परमपूज्य आचार्यों के आध्यात्मिक ग्रन्थों पर हुए पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के गूढ़, गम्भीर, गहनतम, सूक्ष्म और तलस्पर्शी प्रवचनों का गुजराती से हिन्दी भाषा में अनुवाद करने के लिए मुझसे कहा गया तो मैं असमंजस में पड़ गया। मैंने यह सोचा ही नहीं था कि यह प्रस्ताव मेरे पास भी आ सकता है।

अब एक ओर तो मेरे सामने यह मंगलकारी, भवतापहारी, कल्याणकारी, आत्मविशुद्धि में निमित्तभूत कार्य करने का स्वर्ण अवसर था, जो छोड़ा भी नहीं जा रहा था; तो दूसरी ओर इस महान कार्य को आद्योपान्त निर्वाह करने की बड़ी भारी जिम्मेदारी। मेरी दृष्टि में यह केवल भाषा परिवर्तन का सवाल ही नहीं है, बल्कि आगम के अभिप्राय को सुरक्षित रखते हुए, गुरुदेवश्री की सूक्ष्म कथनी के भावों का अनुगमन करते हुए, प्रांजल हिन्दी भाषा में उसकी सहज व सरल अभिव्यक्ति होना मैं आवश्यक मानता हूँ; अन्यथा थोड़ी सी चूक में ही अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है।

इन सब बातों पर गम्भीरता से विचार करके तथा दूरगामी आत्मलाभ के सुफल का विचार कर, प्रारंभिक परिश्रम और कठिनाइयों की परवाह न करके 'गुरुदेवश्री के मंगल आशीर्वाद से सब अच्छा ही होगा' — यह सोचकर मैंने इस काम को अन्ततोगत्वा अपने हाथ में ले ही लिया। इस कार्यभार को संभालने में एक संबल यह भी था कि इस हिन्दी प्रवचन-रत्नाकर ग्रन्थमाला के प्रकाशन का कार्य पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर ने ही संभाला था और सम्पादन का कार्य डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल को सौंपा जा रहा था।

यद्यपि गुजराती भाषा पर मेरा कोई विशेष अधिकार नहीं है, तथापि पूज्य गुरुदेवश्री के प्रसाद से उनके गुजराती प्रवचन सुनते-सुनते एवं उन्हीं के प्रवचनों से सम्बन्धित सत्साहित्य पढ़ते-पढ़ते उनकी शैली और भावों से सुपरिचित हो जाने से मुझे इस अनुवाद में कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई। जहाँ कहीं गुजराती भाषा का भाव समझ में नहीं आया, वहाँ अपने अनुज डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल से परामर्श करके गुजराती भाषा के भाव को स्पष्ट करता रहा हूँ।

मैं अनुवाद करते समय इसलिए भी निश्चिन्त रहा कि सम्पादन का कार्य एक ऐसी प्रतिभा को सौंपा गया है, जिसके द्वारा सारा विषय हर दृष्टि से छन-छन कर ही पाठकों तक पहुँचता है।

इस अनुवाद से मुझे जो आशातीत लाभ मिला है, उसे मैं व्यक्त नहीं कर सकता। पूज्य गुरुदेवश्री के अभिप्राय को तथा समयसार के गम्भीर रहस्यों को 'जो गुरुदेवश्री ने खोले हैं' – उन्हें गहराई से समझने का अवसर मिला। गुरुदेवश्री के माध्यम से भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य और अमृतचन्द्राचार्यदेव के सूक्ष्म भावों तक पहुँचने में सहायता मिली। इस काम में अत्यधिक आत्म-सन्तोष मिला, आनन्द भी आया; अतः यह कार्य भारभूत न होकर स्वान्तःसुखाय बन गया। आत्मशान्ति व सन्तोष ही गुरुदेवश्री का परमप्रसाद है और यही जिनवाणी की सेवा का सुफल है।

अनुवाद में गुरुदेवश्री के अभिप्राय को अक्षुण्ण रखा गया है। प्रवचनों का अनुवाद मुख्यतः शाब्दिक है, किन्तु हिन्दी वाक्यविन्यास की दृष्टि से वाक्यों का गठन हिन्दी भाषा के अनुरूप करने का प्रयत्न रहा है तथा अति आवश्यक यत्किञ्चित् परिवर्तन भी हुए हैं, किन्तु उनसे विषय-वस्तु और भावों में कहीं कोई अन्तर नहीं आया है। जब पाठक धाराप्रवाहरूप से इसका अध्ययन करेंगे तो भाषा की दृष्टि से भी उन्हें साहित्यिक गद्य का आनन्द आयेगा और विषयवस्तु को समझने में सुगमता भी रहेगी।

यद्यपि इसके अनुवाद में मैंने पूर्ण सतर्कता एवं सावधानी से काम किया है, फिर भी '**को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे**' अर्थात् शास्त्रसमुद्र में कौन विमोहित नहीं होता – इस लोकोक्ति के अनुसार कहीं स्खलना हुई हो तो मेरा ध्यान आकर्षित करने का सानुरोध आग्रह है।

सभी पाठकगण इस ग्रन्थ का पुनः पुनः पारायण करके पूरा-पूरा लाभ उठायेंगे – ऐसी आशा एवं अपेक्षा के साथ विराम लेता हूँ।

– रतनचन्द भारिल्ल

प्रवचन-रत्नाकर

[भाग ३]

कर्त्ता-कर्म अधिकार

अथ जीवाजीवावेव कर्तृकर्मवेषेण प्रविशतः

(दोहा)

कर्त्ता-कर्म विभाव कूँ, मेटि ज्ञानमय होय।
कर्म नाशि शिव में बसे, तिन्हें नमूँ मद खोय ॥

प्रथम टीकाकार कहते हैं कि 'अब जीव-अजीव ही एक कर्त्ता-कर्म के वेष में प्रवेश करते है।' जैसे दो पुरुष परस्पर एक स्वाँग करके नृत्य के अखाड़े में प्रवेश करते हैं; उसीप्रकार जीव-अजीव दोनों एक कर्त्ता-कर्म का स्वाँग करके प्रवेश करते हैं। इसप्रकार यहाँ टीकाकार ने अलङ्कार किया है।

हिन्दी मंगलाचरण पर प्रवचन

यह समयसार शास्त्र का कर्त्ता-कर्म अधिकार है। यह अद्भुत समयसार शास्त्र तो मानो भरतक्षेत्र का भगवान ही है। अहाहा! श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने देवाधिदेव अरहन्तदेव की साक्षात् दिव्यध्वनि का सार लेकर इस ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ की जैसी अलौकिक गाथायें हैं, उसकी आत्मख्याति टीका भी वैसी ही अलौकिक है।

पहले जीवाजीवाधिकार में आचार्यदेव ने जीव व अजीव द्रव्य की भिन्नता की बात की है। अब इस दूसरे कर्त्ता-कर्म अधिकार में, जीव व अजीव द्रव्यों की पर्यायों में जो कर्त्ता-कर्म सम्बन्धी भूल होती है – उसका दिग्दर्शन कराते हैं। भाई! पर्याय में जो भूल है, वही संसार है और उस भूल के मिटने पर – भूल का अभाव होने पर मोक्ष प्राप्त होता है।

यहाँ सर्वप्रथम पण्डित जयचन्दजी मंगलाचरण करते हैं :—

"कर्त्ता-कर्म विभाव कूँ, मेटि ज्ञानमय होय।
कर्म नाशि शिव में बसे, तिन्हें नमूँ मद खोय ॥"

कर्त्ता अर्थात् कार्यरूप से परिणमित होनेवाला। जो स्वतन्त्ररूप से परिणमन करे, उसे कर्त्ता कहते हैं; और जो कर्त्ता को इष्ट होता है, वह कर्त्ता का कर्म है। ज्ञानी को ज्ञान इष्ट है तथा अज्ञानी को राग-द्वेष इष्ट हैं। विभाव अर्थात् स्वभाव-विरुद्ध भाव – अज्ञान भाव। 'मैं कर्त्ता और पर्याय में होनेवाले राग-द्वेषादि विकार अथवा उससमय बँधनेवाले ज्ञानावरणादि कर्म मेरे कर्म हैं' – ऐसी मान्यता ही अज्ञान है। इस अज्ञान को दूर करके जो ज्ञानभाव से परिणमन करता है, वह राग-द्वेष का कर्त्ता मिटकर ज्ञाता हो जाता है।

प्रश्न :— पर्याय में होनेवाले रागादि के कारण पुद्गल-परमाणु ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन करते हैं न ?

उत्तर :— नहीं, भाई! ऐसा नहीं है। कर्मयोग्य परमाणुओं की कर्मभाव से परिणमन करने की स्वतन्त्र योग्यता है और उसका अपना जन्मक्षण होता है। इसीकारण वे परमाणु जब ज्ञानावरणादि कर्मभाव से स्वतः परिणमित होते हैं, तब उनके परिणमन में उससमय होनेवाले रागादिभाव निमित्त होते हैं। अतः 'राग से कर्म बँधते हैं' – यह निमित्त का कथन है। इसप्रकार जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा ही समझना चाहिए।

आत्मा त्रिकाल एकरूप चैतन्यस्वभावमय भगवान है। ज्ञानानन्द-स्वरूपी सर्वज्ञस्वभावी भगवान आत्मा रागादि-विकार तथा ज्ञानावरणादि जड़ कर्मों का कर्त्ता नहीं है। उसे रागादि विकार व जड़ कर्मों का कर्त्ता मानना अज्ञान है, मिथ्या है, असत्य है। मात्र जानना ही जिसका स्वभाव है; वह आत्मा रागादि को जानता ही है, रागादि को करता नहीं। अतः रागादि का ज्ञाता कहना – यहाँ तक तो ठीक, परन्तु उसे रागादि का कर्त्ता मानना तो महाविपरीतता है, अज्ञान है। भाई! दया-दान आदि का मैं कर्त्ता और दया-दान आदि भाव मेरे कर्म तथा उससमय बंधनेवाले पुण्य-कर्म भी मेरे कर्म हैं – ऐसी मान्यता अज्ञान है।

इस कर्त्ता-कर्म विभाव को – अज्ञान को मेटकर जो ज्ञाताभाव से – एक ज्ञायक के लक्ष्य से स्वरूप में परिणमन करता है, वह कर्म का नाश करके मोक्षमहल में वास करता है अर्थात् कल्याणकारी सिद्धपद को प्राप्त हो जाता है।

यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि एक ओर तो आचार्यदेव ऐसा कहते हैं कि "आत्मा भावकर्मों का नाश नहीं करता। 'नाश करता है' – यह तो कथन मात्र है तथा जड़-द्रव्यकर्मों के नाश का कर्त्ता तो आत्मा है ही नहीं; क्योंकि द्रव्यकर्म का अकर्मरूप परिणमन होना तो जड़-परमाणुओं का कार्य है, उसे आत्मा कैसे कर सकता है? अर्थात् आत्मा उनका कर्त्ता नहीं है।" और दूसरी ओर यहाँ यह कहा है कि – 'कर्म नाशि शिव में बसे' – सो इन परस्पर विरोधी कथनों का क्या अभिप्राय है?

भाई! आत्मा परमार्थ से भावकर्म व द्रव्यकर्म का नाश नहीं करता, परन्तु जब आत्मा स्वयं शुद्ध एक चिद्रूप ज्ञायक के लक्ष्य से परिणमन करता है, उसी में स्थित होता है; तब स्वयं वीतरागदशा को प्राप्त होता है और रागादि उत्पन्न ही नहीं होते और द्रव्यकर्म भी अकर्मरूप परिणमित हो जाते हैं। इसकारण व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि भगवान ने द्रव्यकर्म व भावकर्म का नाश किया है। यह वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है। भाई! उसको समझने के लिए यथार्थ दृष्टि अवश्य होना चाहिए।

इसप्रकार पण्डित जयचन्दजी ने निरभिमानता अर्थात् अत्यन्त विनयपूर्वक पवित्रभावों से भक्ति सहित शिव पद को प्राप्त परमपवित्र परमात्मा को नमस्कार करके मंगलाचरण किया है।

कर्त्ता-कर्म अधिकार की उत्थानिका पर प्रवचन

कर्त्ता-कर्म अधिकार के प्रारम्भ में टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्रदेव सर्वप्रथम कहते है कि जीव-अजीव ही कर्त्ता-कर्म के भेष में प्रवेश करते हैं। जैसे – दो पुरुष स्वाँग (भेष) धारण करके रंगमंच में प्रवेश करते हैं, उसीप्रकार जीव-अजीव-दोनों एक कर्त्ता-कर्म का स्वाँग धारण करके प्रवेश करते हैं।

इसप्रकार टीकाकार ने यहाँ अलंकारिक भाषा में वर्णन किया है। यह समयसार एक रूपक (नाटक) है न? जीव-अजीव हैं तो दोनों भिन्न-भिन्न, परन्तु मानों एक होकर, कर्त्ता-कर्म का स्वाँग बनाकर प्रवेश करते हैं।

कर्त्ता-कर्म का स्वाँग अर्थात् 'मैं आत्मा कर्त्ता और ये रागादिभाव मेरे कर्म' – ऐसा स्वाँग रचकर जीव-अजीव ही प्रवेश करते हैं; किन्तु यह स्वाँग झूठा है, क्योंकि आत्मा चैतन्य प्रकाश का पुञ्ज, मात्र ज्ञान का रसकन्द प्रभु है। वह दया-दान आदि विकारी परिणाम को कैसे करेगा? यद्यपि यह ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा तो बन्ध, उदय, निर्जरा और मोक्ष – सबको मात्र जानता ही है, इनका कर्त्ता नहीं है (देखो, समयसार गाथा ३२०); तथापि अज्ञानी को ऐसा प्रतिभासित होता है कि मैं कर्त्ता और रागादि

विकार मेरे कर्म हैं। अहाहा ! अरे, मैं अखण्ड एक ज्ञायकस्वभावी आत्मा हूँ – ऐसा जो विकल्प उठता है, उसका कर्त्ता भी ज्ञानी नहीं हैं। शुभ व अशुभ – दोनों ही भावों का कर्त्ता अज्ञानी होता है, ज्ञानी नहीं।

उस स्वाँग को ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) यथार्थ जान लेता है; अतः इस अधिकार में सबसे पहले ज्ञान की महिमा सूचक काव्य कहते हैं। उस स्वाँग को ज्ञान यथार्थ जान लेता है अर्थात् जिससमय पर्याय में राग है, उसीसमय ज्ञान की पर्याय स्वयं को स्वपने तथा राग को परपने जान लेती है।

अहाहा ! राग का कर्त्ता तो जीव है ही नहीं, किन्तु राग-सम्बन्धी ज्ञान भी राग के कारण नहीं होता। 'राग का ज्ञान' – ऐसा कहना भी कथनमात्र है, ज्ञान तो ज्ञान ही है; और वह ज्ञान ही आत्मा का कर्म है, राग आत्मा का कर्म नहीं है।

अब उस स्वाँग को यथार्थ जाननेवाले ज्ञान की महिमासूचक कलश-रूप काव्य कहते हैं :–

(मन्दाक्रान्ता)

एकः कर्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी
इत्यज्ञानां शमयदभितः कर्तृकर्मप्रवृत्तिम्।
ज्ञानज्योतिः स्फुरति परमोदात्तमत्यंतधीरं
साक्षात्कुर्वन्निरुपधिपृथग्द्रव्यनिर्भासि विश्वम् ॥४६॥

श्लोकार्थ :– [इह] 'इस लोक में [अहम् चिद्] मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा तो [एकः कर्त्ता] एक कर्त्ता हूँ और [अमी कोपादयः] यह क्रोधादि भाव [मे कर्म] मेरे कर्म हैं' [इति अज्ञानां कर्तृकर्मप्रवृत्तिम्] ऐसी अज्ञानियों के जो कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति है, उसे [अभितः शमयत्] सब ओर से शमन करती हुई (मिटाती हुई) [ज्ञानज्योतिः] ज्ञानज्योति [स्फुरति] स्फुरायमान होती है। वह ज्ञान-ज्योति [परम-उदात्तम्] परम उदात्त है अर्थात् किसी के आधीन नहीं है, [अत्यन्त धीरं] अत्यन्त धीर है अर्थात् किसी भी प्रकार से आकुलतारूप नहीं हैं और [निरुपधि-पृथग्द्रव्य-निर्भासि] पर की सहायता के बिना भिन्न-भिन्न द्रव्यों को प्रकाशित करने का उसका स्वभाव है; इसलिये [विश्वम् साक्षात् कुर्वन्] वह समस्त लोकालोक को साक्षात् करती है – प्रत्यक्ष जानती है।

भावार्थ :– ऐसा ज्ञानस्वरूप आत्मा है, वह परद्रव्य तथा परभावों के कर्तृत्वरूप अज्ञान को दूर करके, स्वयं प्रगट प्रकाशमान होता है।

कलश ४६ पर प्रवचन

यह कर्त्ता-कर्म अधिकार का पहला कलश है। इसमें कहते हैं कि – 'इस लोक में मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा तो एक कर्त्ता हूँ और ये क्रोधादिभाव मेरे कर्म हैं' – ऐसी अज्ञानियों की कर्त्ता-कर्म सम्बन्धी प्रवृत्ति है अर्थात् कर्त्ता-कर्म के सम्बन्ध में भूल है। अज्ञानी जीव ऐसा मानते हैं कि मैं कर्त्ता और क्रोधादिभाव मेरे कर्म (कार्य) हैं।

क्रोधादि में यहाँ सर्वप्रथम क्रोध को कहने का कारण यह है कि मुनिराज ने क्रोध के अभावपूर्वक उत्तम क्षमा को धारण किया है। अहाहा ! मुनिराज तो चैतन्यस्वभावमय भगवान-आत्मा की रुचि व रमणता के स्वामी हैं। भाई ! आत्मा शुद्ध चिदानन्दमय अखण्ड एकरूप वस्तु है – उसका जिसे प्रेम नहीं है, रुचि नहीं है; उसे अपने आत्मा के प्रति अनन्त क्रोध है – यही अनन्तानुबन्धी क्रोध है। इसीप्रकार पुण्य-पाप आदि पर-पदार्थों में अहंबुद्धि ही अनन्तानुबन्धी मान है। पुण्य-पाप आदि पर-पदार्थों के प्रेम की आड़ में चैतन्यस्वभावमय निज आत्मा की अस्वीकृति ही अनन्तानुबन्धी माया है। तथा स्वभाव को भूलकर पुण्य-पाप आदि पर-पदार्थों की अभिलाषा ही अनन्तानुबन्धी लोभ है।

यहाँ कहते हैं कि इस लोक में अनादि से अज्ञानियों को अज्ञानमय कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति है। इस अज्ञानमय कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति को मेटती हुई ज्ञानज्योति प्रगट होती है। जिस भाव से सर्वार्थसिद्धि का भव मिले अथवा जिस भाव से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो, वह भाव भी मेरे आत्मा का कार्य नहीं है। भाई ! स्वभाव की दृष्टि में सर्व शुभाशुभ विकल्पों का स्वामित्व सहज ही छूट जाता है। अहाहा ! इन्द्र-अहमिन्द्रादि पद या चक्रवर्ती आदि पद सब धूल हैं, परमाणु के कार्य हैं, आत्मा के कार्य नहीं हैं। इसप्रकार सब ओर से कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति को मेटती हुई ज्ञानज्योति प्रगट होती है।

वह ज्ञानज्योति परम-उदात्त है अर्थात् पूर्ण स्वाधीन है, किसी अन्य के आधीन नहीं है। अहाहा ! मेरा सहज ज्ञान और आनन्द की लक्ष्मीवाला अपरिमित ज्ञानानन्दस्वभाव परम-उदात्त है, पूर्ण स्वाधीन है। इसप्रकार ज्ञानी अपने ज्ञान में जानता हुआ कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति को मिटा देता है। जिसे अपने ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा का भान नहीं है – ऐसा अज्ञानी जीव कर्म के आधीन होकर, विकारी भावों को अपना मानकर, राग – विकार का कर्त्ता होता है।

आत्मा का स्वभाव तो स्वाधीनपने विकार का नाशक है, परन्तु अज्ञानी को ऐसा भान नहीं है। यहाँ कहते हैं कि परम-उदात्त ज्ञानानन्दस्वभावमय आत्मवस्तु का लक्ष्य करके, उसके सन्मुख होकर तथा उसी में ढलकर जो स्वाधीन ज्ञान-परिणति प्रगट होती है, वह भी परम-उदात्त है, स्वाधीन है, पराधीन नहीं है उसे भी पर या राग की अपेक्षा नहीं है।

यह करने.....करने.....करने का भाव राग है और राग मेरा है — यह मान्यता मिथ्यादर्शन है। इस मिथ्यादर्शन से युक्त कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति को ज्ञानज्योति नष्ट करती है। वह ज्ञानज्योति त्रिकाली ज्ञानानन्दस्वरूपी स्वरूपलक्ष्मीयुक्त आत्मस्वभाव ही है और वह परम-उदात्त है। ऐसे द्रव्य-स्वभाव में अभेद होकर अर्थात् उसी में झुकने से — एकाग्र होने से जो निर्मल ज्ञान-परिणति प्रगट होती है, वह ऐसा जानती है कि 'मैं परम-उदात्त हूँ, पूर्णानन्द का नाथ हूँ, परमोत्कृष्ट पदार्थ हूँ।' अहाहा ! ज्ञानी अपनी वर्त्तमान अल्पज्ञ दशा में ऐसा जानता है, मानता है और अनुसरण करता है कि 'मैं सर्वज्ञस्वभावी परिपूर्ण आत्मद्रव्य हूँ।'

अरे, रे ! जगत के जीवों को ऐसी बात सुनने मिलती ही नहीं है, इसलिए बेचारे क्या करें ? व्यवहार की प्रवृत्ति और क्रियाकाण्ड के कर्त्तृत्व के फन्द में फँस जाते हैं। दया करो, दान करो, तप करो — इत्यादि करो.......करो के कर्त्तृत्व भाव के फन्द में फँस जाते हैं। बापू ! 'करना' तो वस्तु (आत्मा) के स्वरूप में ही नहीं है, क्योंकि वस्तु (आत्मा) तो सर्वज्ञ-स्वभावी है। अहाहा ! जिस आत्मा के सर्वप्रदेशों में बेहद ज्ञानस्वभाव पड़ा है तथा जो आनन्द, श्रद्धा एवं कर्त्ता, कर्म, करण इत्यादि अनन्त अपरिमित शक्तियों का भण्डार है, उस परमानन्द के नाथ प्रभु आत्मा के अन्तर्मुख होने से जो ज्ञानज्योति प्रगट हुई, उससे जाना कि 'मैं परम-उदात्त हूँ, उदार हूँ, स्वाधीन हूँ, किसी के आधीन नहीं हूँ।' अहाहा ! वस्तु (आत्मा) स्वाधीन है एवं उसको जाननेवाली — ग्रहण करनेवाली ज्ञानज्योति भी पर की अपेक्षा से रहित — पर से निरपेक्ष पूर्ण स्वाधीन है।

ऐसे वस्तुस्वरूप को भूलकर जब तक जीव रागादि-क्रियाओं का कर्त्ता बनता है, तब तक अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है। अज्ञानभाव से वह विकार का — दोष का कर्त्ता है। विकार का कर्त्ता कोई जड़ कर्म नहीं है, किन्तु वस्तु-स्वरूप को न जाननेवाला अज्ञानी जीव ही विकार का कर्त्ता है।

इन सभी अज्ञानमय कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्तियों को सब ओर से शमन करती हुई जो ज्ञानज्योति प्रगट हुई है, वह परम-उदात्त है, पूर्ण स्वाधीन

है। वह ज्ञानज्योति अत्यन्त धीर है, अर्थात् किसी भी प्रकार से आकुलतारूप नहीं है। अज्ञानी जीव पर के कार्य करने और पर के परिणमन को बदलने के विकल्पों में बहुत आकुल-व्याकुल रहते हैं। कुटुम्ब के, समाज के तथा देश के कार्यों को करने के विकल्पों में आकुल-व्याकुल हुआ करते हैं; किन्तु भाई! एक रजकण भी बदलने की तेरी सामर्थ्य नहीं। तेरा तो 'ज्ञ' स्वभाव है और उसके आश्रय से उत्पन्न हुई ज्ञानज्योति धीर है, अनाकुल-स्वरूप है, अत्यन्त आनन्दस्वरूप है। चैतन्यमय ज्ञानज्योति के साथ अतीन्द्रिय आनन्द भी सम्मिलित है।

अहाहा! यह ज्ञानज्योति अत्यन्त धीर है। चाहे जैसे प्रतिकूल संयोग हों, तथापि इसमें कोई उलझन नहीं है, आकुलता नहीं है। ज्ञानज्योति प्रगट होने पर धर्मी जीव ऐसा जानते हैं कि मैं पर का कुछ भी (भला-बुरा, फेर-बदल, परिणमन) नहीं कर सकता तथा पर-जीव या पर-पदार्थ मेरा कुछ भी भला-बुरा नहीं कर सकते। प्रत्येक परिणमन को मात्र जानने का मेरा स्वभाव है – पर में परिवर्तन करने-कराने का मेरा स्वभाव ही नहीं है। ऐसी ज्ञानज्योति प्रगट होने पर अज्ञानभाव से जो कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति होती थी, वह सहज ही दूर हो जाती है और निराकुल आनन्द प्राप्त होता है।

प्रश्न :– शास्त्रों में कथन आता है कि ज्ञानी को जितना रागरूप परिणमन होता है, उतने परिणमन का मैं कर्त्ता हूँ – ऐसा ज्ञानी जानते हैं; उस कथन का क्या अभिप्राय है?

उत्तर :– भाई! यह ज्ञानप्रधान कथन है। सम्यग्ज्ञान होने पर ज्ञानी (धर्मी) जीव ऐसा जानते हैं कि मेरी पर्याय में जितना राग का परिणमन है, वह मेरे अपने (पर्यायरूप) अस्तित्व में है। वह मेरे कारण से है, उसका पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है परन्तु दृष्टि के विषय की अपेक्षा से राग का कर्तृत्व त्रिकाली ज्ञानस्वरूप आत्मद्रव्य में नहीं है। ऐसे त्रिकाली शुद्ध आत्मद्रव्य को जाननेवाली ज्ञान की पर्याय रागांश को भी जानती है, तथा वह अपना ही कार्य है अर्थात् आत्मद्रव्य का ही विभावरूप परिणमन है और स्वयं ही उसका कर्त्ता है – ऐसा भी व्यवहार से जानती है।

भाई! निश्चय से विकार का कर्त्ता-कर्मपना ज्ञानी के नहीं, तथापि पर्याय अपेक्षा से – व्यवहार से वह वर्त्तमान विकार का कर्त्ता-भोक्ता है। जहाँ जिस अपेक्षा से कथन हो, उस अपेक्षा को लक्ष्य में लेकर उसके भाव को बराबर समझना चाहिये।

पर्याय में जो विकार हुआ, वह अपना ही अपराध है; तथापि वह करने लायक है—ऐसी बुद्धि ज्ञानी के नहीं है। पर्याय में विकाररूप परिणमन है, अतः व्यवहार से कर्त्ता कहा जाता है; किन्तु स्वभावदृष्टि से इसका स्वामित्व ज्ञानी के नहीं है। इस अपेक्षा से ज्ञानी राग का अकर्त्ता है।

आत्मा में विकार को न करनेरूप अकर्त्ता नाम का गुण है। आत्मा में दया, दान, व्रत, भक्ति आदि को नहीं करने की अकर्तृत्व नाम की शक्ति है। ज्ञानी जब अपने ज्ञान में ज्ञायकभाव को पकड़ लेता है, तभी उसकी शुभाशुभ विकारीभावों में कर्त्ता-कर्मपने की बुद्धि छूट जाती है, एवं कर्त्ता-कर्म भाव का अज्ञान मिट जाता है—यही अकर्तृत्व शक्ति का निर्मल परिणमन है। इसप्रकार ज्ञायक के लक्ष्य से उत्पन्न हुई ज्ञानज्योति अज्ञानरूप कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति को सब ओर से शमन करती है। भाई! जैनधर्म की यह सूक्ष्म बात दिगम्बर धर्म के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं है और मात्र यही सत्य है। लोग जो बाहर से नानाप्रकार की कल्पनायें करते हैं, वह जैनधर्म है ही नहीं। यहाँ कहते हैं कि जब जीव ज्ञानस्वभावी शुद्ध आत्मा को ग्रहण करता है, तब वह ज्ञानी होता हुआ ऐसा जानता है कि मैं अत्यन्त धीर हूँ, अनाकुल हूँ, आनन्दरूप हूँ—यह जैनधर्म है।

वह ज्ञानज्योति पर की सहायता के बिना पृथक्-पृथक् द्रव्यों को प्रकाशित करने के स्वभाववाली है, अतः समस्त लोकालोक को प्रत्यक्ष जानती है। ज्ञातास्वभाव के आश्रय से जो ज्ञानपर्याय प्रगट होती है, उसका स्वभाव पृथक्-पृथक् द्रव्यों को सम्पूर्णरूप से प्रकाशित करने का है। ज्ञान का स्वभाव सविकल्प है अर्थात् जगत में जितने भी अनन्त द्रव्य-गुण-पर्याय हैं; उन सबको भिन्न-भिन्नरूप से जैसे हैं, वैसे ही जानने का ज्ञान का स्वभाव है। केवलज्ञान की पर्याय हो या श्रुतज्ञान की—दोनों ही पर्यायों का स्वभाव अपनी-अपनी सीमा में पर की सहायता के बिना ही पृथक्-पृथक् द्रव्यों के द्रव्य-गुण-पर्यायों को प्रकाशित करने का है। यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि अपरिमित स्वभाव से भरी हुई शुद्धचैतन्यप्रकाशमय वस्तु आत्मा की ओर ढलने पर ज्ञान में ऐसी सामर्थ्य प्रगट हो जाती है कि वह स्वद्रव्य को जानने के साथ ही समस्त लोकालोक को भी जानने लगता है। ज्ञान की पर्याय का ऐसा स्व-पर प्रकाशक स्वभाव स्वयं से है। अहो! ज्ञानस्वभावी आत्मा का ऐसा स्वभाव है कि यह पर में कुछ करता नहीं है और जानता सबको है।

कलश ४६ के भावार्थ पर प्रवचन

ज्ञानस्वरूपी आत्मा परद्रव्य तथा परभावों के कर्त्तापनेरूप अज्ञान को दूर करके, स्वयं प्रगट प्रकाशमान होता है।

देखो! शरीर-मन-वाणी, कुटुम्ब, देश इत्यादि का मैं कुछ कर सकता हूँ – यह कर्त्ताबुद्धि का अज्ञान है। मैं देह को इस अच्छे काम में लगा दूँ, लक्ष्मी का सदुपयोग करूँ, देश को सुधारूँ, धनादि द्वारा खूब पुण्य-उपार्जन करूँ – इत्यादि प्रवृत्ति ही कर्त्ताबुद्धि का अज्ञान है। ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा ऐसे अज्ञान को दूर करके स्वतः प्रगट प्रकाशमान होता है। स्वतः अर्थात् पर की अपेक्षा बिना, राग की मन्दता की अपेक्षा बिना, व्यवहार की अपेक्षा बिना, भेद के लक्ष्य बिना, अभेद एक निर्मल ज्ञानस्वभाव के लक्ष्य से ज्ञानज्योति प्रगट प्रकाशमान होती है।

प्रथम अग्यानी जीव कहै मैं सदीव एक,
दूसरौ न और मैं ही करता करम कौ।
अन्तर-विवेक आयौ आपा-पर भेद पायौ,
भयौ बोध गयौ मिटि भारत भरम कौ।
भासे छहौं दरब के गुण-पर्याय सब,
नासे दुःख लख्यौ मुख पूरन परम कौ।
करम कौ करतार मान्यौ पुद्गल पिण्ड,
आप करतार भयौ आतम धरम कौ ॥२॥

– समयसार नाटक, कर्त्ता-कर्म-क्रिया द्वार

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोह्लं पि ।
अण्णाणी ताव दु सो कोहादिसु वट्टदे जीवो ॥६९॥
कोहादिसु वट्टं तस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदी ।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरिसीहिं ॥७०॥

यावन्न वेत्ति विशेषांतरं त्वात्मास्रवयोर्द्वयोरपि ।
अज्ञानी तावत्स क्रोधादिषु वर्तते जीवः ॥६९॥
क्रोधादिषु वर्तमानस्य तस्य कर्मणः संचयो भवति ।
जीवस्यैवं बंधो भणितः खलु सर्वदर्शिभिः ॥७०॥

यथायमात्मा तादात्म्यसिद्धसंबंधयोरात्मज्ञानयोरविशेषाद्भेदमपश्य-न्नविशंकमात्मतया ज्ञाने वर्तते तत्र वर्तमानश्च ज्ञानक्रियायाः स्वभाव-

---

जब तक यह जीव आस्रव के और आत्मा के विशेष को (अन्तर को) नहीं जाने; तब तक वह अज्ञानी रहता हुआ, आस्रवों में स्वयं लीन होता हुआ, कर्मों का बन्ध करता है — यह गाथा द्वारा कहते हैं :—

रे, आत्म आश्रव का जहाँ तक, भेद जीव जाने नहीं ।
क्रोधादि में स्थिति होय है, अज्ञानी ऐसे जीव की ॥६९॥
जीव वर्त्तता क्रोधादि में, तब कर्म संचय होय है ।
सर्वज्ञ ने निश्चय कहा, यों बन्ध होता जीव के ॥७०॥

गाथार्थ :— [जीवः] जीव [यावत्] जब तक [आत्मास्रवयोः द्वयोः अपि तु] आत्मा और आस्रव — इन दोनों के [विशेषान्तरं] अन्तर और भेद को [न वेत्ति] नहीं जानता [तावत्] तब तक [सः] वह [अज्ञानी] अज्ञानी रहता हुआ [क्रोधादिषु] क्रोधादिक आस्रवों में [वर्तते] प्रवर्तता है; [क्रोधादिषु] क्रोधादिक में [वर्तमानस्य तस्य] प्रवर्त्तमान उसके [कर्मणः] कर्म का [संचयः] संचय [भवति] होता है । [खलु] वास्तव में [एवं] इसप्रकार [जीवस्य] जीव के [बंधः] कर्मों का बन्ध [सर्वदर्शिभिः] सर्वज्ञदेवों ने [भणितः] कहा है ।

टीका :— जैसे यह आत्मा, जिन के तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध है — ऐसे आत्मा और ज्ञान में विशेष (अन्तर, भिन्न लक्षण) न होने से उनके भेद को (पृथक्त्व को) न देखता हुआ, निःशंकतया ज्ञान में आत्मपने से प्रवर्तता है और वहाँ (ज्ञान में आत्मपने से) प्रवर्तता हुआ, उसका ज्ञानक्रिया

भूतत्वेनाप्रतिषिद्धत्वाज्जानाति, तथा संयोगसिद्धसंबंधयोरप्यात्मक्रोधाद्यास्रवयोः स्वयमज्ञानेन विशेषमजानन् यावद्भेदं न पश्यति तावदशंकमात्मतया क्रोधादौ वर्तते तत्र वर्तमानश्च क्रोधादिक्रियाणां परभावभूतत्वात्प्रतिषिद्धत्वेऽपि स्वभावभूतत्वाध्यासात्क्रुध्यति रज्यते मुह्यति चेति। तदत्र योऽयमात्मा स्वयमज्ञानभवने ज्ञानभवनमात्रसहजोदासीनावस्थात्यागेन व्याप्रियमाणः प्रतिभाति स कर्ता। यत्तु ज्ञानभवनव्याप्रियमाणत्वेभ्यो भिन्नं क्रियमाणत्वेनांतरुत्प्लवमानं प्रतिभाति क्रोधादि तत्कर्म। एवमियमनादिरज्ञानजा कर्तृकर्मप्रवृत्तिः। एवमस्यात्मनः स्वयमज्ञानात्कर्तृकर्मभावेन क्रोधादिषु वर्तमानस्य तमेव क्रोधादिवृत्तिरूपं परिणामं निमित्तमात्रीकृत्य स्वयमेव

का स्वभावभूत होने से निषेध नहीं किया गया है, इसलिये जानता है—जाननेरूप में परिणमित होता है। इसीप्रकार जब तक यह आत्मा, जिन्हें संयोगसिद्ध सम्बन्ध है ऐसे आत्मा और क्रोधादि आस्रवों में भी अपने अज्ञानभाव से, विशेष न जानता हुआ उनके भेद को नहीं देखता हुआ, तब तक निःशंकतया क्रोधादि में अपनेपने से प्रवर्तता है, और वहाँ (क्रोधादि में अपनेपन से) प्रवर्तता हुआ उसका यद्यपि क्रोधादि क्रिया का परभावभूत होने से निषेध किया गया है, तथापि उस स्वभावभूत होने का उसे अध्यास होने से, क्रोधरूप परिणमित होता है, रागरूप परिणमित होता है, मोहरूप परिणमित होता है। अब यहाँ जो यह आत्मा अपने अज्ञानभाव से ज्ञानभवनमात्र सहज उदासीन (ज्ञातादृष्टा मात्र) अवस्था का त्याग करके, अज्ञानभवनव्यापाररूप अर्थात् क्रोधादिव्यापाररूप प्रवर्तमान होता हुआ प्रतिभासित होता है, वह कर्त्ता है और ज्ञानभवनव्यापाररूप प्रवृत्ति से भिन्न, जो क्रियमाणरूप से अन्तरङ्ग में उत्पन्न होते हुए प्रतिभासित होते हैं; ऐसे क्रोधादिक, वे (उस कर्त्ता के) कर्म हैं।

इसप्रकार अनादिकालीन अज्ञान से होनेवाली यह (आत्मा की) कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति है। इसप्रकार अपने अज्ञान के कारण कर्त्ता-कर्मभाव से क्रोधादि में प्रवर्तमान इस आत्मा के, क्रोधादि की प्रवृत्तिरूप परिणाम को निमित्तमात्र करके स्वयं अपने भाव से ही परिणमित होता हुआ पौद्गलिककर्म इकट्ठा होता है। इसप्रकार जीव और पुद्गल का परस्पर-अवगाह जिसका लक्षण है—ऐसा सम्बन्धरूप बन्ध सिद्ध होता है। अनेकात्मक होने पर भी (अनादि) एक प्रवाहपना होने से जिसमें से इतरेत-

परिणममानं पौद्‌गलिकं कर्म संचयमुपयाति । एवं जीवपुद्‌गलोः परस्परावगाहलक्षणसंबंधात्मा बन्धः सिध्येत् । स चानेकात्मकैकसंतानत्वेन निरस्तेतरेतराश्रयदोषः कर्तृकर्मप्रवृत्तिनिमित्तस्याज्ञानस्य निमित्तम् ।

राश्रय दोप दूर हो गया है – ऐसा वह वन्ध, कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति का निमित्त जो अज्ञान, उसका निमित्त है ।

भावार्थ :– यह आत्मा जैसे अपने ज्ञानस्वभाव रूप परिणमित होता है; उसीप्रकार जव तक क्रोधादिरूप भी परिणमित होता है, ज्ञान में और क्रोधादि में भेद नहीं जानता, तव तक उसके कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति है । क्रोधादिरूप परिणमित होता हुआ वह स्वयं कर्त्ता है और क्रोधादि उसका कर्म है । और अनादि अज्ञान से तो कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति है, कर्त्ता-कर्म की प्रवृति से वन्ध है और उस वन्ध के निमित्त से अज्ञान है । इसप्रकार अनादि संतान (प्रवाह) है, इसलिए उसमें इतरेतराश्रय दोष भी नहीं आता ।

इसप्रकार जव तक आत्मा क्रोधादि कर्म का कर्त्ता होकर परिणमित होता है, तब तक कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति है और तव तक कर्म का वन्ध होता है ।

गाथा ६९–७० एवं उनकी टीका पर प्रवचन

अहो ! कुन्दकुन्दाचार्यदेव इन गाथाओं में कहते हैं कि 'सर्वदर्शी – सर्वज्ञ भगवान ऐसा कहते हैं ।' अत: आचार्यदेव के इस कथन से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि भगवान इस वाणी के कर्त्ता तो होंगे ही ?

उत्तर इसप्रकार है कि परमार्थ से तो सर्वज्ञ भगवान वाणी के कर्त्ता नहीं हैं, क्योंकि वाणी तो जड़ है । जड़ का कर्त्ता भगवान आत्मा नहीं हो सकता । 'भगवान ऐसा कहते हैं' – ऐसा जो आचार्यदेव ने कहा है – यह व्यवहारनय का कथन है । भाई ! वाणी तो स्वयं वाणी के कारण निकलती है, आत्मा के कारण नहीं । उपदेश के समय ज्ञानी ऐसा जानते हैं कि यह वाणी हमारी (आत्मा की) नहीं है । वाणी जड़-पुद्‌गल का परिणमन है ।

वाणी में स्व-पर को कहने की सामर्थ्य है और भगवान आत्मा में स्व-पर को जानने की सामर्थ्य है । वाणी में जो स्व-पर को कहने की सामर्थ्य है, वह आत्मा से हुई हो – ऐसा भी नहीं है । ज्ञानी धर्मात्मा तो अज्ञानी को व्यवहार द्वारा वस्तुस्वरूप समझाते हैं और अज्ञानी व्यवहार को ही पकड़कर वैठ जाता है । वह कहता है कि जव तुम हमको समझाते

हो, तब यही मानकर तो समझाते हो कि आपके समझाने से हम समझ सकते हैं। जब आप उपदेश देते हो तो यही सोचकर तो देते हो कि हमारे उपदेश से ज्ञान होगा, लोग तत्त्व को समझ लेंगे। क्या बिना किसी प्रयोजन के, बिना किसी उद्देश्य के यों ही उपदेश करने लगते हो ? यदि उपदेश से वस्तुतः कुछ समझना – समझाना नहीं होता है, तो सबको मौन ही रहना चाहिए; सब अपने-अपने कारण स्वतः समझ जायेंगे। आचार्य समाधान करते हैं कि भाई ! किसी को समझा दें – ऐसा तो वस्तु का स्वरूप ही नहीं है, यह तो व्यवहार की कथन-शैली है। उपदेश तो सब सुनते हैं, किन्तु जो स्वयं विकल्प रहित होकर अन्तर्मुख होने का उद्यम करते हैं; वही समझते हैं, अन्य नहीं। उपदेश सुनकर जो समझते हैं, वे भी स्वयं से स्वयं के कारण समझते हैं। तथा दूसरे मौन आदि के समय भी जो समझते हैं, वे भी स्वतः स्वयं से ही समझते हैं। प्रत्येक समय समझ तो स्वयं अंदर से ही आती है, बाह्य-उपदेश से या मौन आदि से नहीं।

प्रश्न :– धवला में आता है कि 'ज्ञान कर्त्ता एवं वाणी कर्म' – इसका क्या आशय है ?

उत्तर :– भाई ! यह तो निमित्त का कथन है। निमित्त कर्त्ता के रूप में कहा तो जाता है, परन्तु वह कर्त्ता होता नहीं। बापू ! आत्महित करना हो तो वाद-विवाद छोड़कर (स्याद्वादशैली द्वारा) समझ ! 'भगवान ऐसा कहते हैं' – यह तो व्यवहार से कहने में आया है, यथार्थ में तो भगवान् वाणी के कर्त्ता है ही नहीं हैं भगवान आत्मा और ज्ञान – इन दोनों में कोई भिन्नता नहीं है। ज्ञान और आत्मा – दोनों तादात्म्यपने एकरूप ही हैं। ज्ञानस्वभाव व आत्मा एक ही वस्तु है, दोनों में अन्तर नहीं है। उनके लक्षण भी जुदे नहीं हैं। सम्यक्दृष्टिजीव अपने ज्ञान में उन दोनों को भिन्नपने नहीं देखते हुये निःशंकतया ज्ञान में आत्मपने प्रवर्त्तते हैं, अर्थात् आत्मा में आत्मपने वर्त्तते हैं।

'जड़ का काम आत्मा करता है' – यह मान्यता मूढ़-मिथ्यादृष्टि जीवों की है। जड़ के कार्य जड़ से होते हैं, आत्मा से नहीं – यह वस्तुस्थिति है। विश्व में अनन्त पदार्थ अनन्तपने एकदूसरे से पृथकरूप से रहते हैं, वे एक-दूसरे का कार्य करें तो अनन्तता नहीं रहेगी। अनन्त आत्मायें, अनन्तानन्त पुद्गलद्रव्य आदि विश्व में अनन्तानन्त द्रव्य हैं; वे सब अपने-अपने से हैं। द्रव्य-गुण तो स्वयं से हैं ही, उन द्रव्यों की पर्यायें भी स्वयं से ही हैं, तब ही वे अनन्त रहती हैं। आत्मा अज्ञानभाव से राग का कर्त्ता है और ज्ञानभाव से ज्ञान का कर्त्ता है। शरीर, वाणी, पैसा आदि जड़ की क्रिया आत्मा कभी

भी नहीं करता, और न कर ही सकता है। यहाँ कहते हैं कि ज्ञान व आत्मा को भिन्न नहीं देखता हुआ ज्ञानी निःशंकरूप से ज्ञान में वर्त्तता है। ज्ञान और आत्मा एक हैं – इसप्रकार जो ज्ञान में वर्त्तता है, वह आत्मा में वर्त्तता है। जानना…जानना…जानना – ऐसा जाननेरूप, ज्ञानस्वभाव और आत्मा – दोनों एक हैं, अभेद हैं। इसकारण राग का लक्ष्य छोड़कर जो ज्ञान में वर्त्तते हैं, वे आत्मा में ही वर्त्तते हैं। अपने में ही वर्त्तते हैं अर्थात् अपने में ही रहते हैं।

ज्ञानक्रिया का स्वभावभूत होने से निषेध नहीं किया गया है। इसलिए, आत्मा जानता है, जाननेरूप परिणमित होता है। ज्ञान ज्ञान में अर्थात् त्रिकाली आत्मा में एकाग्र हुआ – यह ज्ञान की क्रिया है। 'मैं ज्ञान हूँ' – ऐसा जो ज्ञान का परिणमन हुआ, – यही ज्ञान की क्रिया है। स्वद्रव्य की ओर ढलनेरूप जो ज्ञानपर्याय या ज्ञान की क्रिया हुई, वह धर्म की क्रिया है। उसका निषेध नहीं किया गया है। परन्तु पर के लक्ष्य से जो राग की क्रिया होती है, उसका निषेध है।

क्रिया तीनप्रकार की होती है :–

(१) शरीर, मन, वाणी, धनादि जड़रूप परद्रव्य की क्रिया – जड़ की क्रिया है।

(२) पर-द्रव्य के लक्ष्य से उत्पन्न हुई राग की क्रिया – विभावरूप क्रिया है।

(३) स्वरूप के लक्ष्य से उत्पन्न ज्ञान की क्रिया – स्वभावभूत क्रिया है।

जड़ की क्रिया तो आत्मा तीन काल में कभी करता नहीं है, कर भी नहीं सकता। तथा 'ज्ञान ही आत्मा है' – इसप्रकार ज्ञान में एकत्वभाव से निशंकपने रहता हुआ – राग की क्रिया को भी नहीं करता। 'ज्ञान ही आत्मा है' – इसप्रकार स्वभावसन्मुख होकर स्वानुभव करने पर ज्ञान-क्रिया का कर्त्ता होता है। इसमें द्रव्य-गुण-पर्याय – तीनों आ जाते हैं। जानना…जानना…जानना मात्र जिसका स्वभाव है, वह आत्मद्रव्य है, जाननेरूप ज्ञानस्वभावमय ज्ञान गुण है और गुण व गुणी दोनों एक अभिन्न हैं। इसप्रकार स्वलक्ष्य से जो परिणमन हुआ, वह ज्ञानक्रियारूप पर्याय है। इसप्रकार ज्ञानक्रिया में द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों आ जाते हैं। ऐसी यह स्वभावभूत ज्ञानक्रिया ही धर्म है, मोक्षमार्ग है।

'ज्ञान ही आत्मा' – ऐसी स्व की ओर ढलती हुई जो स्वात्म-प्रतीति हुई, वह श्रद्धान है; जो स्वात्म-ज्ञान हुआ, वह सम्यग्ज्ञान है; तथा जो

स्वात्म-स्थिरता हुई, वह सम्यक्चारित्र है। इन सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र की एकरूप परिणति ही मोक्षमार्ग है। अहो ! इस कर्त्ता-कर्म अधिकार में आचार्यों ने अद्‌भूत बातें लिखी हैं। ऐसा विषय अन्यत्र कहीं है ही नहीं, यह समयसार तो बेजोड़ ग्रन्थ है।

प्रश्न :– राग का कर्त्ता आत्मा नहीं है तो फिर कौन है ? क्या कोई ईश्वर या पुद्‌गलकर्म राग का कर्त्ता है ?

उत्तर :– राग का कर्त्ता न कोई ईश्वर है और न पुद्‌गलकर्म। राग जब आत्मा की पर्याय में स्वयं के कारण होता है, तब इसमें पुद्‌गलकर्म निमित्तमात्र है, कर्त्ता नहीं।

आत्मा का स्वभाव शुद्ध चैतन्य है, उस ओर ढ़लती हुई ज्ञान की पर्याय आत्मा की निर्मल परिणति है। यही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकरूप दशा है। यह ज्ञान की क्रिया स्वभावभूत होने से निषेध योग्य नहीं है। अहाहा ! दृष्टि के अन्तर्मुख ढ़लने पर ज्ञान में एकाग्रता की जो क्रिया होती है, वह स्वभावभूत होने से निषेध्य नहीं है; क्योंकि जैसा स्वभाव है, उसी जाति की ज्ञान की क्रिया या आत्मा की परिणति हुई है।

कोई अज्ञानी जीव कहते हैं कि आपने क्रिया का लोप किया है। उनसे कहते हैं कि – भाई ! देखो, ज्ञानक्रिया का लोप नहीं किया है। यही ज्ञानक्रिया धर्मी जीवों के होती है, क्योंकि यह स्वभावभूत क्रिया है। आत्मा और ज्ञान में कोई अन्तर (भेद) नहीं है। धर्मी जीव दोनों के अन्तर को – भेद को न देखता हुआ, निशंकरूप से ज्ञानस्वभाव में आत्मपने रहता है। – ऐसी यह ज्ञान क्रिया स्वभावभूत क्रिया होने से निषेध नहीं की गई है, इसका निषेध करना सम्भव भी नहीं है।

इसी ग्रन्थ की गाथा १७-१८ की टीका में आता है कि समस्त अन्यभावों का भेद होने से निःशंक स्थिर होने में समर्थ होने के कारण आत्मा का आचरण उदित होता हुआ आत्मा को साधता है। 'ज्ञान में जो अनुभूतिस्वरूप त्रिकाली भगवान आत्मा ज्ञात हुआ है, वही मैं हूँ' – ऐसी ज्ञान क्रिया के साथ ही श्रद्धान का उदय होता है और तब वह आत्मा दया, दान, व्रत आदि समस्त परभावों से भेदज्ञान हो जाने से स्वभाव में स्थिर होने में समर्थ होता है। इसप्रकार स्वरूप में निःशंक ठहरने से उस आत्मा का अनुष्ठान – आत्मा की रमणता को प्राप्त हो जाता है। आत्मा की सिद्धि की यह रीति है, यही मोक्षमार्ग है; क्योंकि यह स्वभावभूत है।

उपरोक्त गाथा की टीका में ही आगे कहा है कि आबालगोपाल सबकी ज्ञान-पर्याय में ज्ञायकस्वभावी अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा सदा

ज्ञात होता है, क्योंकि सबकी ज्ञानपर्याय का स्व-परप्रकाशक स्वभाव है। और इसीकारण वह पर के साथ स्व को भी जानता है, परन्तु अज्ञानी जीव की दृष्टि इस ज्ञायकस्वभावी भगवान आत्मा पर नहीं है। अतः वह ऐसा मानता है कि 'मैं राग को तथा पर को ही जानता हूँ'।

ज्ञान का दल, ज्ञान का घनपिण्ड आत्मा ही सदाकाल सबको जानने में आता है, तथापि राग के वश हुए अज्ञानी 'यह अनुभूति ही मैं हूँ' – ऐसे ज्ञायक आत्मा की ओर दृष्टि नहीं करते। इसकारण उस (अज्ञानी) की दृष्टि में आत्मा तिरोभूत रहता है तथा पर व राग ही ज्ञात होता है। अज्ञानी की दृष्टि स्व के ऊपर नहीं है क्योंकि वह पर्याय में ही अटका है।

वस्तु के त्रिकाली ध्रुव चैतन्यस्वभाव की ओर ज्ञानी की ढलती हुई जो निर्मल ज्ञानपरिणति हुई, वह आत्मा की स्वाभाविक क्रिया है; अतः उसका निषेध नहीं है। वह जानती है, जाननेरूप परिणमन करती है, यही सच्ची धर्म की क्रिया है। 'वत्थु सहावो धम्मो' – ऐसा कहा भी है। वस्तु का जो त्रिकाली ध्रुव ज्ञायक स्वभाव है, वह धर्म है, वही मोक्षमार्ग है। ज्ञान का स्वरूप-परिणमन ही आत्मा की क्रिया या कर्म है।

प्रश्न :– 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' – ऐसा कहा है, उसका क्या अर्थ है?

उत्तर :– हाँ भाई! वह बात तो ठीक है, परन्तु वहाँ ज्ञान और क्रिया का अर्थ क्या है? क्या शास्त्र का परलक्षीज्ञान – ज्ञान है? और क्या व्रतादि आचरणरूप क्रिया – चारित्र है? नहीं, भाई! – ऐसा नहीं है। यद्यपि इस जीव को अनन्तबार आत्मज्ञान बिना ग्यारह अंग और नौ पूर्व के ज्ञान की लब्धि प्रगट हुई है, तथापि वह ज्ञान नहीं है। वर्त्तमान ज्ञान की पर्याय में (स्वसंवेदनपूर्वक) 'यह त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा मैं हूँ' – ऐसा जो ज्ञात हुआ, वह ज्ञान ही आत्मज्ञान है। तथा इसी ध्रुव ज्ञायक में जो एकाग्रता – रमणता हुई, वही क्रिया अर्थात् चारित्र है। यह ज्ञान व क्रिया ही मोक्षमार्ग है, इन्हीं की पूर्णता मोक्ष है। यह बात तो समझे नहीं और बाह्य व्रत, तप, क्रिया आदि आचरण करे तो इनसे मोक्ष नहीं होता। भाई! अज्ञानपूर्वक आचरण तो बन्धमार्ग है।

प्रश्न :– अज्ञानी भी तो हमेशा ज्ञानरूप ही परिणमन करता है?

उत्तर :– नहीं, ऐसा नहीं है। अज्ञानी एक समय भी ज्ञानपने परिणमन नहीं करता। कहा है न! कि ज्ञान की पर्याय में ध्रुव ज्ञानस्वरूपी आत्मा जाना जाता है, परन्तु अज्ञानी जीव 'यह ध्रुव ज्ञानस्वभाव मैं ही हूँ'

—ऐसा न जानता है, न मानता है; बल्कि जो राग व पर इसके ज्ञान में आता है, वही मैं हूँ—ऐसा मानता है। राग और पर से दृष्टि (लक्ष्य) हटाकर ज्ञान को स्वभाव की ओर नहीं ढालता। अज्ञानी अपनी ज्ञानपर्याय में 'ज्ञायक ही मैं हूँ'—ऐसे ज्ञायक को जाननेरूप परिणमन नहीं करता।

आचार्य कहते हैं कि 'इसीप्रकार जब तक यह आत्मा, जिनमें संयोग-सिद्ध सम्बन्ध है—ऐसे आत्मा और क्रोधादि आस्रवों में भी, अपने अज्ञान-भाव से विशेष नहीं जानता हुआ उनके भेद (अन्तर) को नहीं देखता, तब तक निःशंकरूप से क्रोधादि में निजपने से प्रवर्त्तता है।'

देखो, अब गाथा का मूलभाव प्रारम्भ होता है। कहते हैं कि क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि शुभाशुभभावों का और आत्मा का संयोगसिद्ध सम्बन्ध है। जिनका संयोग होकर वियोग होता है, उन संयोगसिद्ध सम्बन्ध होता है। दया, दान, व्रत, भक्ति इत्यादि शुभभाव तथा हिंसा, झूठ आदि अशुभभाव—ये सब संयोगीभाव हैं; क्योंकि इनका वियोग हो जाता है। इन क्रोधादिभावों के साथ आत्मा का एक समय का ही सम्बन्ध है (ये एक समय में ही नष्ट हो जाते हैं); दूसरे समय में दूसरे नवीन उत्पन्न होते हैं; तथा आत्मा के भान तथा स्थिरता द्वारा उनका मूल से ही अत्यन्त विनाश हो जाता है। केवलज्ञान होने पर विकारीभावों का सर्वथा अभाव हो जाता है। इसलिए क्रोधादि भाव आत्मा के साथ उत्पाद-व्ययरूप सम्बन्ध से हैं; ध्रुवरूप सम्बन्ध से नहीं हैं, एकरूप सम्बन्ध से नहीं है।

दया, दान, भक्ति, पाँच महाव्रत आदि शुभपरिणाम तथा व्यवहार-रत्नत्रय के परिणाम संयोगीभाव हैं। अतः इनका आत्मा के साथ संयोग-सिद्ध सम्बन्ध है। ज्ञान व आत्मा का स्वभावसिद्ध सम्बन्ध है, अर्थात् एकता का सम्बन्ध है। ज्ञान और आत्मा एक ही हैं। अतः जब ज्ञान में स्वपने प्रवर्त्तता हुआ ज्ञानी आत्मा के मार्ग में प्रवर्त्तता है; तब आत्मा का ही ज्ञान, आत्मा का ही श्रद्धान तथा आत्मा में ही रमणता या स्थिरता होती है—यह ज्ञान की क्रिया धर्म की क्रिया है।

प्रश्न :—ज्ञान की पर्याय भी बदलती तो है? क्या इसका भी उत्पाद-व्यय तो होता है?

उत्तर :—ज्ञान की पर्याय बदलती तो है, इसका भी उत्पाद-व्यय तो होता है; परन्तु जैसा आत्मा का शुद्ध चैतन्यस्वभाव है, उसी जाति का उत्पाद-व्यय होता है। ज्ञान की पर्याय चैतन्यस्वभावमय ही रहती है, इसलिए ज्ञान की निर्मल पर्याय का आत्मा के साथ स्वभावसिद्ध सम्बन्ध है।

आत्मा व क्रोधादि-आस्रवों का संयोगसिद्ध सम्बन्ध है; तथापि अपने अज्ञानभाव से जब तक स्वभाव व विभाव का भेद दिखाई नहीं देता, तब तक वह विकारीभावों में – आस्रवों में निःशंकरूप से प्रवर्तता है।

पञ्चाध्यायी में इन शुभाशुभभावों को 'आगन्तुक भाव' कहा है। आगन्तुक अर्थात् एक समय मात्र के लिए, नये मेहमान की तरह आये हुये भाव हैं। संयोगीभाव कहो, या आगन्तुक भाव कहो – एक ही अर्थ है।

अहाहा ! आत्मा का स्वभाव तो शुद्ध चैतन्यमय अमृतस्वरूप है, किन्तु अज्ञानी को इसका कभी अनुभव नहीं हुआ। इसकारण 'मैं ज्ञान ही हूँ' – ऐसा नहीं जानता, किन्तु 'मैं राग या विकारवाला हूँ' – ऐसा मानता है। इसीकारण वह राग – विकार में स्वरूपपने प्रवर्त्तन करता है, परन्तु भाई ! राग तो जहर है। बापू ! जहर पीते-पीते अमृत का स्वाद नहीं आयेगा। राग रोग है और 'राग मेरा है' – ऐसी मिथ्या मान्यता महारोग है।

कहा भी है :–

"आत्मभ्रान्ति सम रोग नहीं, सद्गुरु वैद्य सुजान"

इस आत्मा को अनादि से आत्मभ्रान्ति का रोग लगा है – इसे मिटाने की यह बात चल रही है।

"आत्मा स्वभाव से अन्तर में भगवानस्वरूप विराजता है, किन्तु अज्ञानी उसे भूलकर क्रोधादि विभावों को निज मानकर उनमें निःशंक प्रवृत्ति करता है। यद्यपि क्रोधादि क्रिया का परभावभूत होने से निषेध किया गया है; तथापि उसमें स्वभावभूत होने का अध्यास होने से, अज्ञानी क्रोधरूप परिणमित होता है, रागरूप परिणमित होता है, मोहरूप परिणमित होता है।"

अहाहा ! अज्ञानी को राग मेरा स्वभाव है – ऐसा मानने की टेव (आदत) पड़ गई है। इसीकारण वह क्रोधरूप, रागरूप व मोहरूप परिणमन करता है। इसप्रकार अज्ञानी रागादि में एकपने परिणमन करता हुआ मिथ्यात्वभावरूप से परिणमन करता है।

"अब यहाँ, जो यह आत्मा अपने अज्ञानभाव से ज्ञानभवनमात्र सहज उदासीन (ज्ञाता-दृष्टा मात्र) अवस्था का त्याग करके अज्ञानभवन व्यापाररूप अर्थात् क्रोधादि व्यापाररूप प्रवर्तता हुआ प्रतिभासित होता है, वह कर्त्ता है।" ज्ञानव्यापार से भिन्न लक्षणवाले पुण्य-पाप के क्षणिक विकार मेरा स्वभाव है – ऐसा अज्ञानी मानता है। इसप्रकार रागादि विकार से एकत्व

माननेवाला अज्ञानी, ज्ञाता-दृष्टा की सहज उदासीन अवस्था को छोड़कर रागादि विकारों का कर्त्ता बनता है। अहाहा ! वस्तु का सहज चैतन्य स्वभाव तो ऐसा है कि इसमें से ज्ञाता-दृष्टारूप सहज उदासीन निर्मल अवस्था ही प्रगट होती है, विकार नहीं; क्योंकि वस्तु में विकार है ही कहाँ ? उसमें तो ज्ञानभवनमात्र अर्थात् जानना....जानना....जानना – ऐसा सहज जाननेरूप (ज्ञाता-दृष्टारूप) परिणमन होना चाहिए, परन्तु अज्ञानी जीव अज्ञानभाव से स्वभाव का त्याग करके क्रोधादि क्रिया में एकत्वपने प्रवर्तता है, अतः क्रोधादि का वह कर्त्ता है।

प्रश्न :– ज्ञानी को भी पर्याय में रागादि तो होते हैं न ?

उत्तर :– हाँ, ज्ञानी को भी पर्याय में रागादि होते हैं, हो जाते हैं; परन्तु ज्ञानी उन रागादि में तन्मय नहीं होता। 'मैं रागादि का कर्त्ता हूँ' – ऐसा रागादि में स्वामित्व ज्ञानी को नहीं है। वह तो पर्याय में हुए रागादि को जानता हुआ ही परिणमन करता है। देखो ! मुनिराज अमृतचन्द्राचार्य को टीका के काल में टीका करने का विकल्प हुआ, किन्तु वे विकल्प के कर्त्तापने परिणमित नहीं हुए, वल्कि सहज ज्ञायकभाव से ज्ञाता रूप ही रहे; किन्तु अज्ञानी सहज उदासीन जाननेरूप क्रिया का त्याग करके, राग में एकत्व स्थापित करके रागादि क्रिया में प्रवर्त्तता है; इसकारण वह रागादि का कर्त्ता है। उसे ज्ञान के वजाय अकेले रागादि ही प्रतिभासित होते हैं, अतः वह रागादिक का कर्त्ता है।

"ज्ञानभवन व्यापाररूप प्रवृत्ति से भिन्न, जो क्रियमाणरूप से अंतरंग में उत्पन्न हुये प्रतिभासित होते हैं – ऐसे क्रोधादिभाव, उस कर्त्ता के कर्म हैं।" अर्थात् निर्मल परिणमन से भिन्न – विरुद्ध लक्षणवाले पर के कर्तृत्व के अभिप्राय से अन्तरंग में उत्पन्न हुये क्रोधादिभावों को अज्ञानी अपना कर्म (कार्य) मानता है।

"आत्मा कर्त्ता और क्रोधादिभाव मेरे कर्म" – इसप्रकार अज्ञानी जीव की जो अनादिकाल से अज्ञानजनित कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति है, वही संसार का कारण है।

आत्मा पर का अकर्त्ता है, क्योंकि वह पर से भिन्न है। दूसरों को सुधारना – विगाड़ना तो अज्ञानभाव से भी आत्मा का कर्म नहीं है। बापू! इस बात को समझने से ही दुःख से छुटकारा मिल सकता है, अन्य कोई उपाय नहीं है। देखते नहीं हो ! आत्मा क्षण भर में देह छोड़कर चला जाता है। भाई ! इस बात को समझे बिना तुम कहाँ जा पड़ोगे ? इस

चौरासी लाख के चक्कर में कहीं पता भी नहीं चलेगा। स्वरूप को समझे विना जब तक यह कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति बनी रहेगी, तब तक जन्म-मरण की परम्परा कभी समाप्त नहीं होगी। स्वरूप समझने पर ही जन्म-मरण का अन्त आ सकेगा।

"इसप्रकार अपने अज्ञान के कारण, कर्त्ता-कर्मभाव से क्रोधादि में प्रवर्त्तमान इस आत्मा के, क्रोधादि की प्रवृत्तिरूप परिणमन को निमित्त-मात्र करके स्वयं अपने भाव से ही परिणमित होता हुआ पौद्गलिक कर्म इकट्ठा होता है।"

देखो, आत्मा जब अज्ञानभाव से क्रोधादि का कर्त्ता होता है, तब उन क्रोधादि परिणामों को निमित्तमात्र बनाकर पौद्गलिक कार्माण वर्गणायें अपनी स्वयं की योग्यता से ही द्रव्यकर्म के रूप में बंधती हैं। 'निमित्तमात्र' —ऐसा जो कहा है, उसका अर्थ निमित्त की उपस्थिति मात्र है, निमित्त का कर्तृत्व नहीं। जीव के क्रोधादि भाव होते हैं, इसलिए द्रव्यकर्म एकत्रित होते हों—ऐसा नहीं है। पुद्गल-रजकणों में कर्मरूप परिणमन करने की स्वयं की सामर्थ्य है। लिखा है न कि 'स्वयं अपने ही भावों से परिणमित होता हुआ पौद्गलिककर्म इकट्ठा होता है।' अहो! यह तो स्वतंत्रता का उद्घोष है। ऐसी स्वतन्त्रता की बात दिगम्बर धर्म के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं है। अरे! दिगम्बरों में भी इस बात को समझनेवाले इस काल में बहुत ही अल्प जीव हैं।

जीव जब अज्ञानतावश शुभाशुभ विकारभाव से परिणमन करता है, तब (उससमय) कर्मरूप से परिणमन करनेवाले पौद्गलिक रजकण स्वयं की योग्यता से स्वकाल में, कर्मरूप परिणमन करते हैं। शुभाशुभ परिणामों के कारण नये कर्म नहीं बँधते, शुभाशुभ परिणाम तो बाह्य निमित्तमात्र है। कर्म-रजकण स्वयं की योग्यता से स्वतंत्र परिणम जाते हैं। अहो! समयसार की टीका अद्भुत एवं अजोड़ है। ऐसी बात जिन जीवों को सुनने को मिले, उनका महान् सौभाग्य है तथा जो इसका भाव समझ लेगा, वह तो निहाल ही हो जायगा।

अहा! ज्ञानरूप परिणमन न होकर जो रागरूप परिणमन हुआ—यह तो उसका स्वकाल है, इसलिए वह रागरूप परिणमा है, कर्मोदय के कारण रागरूप परिणमन नहीं हुआ। इसीप्रकार जो ज्ञानरूप परिणमन होता है, वह भी कर्म के अभाव के कारण नहीं होता। ज्ञान व आत्मा एक हैं—ऐसा जो ज्ञान में स्वपने वर्तता हुआ परिणमन हुआ है—वह दर्शनमोह के अभाव के कारण नहीं परिणमा है, दोनों की परिणमन-धारा स्वतन्त्र

है। एक-दूसरे के परिणमन में एक-दूसरे का मात्र निमित्तपना ही होता है। परमाणु में कर्मरूप अवस्था होने का अपना स्व-काल है, इसकारण वह अपनी योग्यता से कर्मरूप परिणमन करता है। जीव के विकारी भावों को निमित्तमात्र बनाकर कर्म स्वयं अपने से ही परिणमन करता हुआ एकत्रित होता है। 'इसप्रकार जीव और पुद्गल का, परस्पर-अवगाह जिसका लक्षण है – ऐसा सम्बन्धरूप बन्ध सिद्ध होता है।'

यहाँ टीका में तीन प्रकार का सम्बन्ध कहा है –

(१) ज्ञान और आत्मा का तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध।

(२) राग और आत्मा का संयोगसिद्ध सम्बन्ध।

(३) कर्म और आत्मा का परस्पर-अवगाहसिद्ध सम्बन्ध।

ज्ञान व आत्मा में तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध है तथा दोनों का अभेदभाव से परिणमन होना धर्म है।

राग व आत्मा में संयोगसिद्ध सम्बन्ध है – दोनों को एक मानकर परिणमन करना अज्ञान है।

कर्म व आत्मा में एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध है, अर्थात् कर्म व आत्मा परस्पर एक क्षेत्र में व्याप्त होकर रहते हैं – ऐसा सम्बन्धरूप ही बन्ध है। जीव के परिणामों का निमित्त पाकर कर्म के पुद्गल एकक्षेत्रावगाहरूप से रहते हैं, तथापि भाव से सर्वथा भिन्न हैं। एक क्षेत्र में रहते हैं, अतः परस्पर-अवगाह जिनका लक्षण है – ऐसे सम्बन्धविशेष को बन्ध कहते हैं।

अब कहते हैं – 'अनेकात्मक होने पर भी (अनादि) एकप्रवाहपना होने से जिसमें से इतरेतराश्रय दोष दूर हो गया है – ऐसा वह बन्ध, कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति का निमित्त जो अज्ञान, उसका निमित्त है।'

'अनेकात्मक' अर्थात् जीव और पुद्गल के बन्ध में इतरेतराश्रयदोष नहीं है, क्योंकि इसमें अनादिप्रवाहपना है। एक से दूसरा और दूसरे से पहला – इसे इतरेतराश्रय दोष कहते हैं। जैसे – जीव के राग परिणाम से बन्ध और फिर इसी बन्ध से वही राग परिणाम हो तो इतरेतराश्रय दोष होता है, परन्तु उक्त बन्ध में यह इतरेतराश्रय दोष नहीं है। अज्ञानी जीव रागद्वेषरूप से परिणमन करता है। तब नवीन कर्म बँधता है। और वह बन्ध अमुक स्थिति तक जीव के साथ एकक्षेत्रावगाहरूप से रहता है तथा जो राग-द्वेष परिणमन होता है, उसमें पूर्व के कर्म का उदय निमित्त होता है। इसप्रकार जिस रागविकार के परिणाम से नवीन कर्म का बन्ध हुआ, वह नवीन कर्मबन्ध उस राग विकार के परिणाम में निमित्त नहीं हो सकता;

किन्तु उस विकार परिणाम में पुराने बँधे हुये कर्म का उदय निमित्त होता है। तथा जो विकारी परिणाम हुआ, वह आगे बँधनेवाले नवीन कर्मबन्ध का निमित्त होता है; इसप्रकार इतरेतराश्रय दोष नहीं है।

पहले आत्मा शुद्ध था, बाद में विकारी हुआ; पहले कर्मबंधन नहीं था, बाद में हुआ – ऐसा नहीं है अर्थात् आत्मा के विकारी परिणाम से कर्मबन्ध हुआ और उन्हीं कर्म से विकारी परिणाम हुए – ऐसा नहीं है, दोनों अनादि से स्वतः सिद्ध हैं। अनादिकाल से ही कर्म, कर्मरूप से तथा आत्मा का परिणाम विकारपने से स्वतन्त्रतया होते आये हैं। एक-दूसरे के आश्रय से नहीं हुये हैं। अनादि से पुराने कर्म झरते जाते हैं और उनके उदय का निमित्त पाकर जीव में नये-नये विकारी परिणाम होते जाते हैं। तथा इनका निमित्त पाकर नये कर्म बँधते जाते हैं, – ऐसा प्रवाहक्रम है। इसप्रकार अनादि प्रवाहरूप से जीव-पुद्गल का जो बन्ध होता है, इसमें इतरेतराश्रय दोष नहीं हैं।

'ऐसा वह बन्ध, कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति का निमित्त जो अज्ञान, उसका निमित्त है।'

कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति का निमित्त अज्ञान है। तथा अज्ञान का निमित्त पूर्व का (पुराने कर्म का) बन्ध है। अज्ञान आत्मा का मूलस्वभाव नहीं है। अज्ञान पर्याय स्वयं (अशुद्ध) उपादान है तथा उसका निमित्त पूर्व का कर्मबन्ध है। कर्म कहीं अज्ञानभाव नहीं करा देता, परन्तु जब-जब जीव स्वयं अपनी तत्समय की योग्यता से राग-द्वेषरूप अज्ञान किया करता है, तब-तब कर्म का उदय निमित्तरूप में होता ही है।

निज चैतन्यस्वभाव के लक्ष्य से जिसका अज्ञान टल जाता है, उसकी कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति मिट जाती है और कर्मबन्ध भी टल जाता है। तथा जो स्वभाव के लक्ष्य से नहीं परिणमता, उसे अज्ञान भी है, कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति भी है तथा नया-नया कर्मबन्ध भी है।

गाथा ६९-७० के भावार्थ पर प्रवचन

"यह आत्मा जैसे अपने ज्ञानस्वभावरूप परिणमित होता है, उसीप्रकार जब तक क्रोधादिरूप भी परिणमित होता है, ज्ञान में व क्रोधादिक में भेद नहीं जानता; तब तक उसके कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति बनी रहती है।"

जिसप्रकार अग्नि और उष्णता एकरूप है, उसीप्रकार आत्मा व ज्ञानस्वभाव एकरूप है, तद्रूप है, तादात्म्यरूप है – ऐसे ज्ञानस्वभावी आत्मा

के सन्मुख होकर एकाग्र होने पर जो परिणमन हुआ, वह ज्ञान की क्रिया है। वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म है—यह क्रिया निजभावरूप होने से निषेध नहीं की जा सकती। परन्तु ज्ञान व रागादि विकार भिन्न हैं। ज्ञान आनन्दस्वरूप है तथा विकार दुःखस्वरूप है। ज्ञान व रागादिविकारों की भिन्नता भासित नहीं होने से तथा पुण्य-पाप के शुभाशुभ विकारीभाव मेरे स्वभाव हैं—ऐसी मान्यता होने से जब तक यह आत्मा शुभाशुभ भावरूप परिणमन करता रहता है, तब तक अज्ञानी रहता हुआ विकारी भावों का कर्त्ता है और विकारी परिणमन उसका कर्म है।

आत्मा परद्रव्यों का कर्त्ता नहीं है, क्योंकि परद्रव्य स्वतन्त्र भिन्न वस्तु है। यद्यपि वह (परद्रव्य) स्वयं अपने कारण से परिणमन करता है, तथापि "परद्रव्य को मैं करता हूँ; शरीर, मन, वाणी की क्रिया मैं करता हूँ या कर सकता हूँ"—ऐसा माननेवाला तो मिथ्यादृष्टि है ही; तथा पर्याय में जो दया, दान, या हिंसादि शुभाशुभ विकारीभाव होते हैं, उनका 'मैं कर्त्ता हूँ'—ऐसा माने तो भी मिथ्यादृष्टि ही है।

अहाहा! आत्मा ज्ञानस्वभावी, सर्वज्ञस्वभावी त्रिकाली ध्रुव सहज शुद्धद्रव्य है, इसमें राग नहीं है अर्थात् पुण्य-पाप का विकार तथा अल्पज्ञता नहीं है। यह तो अनन्त शक्तियों का पिण्ड परिपूर्ण चैतन्य भगवान है। इसमें दृष्टि एकाग्र होते ही परिणमन निर्मल हो जाता है। यह निर्मल परिणमन आत्मा की स्वभावभूत धार्मिक क्रिया है, अतः निषेध्य नहीं है।

'यह अखण्ड एकरूप चैतन्य भगवान स्वयं मैं ही हूँ'—ऐसा स्वयं का अस्तित्व अज्ञानी को स्वीकृत नहीं होता। यह तो दया, दान, व्रतादि के परिणामों को अपने मानता है, तथा ऐसा मानकर रागभाव से परिणमन करता हुआ राग का कर्त्ता होता है। अरे! जगत के जीवों को ऐसे सूक्ष्म तत्त्व की खबर ही कहाँ है? परन्तु भाई! यह समझना पड़ेगा। इसको समझे बिना जन्म-मरण से छूटने का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

अरे! जगत के जीवों ने राग की रुचि में चैतन्यस्वभावी निज आत्मा का त्याग कर दिया है, उपेक्षा कर दी है, तीन लोक के नाथ को हेय कर दिया है। यही तो अनन्तानुबन्धी क्रोध है, द्वेष है। इसके अलावा क्रोध व द्वेष अन्य क्या है? निर्मलानन्द के नाथ चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा के सन्मुख न देखकर इससे विरुद्ध राग में एकत्व करके उसमें जुड़ जाना ही अनन्तानुबन्धी क्रोध व द्वेष है। यहाँ कहते हैं कि ज्ञानस्वरूपी आत्मा व क्रोध, मान, माया, लोभरूप विकार—इन दोनों में जब तक यह जीव भेद (अन्तर) नहीं जानता, तब तक कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति रहती है।

'विकारी परिणाम मेरा कर्त्तव्य तथा मैं उनका कर्त्ता' —ऐसा अज्ञानी मानता है, तथा इसीप्रकार परिणमन करता है। शरीर-मन-वाणी इत्यादि परद्रव्य की क्रिया के कर्तृत्व की तो यहाँ बात ही नहीं हैं, क्योंकि परद्रव्य तो भिन्न हैं, स्वतंत्र हैं। उनकी क्रिया का कर्त्ता तो अज्ञानी भी नहीं है।

अरे! जीव को निजात्मा की दरकार नहीं है कि मेरा क्या होगा? रात-दिन कमाना, खाना-पीना, घूमना-फिरना इत्यादि में ही समय बीत रहा है। कल्याण करने का सुअवसर यों ही बीता जा रहा है। भाई! तत्त्व की दृष्टि किये बिना ही मरण करके तू कहाँ जायगा? त्रिलोकीनाथ देवाधिदेव परमात्मा कहते हैं कि तू आत्मा है, पुण्य-पाप के भाव तो आस्रव हैं, तू इन आस्रवरूप नहीं है — इसप्रकार दोनों में भेदज्ञान करके ज्ञानस्वरूपी निजात्म-तत्त्व को ग्रहण कर! क्योंकि यह स्वभावभूत क्रिया है, धर्म की क्रिया है।

बिल्कुल सीधी व सरल बात है। समझना चाहे तो समझ सकता है। जब तक आस्रव और आत्मा के भेद को नहीं जानता, तब तक पर्याय में कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति बनी रहती है।

क्रोधादिरूप परिणमित होता हुआ, वह स्वयं कर्त्ता है और क्रोधादि उसका कर्म है। वास्तव में तो उससमय की पर्याय ही कर्त्ता और वही उसका कर्म है। शुभाशुभ रागपरिणाम का कर्त्ता भी वही पर्याय व कर्म भी वही पर्याय, तथा करण सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण भी वही पर्याय है। पर्याय के षट्कारक स्वतंत्र हैं; जिससे वह पर्याय (परिणाम) स्वतन्त्र उत्पन्न होती है। अज्ञानी उस विकारी परिणाम का स्वयं को कर्त्ता मानकर विकारी कर्मरूप से परिणमन करता है। यही संसार है, इससे नवीन कर्मबन्ध होता है।

धर्मी जीव आत्मा व राग को भिन्न जानता हुआ ज्ञान की क्रियारूप परिणमन करता है। धर्मी ऐसा मानते हैं कि ज्ञान की क्रिया का मैं कर्त्ता तथा ज्ञान की क्रिया मेरा कर्म है। वास्तव में तो ज्ञान की निर्मल पर्याय का कर्त्ता भी पर्याय स्वयं है। निर्मल पर्याय भी अपने षट्कारकों से स्वतंत्रपने उत्पन्न होती है। ध्रुव में एकाग्र होने पर जो स्वभावपर्याय हुई, वह धर्म है। इस पर्याय की कर्त्ता स्वयं पर्याय है। यहाँ आत्मा को जो पर्याय का कर्त्ता कहा है, वह (द्रव्य व पर्याय को एक मानकर) अभेद की अपेक्षा से कथन है।

"अनादि अज्ञान से तो कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति है, कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति से बन्ध है और उस बन्ध के निमित्त से अज्ञान है; इसप्रकार अनादि सन्तान (प्रवाह) है, इसलिए उसमें इतरेतराश्रय दोष भी नहीं आता।"

देखो, स्वरूप के भान बिना विकार का स्वामी बनकर जब जीव स्वयं विकार करता है, तब नवीन कर्म का बन्ध होता है। जो कर्म बँधता है, वह स्वयं स्वतः अपने कारण से बँधता है। कर्मरूप से बँधने की योग्यतावाले परमाणु स्वयं अपने कारण कर्मरूप से परिणमित होते हैं। वहाँ जीव और कर्म का एकक्षेत्रावगाह से रहने मात्र का सम्बन्ध है, किन्तु एक दूसरे का कर्त्ता-कर्म होनेरूप सम्बन्ध नहीं है।

इस बन्ध के निमित्त से अज्ञान है अर्थात् इस बन्ध के उदयकाल में स्वयं स्वतन्त्ररूप से नवीन अज्ञान करता है। तब पूर्व कर्म का बन्ध निमित्त होता है। बन्ध के कारण अज्ञान नहीं होता; किन्तु जब जीव स्वयं अपने कारण से ही अज्ञानरूप परिणमन करता है, तब पूर्व के कर्मबन्ध का उदय निमित्त कहा जाता है। बन्ध तो निमित्त है व उपादान स्वयं की—अपनी अज्ञान पर्याय है। नये कर्म बन्ध का निमित्त अज्ञानभाव है तथा इस अज्ञानभाव का निमित्त पुराना कर्मोदय है। इसप्रकार अनादि प्रवाह है, अतः इसमें इतरेतराश्रय दोष नहीं आता।

प्रश्न :—'मोहक्षयात्' शास्त्रों में तो ऐसा कथन आता है—इसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर :—'मोहक्षयात्' अर्थात् मोह के सर्वथा क्षय होने पर सर्वज्ञपद प्रगट होता है, परन्तु वहाँ स्व-दोष ही निश्चय से आवरण है तथा कर्म का निमित्त तो व्यवहार से आवरण है।

तथा जहाँ ऐसा आता है कि दो कारणों से कार्य होता है—एक उपादान कारण तथा दूसरा निमित्त कारण। वहाँ निमित्त के रूप में सहकारी (निमित्तरूप) भी कोई वस्तु है, उसका ज्ञान कराया है; किन्तु सहकारी (निमित्त) कारण से उपादान में कार्य होता है—यह बात बिल्कुल नहीं है। राग की उत्पत्ति आत्मा स्वतः अपने अज्ञानभाव से करता है तथा कर्म का बन्ध भी स्वतः अपनी योग्यता से होता है। विकार होने की स्वयं की योग्यता है; तथा जो कर्म-बन्ध हुआ, वह उसकी स्वयं की योग्यता से हुआ है। विकार के कारण कर्मों को बँधना पड़ा हो—ऐसा नहीं है। तथा कर्म के उदय के कारण विकार हुआ—ऐसा भी नहीं है। 'सर्वत्र योग्यता ही कार्य की साक्षात् साधक है।' निमित्त वास्तविक कारण नहीं है; उपचार से कारण कहा जाता है।

इसप्रकार जब तक आत्मा क्रोधादि कर्मों का कर्त्ता होकर परिणमित होता है, तब तक कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति है और तभी तक कर्मों का बन्ध है।

कदास्याः कर्तृकर्मप्रवृत्तेर्निवृत्तिरितिचेत् –

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव ।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से ॥७१॥

यदानेन जीवेनात्मनः आस्रवाणां च तथैव ।
ज्ञातं भवति विशेषांतरं तु तदा न बन्धस्तस्य ॥७१॥

इह किल स्वभावमात्रं वस्तु, स्वस्य भवनं तु स्वभावः । तेन ज्ञानस्य भवनं खल्वात्मा, क्रोधादेर्भवनं क्रोधादिः । अथ ज्ञानस्य यद्भवनं तन्न क्रोधादेरपि भवनं, यतो यथा ज्ञानभवने ज्ञानं भवद्विभाव्यते न तथा क्रोधादिरपि; यत्तु क्रोधादेर्भवनं तन्न ज्ञानस्यापि भवनं, यतो यथा क्रोधादिभवने क्रोधादयो भवंतो विभाव्यंते न तथा ज्ञानमपि । इत्यात्मनः

अब प्रश्न करता है कि इस कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति का अभाव कब होता है ? इसका उत्तर कहते हैं :–

यह जीव ज्यों ही आस्रवों का, त्यों हि अपने आत्म का ।
जाने विशेषांतर तब ही, बन्धन नहीं उसको कहा ॥७१॥

गाथार्थः – [यदा] जब [अनेन जीवेन] यह जीव [आत्मनः] आत्मा का [तथा एव च] और [आस्रवाणां] आस्रवों का [विशेषांतरं] अन्तर और भेद [ज्ञातं भवति] जानता है, [तदा तु] तब [तस्य] उसे [बन्धः न] बन्ध नहीं होता ।

टीका :– इस जगत में वस्तु है, वह (अपने) स्वभावमात्र ही है और 'स्व' का भवन (होना) वह स्वभाव है (अर्थात् अपना जो होना – परिणमना सो स्वभाव है); इसलिये निश्चय से ज्ञान का होना – परिणमना, सो आत्मा है और क्रोधादि का होना – परिणमना, सो क्रोधादि है । तथा ज्ञान का जो होना – परिणमना है, वह क्रोधादि का भी होना – परिणमना नहीं है; क्योंकि ज्ञान के होते (परिणमन के) समय जैसे ज्ञान होता हुआ मालूम पड़ता है, उसीप्रकार क्रोधादिक भी होते हुए मालूम नहीं पड़ते; और क्रोधादि का जो होना – परिणमना है, वह ज्ञान का भी होना – परिणमना नहीं है; क्योंकि क्रोधादि के होते (परिणमने के) समय जैसे

क्रोधादीनां च न खल्वेकवस्तुत्वम्। इत्येवमात्मात्मास्रवयोर्विशेषदर्शनेन यदा भेदं जानाति तदास्यानादिरप्यज्ञानजा कर्तृकर्मप्रवृत्तिर्निवर्तते, तन्निवृत्तावज्ञाननिमित्तं पुद्गलद्रव्यकर्मबन्धोऽपि निवर्तते। तथा सति ज्ञानमात्रादेव बन्धनिरोधः सिध्येत्।

क्रोधादिक होते हुए मालूम पड़ते हैं, वैसे ज्ञान भी होता हुआ मालूम नहीं पड़ता। इसप्रकार क्रोधादि और आत्मा का निश्चय से एकवस्तुत्व नहीं है।

इसप्रकार आत्मा और आस्रवों का विशेष (अन्तर) देखने से जब यह आत्मा उनका भेद (भिन्नता) जानता है, तब इस आत्मा के अनादि होने पर भी अज्ञान से उत्पन्न हुई (पर में) कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति निवृत्त होती है; उसकी निवृत्ति होने पर अज्ञान के निमित्त से होता हुआ पौद्गलिक द्रव्यकर्म का बन्ध भी निवृत्त होता है – ऐसा होने पर ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध सिद्ध होता है।

भावार्थ :– क्रोधादिक और ज्ञान भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं; न तो ज्ञान में क्रोधादि है और न क्रोधादि में ज्ञान है – ऐसा उनका भेद-ज्ञान हो, तब उनका एकत्वरूप का अज्ञान नाश होता है और अज्ञान के नाश हो जाने से कर्मबन्ध भी नहीं होता। इसप्रकार ज्ञान से ही बन्ध का निरोध होता है।

गाथा ७१ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

इस जगत में स्वभावमात्र ही वस्तु है और 'स्व' का भवन (होना) ही स्वभाव है; इसलिए निश्चय से ज्ञान का होना – परिणमना सो आत्मा है और क्रोधादिक का होना – परिणमना सो क्रोधादि है।

देखो! यह वस्तु की व्याख्या है। वस्तु स्वभावमात्र ही है अर्थात् जितना स्वभाव है, उतनी ही वस्तु (आत्मा) है। जितना विकार है, वह परमार्थ वस्तु (आत्मा) नहीं है। अहाहा! जिस भाव से तीर्थंकर या सर्वार्थसिद्धि का पद मिले, वह भाव भी आत्मा नहीं है – ऐसा कहते हैं।

'स्व' का भवन स्वभाव है। स्व का होना – परिणमना ही स्वभाव है – यह सिद्धान्त है; इसलिए निश्चय से ज्ञान का होना – परिणमना ही आत्मा है। अहाहा! निश्चय से ज्ञान का होना अर्थात् जैसा ज्ञानस्वभाव है, वैसा ही परिणमन करना आत्मा है। सम्यग्दर्शनपने, सम्यग्ज्ञानपने, सम्यक्चारित्रपने व अतीन्द्रिय-आनन्दपने परिणमना आत्मा का स्वभाव है।

प्रश्न :– नियमसार के शुद्धभाव अधिकार की गाथा ३८ में तो ऐसा कहा है कि जो त्रिकाली ध्रुव चैतन्यस्वभावमय वस्तु है, वह आत्मा है।

वहाँ संवर, निर्जरा तथा मोक्ष की पर्याय को हेय कहकर ये शुद्धपर्यायें भी आत्मा नहीं है – ऐसा कहा है। अतः यह कथन किस अपेक्षा से है ?

उत्तर :– भाई ! वहाँ अपेक्षा जुदी है। वहाँ तो ध्यान का ध्येय, तथा सम्यग्दर्शन का विषय त्रिकाली शुद्ध स्वभाव, शुद्ध चैतन्यमय वस्तु बतलाने का प्रयोजन है। एक त्रिकाली शुद्धवस्तु, अविनाशी आत्मा के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन आदि धर्म प्रगट होते हैं; इसलिए वहाँ मात्र उसे ही उपादेय कहा है। पर्याय तो प्रतिक्षण विनाशीक है तथा उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता, बल्कि विकल्प ही होते हैं – इसकारण संवर, निर्जरा तथा मोक्ष की पर्यायों को भी हेय कहा है। त्रिकाली ध्रुवद्रव्य में शामिल न होने से निर्मलपर्याय भी आत्मा नहीं है – ऐसा कहा है।

यहाँ तो कर्त्ता का कर्म बतलाने की अपेक्षा है; इसलिए कहते हैं कि जो रागरूप परिणमन नहीं करके स्वभावरूप – ज्ञानरूप परिणमन करे, वह आत्मा है। जो रागरूप परिणमन करे, वह आत्मा नहीं। आत्मा तो शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभावी वस्तु है, इसलिए निर्मल ज्ञान-आनन्दरूप परिणमन करनेवाला ही आत्मा है। आत्मा के स्वभाव के अनुरूप परिणमन को यहाँ आत्मा कहा है। जैसी शुद्धचैतन्यमय वस्तु है, वैसा ही (शुद्ध-चैतन्यमय) परिणमन होना, कर्त्ता का कर्म है – यहाँ यह बात है।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि दया, दान, व्रत आदि शुभरागरूप विकारी पर्यायें मेरे कर्म तथा मैं उनका कर्त्ता हूँ; किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि ज्ञानस्वभाव के लक्ष्य से जो निर्मल ज्ञानरूप परिणमन हुआ, वह मेरा कर्म है तथा पर के लक्ष्य से जो राग होता है, वह मेरा कर्म नहीं है। भाई ! यह वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म है ! लोगों ने बाह्य क्रियाकाण्ड को ही धर्म मान रखा है। उनमें कुछ लोगों को तो ऐसा लगता है कि इसप्रकार कहने से तो व्यवहार का लोप हो जाएगा, परन्तु यहाँ तो आचार्य भगवान स्पष्ट कहते हैं कि रागभाव तेरे स्वरूप में नहीं है और उसको तू अपना कर्म (कार्य) माने, तो यह तेरा अज्ञान है।

ज्ञान का होना – परिणमना आत्मा है तथा क्रोधादिक का होना – परिणमना क्रोधादि है। स्वभाव को भूलकर पुण्य-पाप के विकारीभावरूप होना विकार है, आत्मा नहीं। शुभरागरूप परिणमना स्वभाव के प्रति विरोधीभाव होने से क्रोध है – ऐसे क्रोधरूप परिणमित आत्मा, आत्मा नहीं, अनात्मा है। धर्म की बात में व जगत की बातों में बहुत अन्तर है। जगत माने या न माने, बात तो यही सत्य है। जगत तो अनादि से ही उल्टे रास्ते पर है, अतः उसकी क्या बात करें ?

"तथा ज्ञान का जो होना – परिणमना है, सो क्रोधादि का भी होना – परिणमना नहीं है; क्योंकि ज्ञान होते (परिणमन के) समय जैसे ज्ञान होता हुआ मालूम पड़ता है, उसीप्रकार क्रोधादि होते हुए मालूम नहीं पड़ते।"

ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा जिससमय ज्ञानरूप परिणमता है, उसीसमय विकाररूप नहीं परिणमता। अहाहा! जिसको शुद्धचैतन्य-स्वभाव की ओर झुकने से चैतन्य की रुचिपूर्वक अन्तर-परिणमन हुआ, उसको रागादि व क्रोधादि की रुचि नहीं है। एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकती। धर्मी जीव जब ज्ञानस्वभाव में प्रेमपूर्वक (रुचिपूर्वक) परिणमन करता है, उसीसमय राग में भी वैसी रुचिपूर्वक – प्रेमपूर्वक परिणमन करे – ऐसा बिल्कुल भी सम्भव नहीं है।

स्वभावरूप से परिणमन होना – यह ज्ञानी का कर्म है तथा रागरूप परिणमन होना – यह अज्ञानी का कर्म है। पर का कुछ करना-धरना तो आत्मा के स्वभाव में ही नहीं है। भाई! धर्म का तत्त्व बहुत सूक्ष्म है। विकल्प के द्वन्द्व छूटकर स्वभाव के आश्रय से निर्विकल्प निर्विकारी ज्ञान का परिणमन होना ही धर्म है। अहाहा! जब तीन कषाय का अभाव होकर आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द की लहर उठती है, तब बाहर में सहज नग्नदशा - मुनिदशा होती है। अन्दर में कषाय से नग्न और बाहर में वस्त्र से नग्न – ऐसे शुद्धचैतन्य के आनन्द में झूलती हुई मुनिदशा कोई अलौकिक चीज है।

अरूपी आत्मा का चैतन्यस्वभाव अतिसूक्ष्म है। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि शुभराग के परिणाम को पुण्य-पाप अधिकार में स्थूल कहा है। जो अपने सूक्ष्मस्वभाव से परिणमन करता है, उसे आत्मा कहते हैं; तथा जो राग-द्वेष के स्थूल विकारपने परिणमे, उसे आत्मा नहीं, अनात्मा कहते हैं। यहाँ कहते हैं कि जो चैतन्यस्वभाव से – आत्मभाव से परिणमन करता है, वही साथ ही साथ रागादि अनात्मभाव से भी परिणमन करे – ऐसा नहीं होता।

प्रश्न :– ज्ञानी के भी रागादि तो होते हैं न?

उत्तर :– हाँ, साधकदशा में ज्ञानी को राग होता है, परन्तु ज्ञानी के ज्ञानरूप परिणमते हुए वह राग ज्ञानरूप परिणमन से भिन्न रह जाता है। जो राग होता है, उसे ज्ञानी जानता हुआ प्रवर्त्तता है, उसका कर्त्ता नहीं बनता अर्थात् ज्ञानी राग का ज्ञाता-दृष्टा रहकर मात्र उसे जानता ही है, उससे तन्मय नहीं होता, ज्ञानी को उस राग की रुचि नहीं है, तथा उसका स्वामित्व एवं कर्तृत्व भी नहीं है।

जो ज्ञान का परिणमन है, वही क्रोधादिक का परिणमन नहीं है; क्योंकि ज्ञान के होने पर जैसे ज्ञान होता हुआ मालूम पड़ता है, उसीप्रकार क्रोधादि भी होते हुये मालूम नहीं पड़ते। अहाहा ! ज्ञानानन्द स्वभावी त्रिकाली ध्रुव वस्तु आत्मा जब ज्ञान व आनन्दस्वभाव से निर्मल परिणमन करती हुई भासित होती है, उससमय वह रागरूप या क्रोधादिरूप परिणमन करती हुई भासित नहीं होती। जब तक परिपूर्ण वीतरागता न हो, तब तक ज्ञानी को राग आता अवश्य है; परन्तु वह ऐसा मानता है कि मैं राग को जानता हुआ परिणमता हूँ, रागरूप नहीं परिणमता।

यह सुनकर कोई कहे कि ये सब तो निश्चय की बातें है, परन्तु भाई ! यह क्यों नहीं सोचते कि निश्चय की बात ही सत्य है। जैनतत्त्व मीमांसा में पण्डित फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री ने लिखा है कि – 'अपने स्वभाव की पुष्टि करना ही निश्चय है।'

भाई ! यह बात बहुत धीरज से समझने लायक है। पहले ऐसा सिद्ध किया है कि आत्मा स्वभावमात्र वस्तु है। प्रभु ! तू स्वभावमात्र वस्तु है, चैतन्यमात्र वस्तु है, राग व पुण्य-पाप तू नहीं है। अहाहा ! ऐसी चैतन्यस्वभावमय आत्मवस्तु को दृष्टि में लेने पर जो चैतन्यस्वभावरूप परिणमन होता है, वह धर्म है। तथा उससमय धर्मी जीव को जैसा चैतन्य का परिणमन होता हुआ मालूम पड़ता है, वैसा राग का परिणमन होता हुआ मालूम नहीं पड़ता। भाई ! बात बहुत सूक्ष्म है। कहते हैं कि दो क्रियायें एक साथ नहीं हो सकतीं।

अहाहा ! जब राग से भिन्न पड़कर आत्मा ज्ञानस्वभावरूप परिणमन करता है, तब ज्ञानी को ऐसा प्रतिभासित होता है कि 'मैं कर्त्ता हूँ तथा ज्ञान व आनन्द की पर्याय मेरा कर्म है।' 'मैं राग का कर्त्ता और राग-पर्याय मेरा कर्म' – ऐसा प्रतिभासित नहीं होता। अहो ! धर्म के स्तम्भ दिगम्बर सन्तों ने गजब की बातें की हैं। धर्म के स्वरूप की ऐसी बात अन्यत्र कहीं नहीं है।

अब कहते हैं कि क्रोधादि का होना – परिणमना सो ज्ञान का होना – परिणमना नहीं है; क्योंकि क्रोधादि होने के (परिणमने के) समय जैसे क्रोधादिक होते हुए मालूम पड़ते हैं, वैसे ज्ञान होता हुआ मालूम नहीं पड़ता।

जीव जब क्रोधादि कषाय की रुचिरूप परिणमन करता है, तब चैतन्यस्वभावरूप – ज्ञानरूप परिणमन करे, ऐसा नहीं हो सकता।

देखो ! कर्त्ता-कर्म सिद्ध करना है न ! अतः यहाँ दो बातें कहीं हैं।

१. जिसको चैतन्यस्वभावमय शुद्ध आत्मा की दृष्टि हुई है, उस ज्ञानी जीव को स्वयं ज्ञान, आनन्द व शान्तिरूप परिणमन का प्रतिभास है तथा राग, आकुलता एवं अशान्तिरूप परिणमन का प्रतिभास नहीं होता।

२. स्वभाव के भान बिना जब अज्ञानी जीव क्रोधादि कषाय की – राग की रुचिरूप परिणमन करता है, तब क्रोधादिकषायरूप हुआ मालूम पड़ता है; ज्ञानरूप – शुद्धरूप परिणमन करता हुआ मालूम नहीं पड़ता।

यहाँ तो चैतन्यस्वभाव तथा कर्म विभाव – इन दोनों को भिन्न किया है। पर्याय से जिसकी दृष्टि उठ गई है तथा द्रव्य स्वभाव पर जिसकी दृष्टि केन्द्रित हो गई है, उस जीव का ज्ञान व आनन्द ही कर्म है और वह ज्ञान व आनन्द का ही कर्त्ता है। वास्तव में तो पर्याय ही स्वयं कर्त्ता तथा पर्याय ही स्वयं कर्म है। ४७ नयों के अधिकार में जो ऐसा कहा है कि राग मेरा परिणमन है – ऐसा ज्ञानी जानता है, वहाँ ज्ञानी राग में मिल कर – एकत्व करके नहीं जानता, किन्तु राग से भिन्न रहकर जानता है। यहाँ यह कहते हैं कि जिनको भगवान पूर्णानन्दस्वरूप आत्मा का भान हुआ है, उन्हें ज्ञान व शान्ति का ही वेदन है। जो व्रत, तप, भक्ति, पूजा इत्यादि शुभराग में धर्म मानते हैं तथा जिनको राग की रुचि है – ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव स्वयं रागरूप परिणमित होते हुये राग का ही वेदन करते हैं, ज्ञान का नहीं। – दोनों जगह अपेक्षा जुदी-जुदी है।

प्रश्न :– तो क्या ज्ञानी को राग का परिणमन है ही नहीं ?

उत्तर :– भाई ! ऐसा नहीं है। पर्याय में जब तक पुरुषार्थ की मन्दता है, तब तक ज्ञानी को भी (यथासम्भव) राग का परिणमन है, किन्तु ज्ञानी मात्र उसे जानते हैं। व्यवहार जानने योग्य प्रयोजनवान है – ऐसा १२वीं गाथा में कहा है न ? अर्थात् अशुद्धता के अंश राग को वह जानता है; उसे जानता हुआ परिणमन करता है, करता हुआ नहीं। भाई ! यहाँ कहते हैं कि स्वभाव की रुचि के परिणमन के समय विकार की रुचि का परिणमन तथा विकार की रुचि के परिणमन के समय स्वभाव की रुचि का परिमणन – इसप्रकार एक समय में एक साथ दो कार्य (परिणाम) नहीं हो सकते। यह बात तो त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ परमेश्वर की दिव्यध्वनि में आयी है, तथा उसे ही सन्तों ने स्वयं अनुभव करके जगत के समक्ष स्पष्टता से प्रगट किया है।

ज्ञानी को राग से भिन्न होने पर जब भेदज्ञान हुआ, सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान हुआ, तब उसे ऐसा भासित होता है कि मैं शुद्धपने परिणमन

करता हूँ। वहाँ अशुद्धपरिणमन भी है, किन्तु वह वहाँ (द्रव्यदृष्टि की प्रधानता में) गौण है। भेदज्ञान के अभाव में जहाँ अकेला अशुद्धतारूप परिणमन भासित होता है, वहाँ मिथ्यादृष्टि को आत्मा शुद्धरूप से भासित ही नहीं होता। 'मैं पर की दया पालता हूँ'—ऐसे कर्त्तापने के भावभासन में 'मैं शुद्ध चैतन्यघन ज्ञातारूप परिणमन करता हूँ'—ऐसा भावभासन होना सम्भव ही नहीं है। ज्ञाताभाव के साथ कर्त्ता नहीं तथा कर्त्ताभाव के साथ ज्ञाता नहीं। अहो ! दिगम्बर सन्तों ने कोई अलौकिक मार्ग बताया है। 'इसप्रकार क्रोधादि और आत्मा के निश्चय से एकवस्तुपना नहीं है।' आत्मा का स्वभाव शुद्ध चैतन्य है तथा क्रोधादि आस्रव आत्मा से विरुद्ध स्वभाववाले हैं। इसकारण आत्मा का स्वभाव तथा क्रोधादि विभाव—ये दोनों एक वस्तु नहीं हैं। क्रोधादिभाव तो आत्मा के स्वभाव का अनादर व अरुचि होने पर हुए हैं। इसकारण आत्मा व क्रोधादिभाव एक नहीं हैं।

अहाहा ! आत्मा वस्तु शुद्धचिद्घन अतीन्द्रिय-आनन्द का पिण्ड प्रभु है। जिसको इसकी अन्तर्दृष्टि हुई, उसे तो आत्मा ज्ञानरूप, निराकुल आनन्दरूप परिणमित हुआ भासित होता है; परन्तु क्रोधादि विकार के प्रेम में फँसकर जो पर्यायबुद्धि जीव विकाररूप से परिणमित होता है, उसे शुद्धचैतन्य का ज्ञातापने परिणमन भासित नहीं होता—ज्ञातापने परिणमन नहीं होता। अहाहा ! कोई दुर्द्धर तप करे, मौन धारण करे, या छह काय के जीवों की रक्षा करे; फिर भी यदि उसे राग की—क्रोधादि की रुचि है तो उसे चैतन्य का शुद्ध ज्ञातापने से परिणमन भासित नहीं होता, ज्ञातापने से परिणमन नहीं होता। 'भाई ! जिसको परलक्ष्यी क्षयोपशमविशेष की अधिकता (गौरव) भासित होती है, उसे भी विकारी परिणमन ही भासित होता है। परसत्तावलम्बी ज्ञान के प्रेम में उसे चैतन्यस्वभाव के प्रति अनादर ही रहता है। उसे चैतन्यस्वरूपी आत्मा तथा उसके निर्मल ज्ञानपरिणमन की खबर ही नहीं है।

लोगों को यह निश्चय की बात कठिन लगती है, 'एकान्त हो गया'—ऐसा होहल्ला करते हैं, परन्तु भाई ! यह एकान्त नहीं, सम्यक्-एकान्त है। बापू ! वीतरागधर्म की बात जरा धैर्य रखकर सुनने जैसी है, समझने जैसी है। धर्म बाहर की पण्डिताई का विषय नहीं है, यह तो अन्तर की चीज है, अनुभव की वस्तु है।

कहा भी है कि वस्तु का स्वभाव धर्म है। वस्तु का स्वभाव शुद्ध ज्ञान व आनन्दमय है। यही इसका त्रिकाली धर्म है। उस त्रिकाली वस्तु को लक्ष्य में लेकर निर्मल ज्ञान व आनन्दरूप परिणमित होना प्रगट धर्म है।

त्रिकाली का अनादर करके दया, दान, व्रत, आदि पुण्यभाव के प्रेम में अटक कर विकाररूप से परिणमन करना – स्वभावविरुद्ध होने से अधर्म है।

अन्तर में चैतन्यमूर्त्ति आनन्द का नाथ भगवान आत्मा विराजमान है। जिसको इसका स्वपने अस्तित्व भासित नहीं हुआ, उसने अन्यत्र कहीं न कहीं तो स्वपने अस्तित्व माना ही है न ? उसने पर्याय में हुये क्रोधादि कषायरूप विकार में स्वरूप का अस्तित्व स्वीकार कर लिया है अर्थात् वह स्वभाव को भूलकर क्रोधादि कषायरूप विभाव-स्वभावपने परिणमित होता है। यही विभाव-परिणमन अधर्म है।

वर्त्तमानकाल के लोग बड़े भाग्यशाली हैं कि उन्हें इस काल में ऐसी बात सुनने को मिल गई है। प्रभु ! यह तो सर्वज्ञ-वीतराग की वाणी है – ऐसा सुनकर अन्तर में निर्णय करोगे तो निहाल हो जाओगे। अभी आधा घण्टे के बाद (सायंकालीन प्रवचन के बाद) मन्दिरजी में भक्ति होगी, किन्तु यहाँ कहते हैं कि भगवान की भक्ति का भाव राग है। 'मैं इस रागरूप हूँ' – ऐसा भासित होना अधर्म है।

प्रश्न :– 'समकिती निरास्रव है, उसे राग नहीं होता' – ऐसा कथन शास्त्र में आता है न ? उसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर :– हाँ, ऐसा कथन आता है; किन्तु उसकी क्या अपेक्षा है – यह जानना जरूरी है। दृष्टि के विषयरूप त्रिकाली शुद्धस्वरूप में राग नहीं है – इस अपेक्षा से ज्ञानी को राग नहीं है, ऐसा कहा है। यदि ज्ञान की अपेक्षा से देखें तो दसवें गुणस्थान में भी ज्ञानी को सूक्ष्म लोभ का परिणाम है, ज्ञानी की साधक दशा में ज्ञानधारा व कर्मधारा – दोनों धारायें एकसाथ रहती हैं। जबकि अज्ञानी को अकेली कर्मधारा – राग की रुचिरूप मिथ्यात्वधारा ही रहती है।

ज्ञानी को अकेली ज्ञानधारा है, परन्तु साथ में जो स्वभाव से विरुद्ध रागधारा है; उसे ज्ञानी ज्ञान का ज्ञेय बना लेता है। जितनी रागधारा है, उतना दुःख है, बन्धन है – ऐसा ज्ञानी जानता है। सम्यग्दृष्टि विषय के राग में अटका हो तो भी राग का ज्ञायक ही रहता है। अर्थात् 'मैं राग से भिन्न ज्ञानस्वरूप ही हूँ' – इसप्रकार ज्ञानरूप से ही परिणमन करता है। ज्ञानी दोनों को भिन्न-भिन्न करके ज्ञानरूप से परिणमता है।

अहाहा ! भगवान आत्मा अन्दर में आनन्द का धाम है। उसकी एकसमय की ज्ञानपर्याय में सम्पूर्ण ध्रुव भगवान भासित होता है, इसकी एकसमय की श्रद्धा की पर्याय में पूर्णानन्द का नाथ प्रतीति में आता है –

इसका नाम धर्म है। ऐसे धर्मरूप ज्ञान का होना – परिणमना मोक्षमार्ग है; परन्तु जिसको अपने ध्रुव चैतन्यस्वभाव का भान नहीं है, वह वर्त्तमान राग की रुचि में अटक जाता है तथा कृत्रिम राग का अनुभव करनेवाला क्रोधादि की ही क्रिया करनेवाला है, वह स्वभाव के अभावरूप विभाव की ही क्रिया करनेवाला है – वह संसार में ही रखड़नेवाला है। दिगम्बर सन्तों ने जगत की टीका-टिप्पणी की परवाह किये बिना ही यह नग्न (स्पष्ट) सत्य जाहिर कर दिया है। कोई माने या न माने – इसके लिए सब स्वतन्त्र हैं, किन्तु वस्तुस्वरूप तो ऐसा ही है।

इसप्रकार निश्चय से आत्मा व क्रोधादि एक वस्तु नहीं है। भाई ! यदि दोनों एकवस्तु हों तो भेदज्ञान होने पर भिन्न कैसे हो सकेंगे ! परन्तु यह सूक्ष्म बात लोगों को बैठती नहीं है, जमती नहीं है। इसकारण बाहर के व्यवहार (व्रत, तप आदि) में चढ़ जाते हैं, उलझ जाते हैं और ऐसा मान लेते हैं कि इसी से लाभ (धर्म) होगा, परन्तु भाई ! इस बाहरी आचरणादि से तो कुछ भी धर्म नहीं होगा।

लोग कहते हैं कि आप जिसके माथे पर लकड़ी फेर देते हैं, वे पैसे वाले हो जाते हैं पर यह बात बिलकुल झूठ है, क्योंकि हम किसी पर लकड़ी फेरते नहीं, लकड़ी किसी पर फिरती नहीं, और लकड़ी के फिरने से किसी का कुछ होता नहीं।

यह परमसत्य बात बाहर आई है। जो सत्समागम करके महीने-दो महीने ध्यान से सुनते हैं, उनके उससमय शुभभाव से कुछ पुण्य बँधता हो और उसके फलस्वरूप बाह्य-सामग्री दिखती हो, सो सामग्री का आना या नहीं आना पुण्य-पाप के आधीन है। शुभभाव, पुण्य तथा बाह्य-सामग्री सब अपने-अपने कारण होते हैं, किसी अन्य के कारण नहीं।

अब कहते हैं कि – 'इसप्रकार आत्मा और आस्रवों का विशेष (अन्तर) देखने से जब यह आत्मा उनका भेद (भिन्नता) जानता है, तब इस आत्मा के अनादि होने पर भी अज्ञान से उत्पन्न हुई – ऐसी कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति से निवृत्ति होती है।'

देखो ! यद्यपि जीव को कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति अनादि से है, तथापि वह अनादिपना प्रवाहरूप से – सन्तानक्रम से है, अतः मिट सकती है। तथा वह अज्ञान के कारण उत्पन्न हुई है, स्वभाव से नहीं; अतः चैतन्य-स्वभाव के ज्ञान द्वारा मिट सकती है। 'मैं राग का कर्त्ता व राग मेरा कर्म' – ऐसी अनादि अज्ञान से उत्पन्न हुई कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति भेदज्ञान होने पर

समाप्त हो जाती है। ज्ञान में क्रोधादि नहीं है तथा क्रोधादि में ज्ञान नहीं है – ऐसा दोनों में स्वभावभेद व वस्तुभेद जानकर ज्योंही अन्तर्दृष्टि सहित भेदज्ञान हुआ, त्योंही अज्ञान से उत्पन्न हुई कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति से जीव निवृत्त हो जाता है।

संवर-अधिकार में १३१वें कलश में आता है कि :-

"भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धाः ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धाः बद्धाः ये किल केचन ।।१३१।।

आज तक जितने भी जीव सिद्ध हुए हैं, वे सब भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं। तथा जितने जीव बँधे हैं, वे सब भेदविज्ञान के अभाव से ही बँधे हैं। जीव का अज्ञान अनादि से है, उसी के कारण कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति है। भेदविज्ञान होने पर वह कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति निवृत्त हो जाती है। उसकी निवृत्ति होने पर अज्ञान के निमित्त से होता हुआ पौद्गलिक द्रव्यकर्म का बन्ध भी निवृत्त होता है – ऐसा होने पर ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निषेध सिद्ध होता है।"

आचार्य कहते हैं कि जब क्रोध तथा आत्मा का भेदविज्ञान हो जाता है, तब उनके एकत्वरूप अज्ञान का अभाव हो जाता है एवं नया कर्म भी नहीं बँधता। इसप्रकार ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निषेध सिद्ध होता है। यहाँ ज्ञान का अर्थ केवल बाहर का जानपना नहीं समझना, बल्कि राग से भिन्न होकर स्वभाव की प्रतीति, उसी का ज्ञान, उसी में रमणता – ऐसी क्रिया समझना। इसी से बन्ध का निरोध होता है, अर्थात् नवीन कर्मबन्ध नहीं होता।

गाथा ७१ के भावार्थ पर प्रवचन

क्रोधादि व ज्ञान भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं, ज्ञान में क्रोधादि नहीं हैं। देखो, संवर अधिकार में आता है कि स्वभाव व विभाव – दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। विभाव की उत्पत्ति का आधार आत्मा नहीं है। अहाहा! चिदानन्दघनस्वरूप भगवान आत्मा का भान होने पर उसमें क्रोधादि नहीं आते, तथा क्रोधादि के परिणाम में ज्ञान नहीं है – इसप्रकार ज्ञान व क्रोधादि भिन्न हैं – ऐसा भेदज्ञान हुआ, तब उसके एकपने का – एकत्व का अज्ञान मिट जाता है। अनादि से जीव को दया, दान, व्रत, तप आदि शुभ-भाव तथा शुद्ध चैतन्यस्वभाव भगवान – इन दोनों में एकपनेरूप – एकत्वरूप अज्ञान है। भेदज्ञान होने पर यह अज्ञान मिट जाता है। अज्ञान

मिट जाने से नवीन कर्म का वन्ध नहीं होता। इसप्रकार ज्ञानमात्र से ही वन्ध का निषेध सिद्ध होता है।

जब हम स्थानकवासी सम्प्रदाय में थे, तब हमारे गुरु श्री हीराचन्दजी महाराज बहुत सरल, भद्रपरिणामी व सज्जन थे। हमें उनके लिए कभी-कभी ऐसा विचार आता था कि ऐसी बात उन्हें सुनने को भी कभी नहीं मिली लेकिन यह बात तो उससमय हमने भी नहीं सुनी थी। बस, छह काय के जीवों की दया पालना, व्रत, तप आदि बाहरी क्रियाएँ करना – यहीं तक धर्म सीमित था। भाई! वीतरागमार्ग लौकिकजनों की मान्यताओं से सर्वथा भिन्न है। राग की क्रिया धर्म नहीं, किन्तु अन्तर के अनुभव की क्रिया ही वास्तविक धर्म है। अहा! यह बात जिसके हृदय में बैठे, वह सत्यमार्ग को प्राप्त कर आत्मा का कल्याण कर लेगा।

आप करतार भयौ आतम धरम कौ

प्रथम अग्यानी जीव कहै मैं सदीव एक,
दूसरौ न और मैं ही करता करम कौ।
अन्तर विवेक आयौ आपा-पर भेद पायौ,
भयौ बोध गयौ मिटि भारत[1] भरम कौ॥
भासे छहौं दरव के गुन परजाय सब
नासे दुख लख्यौ मुख पूरन परम[2] कौ।
करम कौ करतार मान्यौ पुद्गलपिण्ड
आप करतार भयौ आतम धरम कौ॥ २॥

–पं० बनारसीदासजी; समयसार नाटक, कर्त्ता-कर्म-क्रिया द्वार

१. युद्ध, २. परमात्मा।

कथं ज्ञानमात्रादेव बन्धनिरोध इति चेत् –

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीयभावं च ।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो ॥७२॥

ज्ञात्वा आस्रवाणामशुचित्वं च विपरीतभावं च ।
दुःखस्य कारणानीति च ततो निवृत्तिं करोति जीवः ॥७२॥

जले जंबालवत्कलुषत्वेनोपलभ्यमानत्वादशुचयः खल्वास्रवाः, भगवानात्मा तु नित्यमेवातिनिर्मलचिन्मात्रत्वेनोपलंभकत्वादत्यन्तं शुचिरेव । जड़स्वभावत्वे सति परचेत्यत्वादन्यस्वभावाः खल्वास्रवाः, भगवानात्मा तु नित्यमेव विज्ञानघनस्वभावत्वे सति स्वयं चेतकत्वादनन्यस्वभाव एव ।

अब पूछता है कि ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध कैसे होता है ? उसका उत्तर कहते हैं :–

अशुचिपना, विपरीतता ये आस्रवों का जान के ।
अरु दुःखकारण जानके, इनसे निवर्तन जीव करे ॥७२॥

गाथार्थ :– [आस्रवाणाम्] आस्रवों की [अशुचित्वं च] अशुचिता और [विपरीतभावं च] विपरीतता तथा [दुःखस्य कारणानि इति] वे दुःख के कारण हैं – ऐसा [ज्ञात्वा] जानकर [जीवः] जीव [ततः निवृत्तिं] उनसे निवृत्ति [करोति] करता है ।

टीका :– जल में सेवाल (काई) है, सो मल या मैल है; उस सेवाल की भाँति आस्रव मलरूप या मैलरूप अनुभव में आते हैं; इसलिये वे अशुचि हैं – अपवित्र हैं और भगवान आत्मा तो सदा ही अतिनिर्मल चैतन्यमात्र स्वभावरूप से ज्ञायक है, इसलिये अत्यन्त शुचि ही है – पवित्र ही है – उज्वल ही है । आस्रवों के जड़स्वभावत्व होने से वे दूसरे के द्वारा जानने योग्य हैं, (क्योंकि जो जड़ हो, वह अपने को तथा पर को नहीं जानता; उसे दूसरा ही जानता है) इसलिये वे चैतन्य से अन्य स्वभाववाले हैं और भगवान आत्मा तो अपने को सदा विज्ञानघनस्वभावपना होने से स्वयं ही चेतक (ज्ञाता) है, (स्वयं को और पर को जानता है) इसलिये वह चैतन्य से अनन्य स्वभाववाला ही है (अर्थात् चैतन्य से अन्य स्वभाववाला नहीं है) ।

आकुलत्वोत्पादकत्वाद्दुःखस्य कारणानि खल्वास्रवाः, भगवानात्मा तु नित्यमेवानाकुलत्वस्वभावेनाकार्यकारणत्वाद्दुःखस्याकारणमेव। इत्येवं विशेषदर्शनेन यदैवायमात्मात्मास्रवयोर्भेदं जानाति तदैव, क्रोधादिभ्य आस्रवेभ्यो निवर्तते, तेभ्योऽनिवर्तमानस्य पारमार्थिकतद्भेदज्ञानासिद्धेः। ततः क्रोधाद्यास्रवनिवृत्त्यविनाभाविनो ज्ञानमात्रादेवाज्ञानजस्य-पौद्गलिकस्य कर्मणो बन्धनिरोधः सिध्येत्। किं च यदिदमात्मास्रवयोर्भेदज्ञानं तत्किमज्ञानं किं वा ज्ञानम्? यद्यज्ञानं तदा तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेषः। ज्ञानं चेत् किमास्रवेषु प्रवृत्तं किं वास्रवेभ्यो निवृत्तम्? आस्रवेषु प्रवृत्तं चेत्तदापि तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेषः। आस्रवेभ्य निवृत्तं चेत्तर्हि कथं न ज्ञानादेव बन्धनिरोधः। इति निरस्तोऽज्ञानांशः क्रियानयः। यस्त्वात्मास्रवयोर्भेदज्ञानमपि नास्रवेभ्यो निवृत्तं भवति, तज्ज्ञानमेव न भवतीति ज्ञानांशोज्ञाननयोऽपि निरस्तः।

आस्रव आकुलता के उत्पन्न करनेवाले हैं, इसलिये दुःख के कारण हैं और भगवान आत्मा तो सदा ही निराकुलतास्वभाव के कारण किसी का कार्य तथा किसी का कारण न होने से, दुःख का अकारण ही है। अर्थात् दुःख का कारण नहीं है। इसप्रकार विशेष (अन्तर) को देखकर जब यह आत्मा, आत्मा और आस्रवों के भेद को जानता है, उसी समय क्रोधादि आस्रवों से निवृत्त होता है; क्योंकि उनसे जो निवृत्त नहीं है; उसे आत्मा और आस्रवों के पारमार्थिक (यथार्थ) भेदज्ञान की सिद्धि ही नहीं हुई। इसलिये क्रोधादिक आस्रवों से निवृत्ति के साथ जो अविनाभावी है—ऐसे ज्ञानमात्र से ही अज्ञानजन्य पौद्गलिक कर्म के बन्ध का निरोध होता है।

जो यह आत्मा और आस्रवों का भेदज्ञान है, सो अज्ञान है या ज्ञान? यदि अज्ञान है तो आत्मा और आस्रवों के अभेदज्ञान से उसकी कोई विशेषता नहीं हुई। तथा यदि ज्ञान है तो वह आस्रवों में प्रवृत्त है या उनसे निवृत्त? यदि आस्रवों में प्रवृत्त होता है तो भी आत्मा और आस्रवों के अभेदज्ञान से उसकी कोई विशेषता नहीं हुई और यदि आस्रवों से निवृत्त है तो ज्ञान से ही बन्ध का निरोध सिद्ध हुआ क्यों न कहलायेगा? (सिद्ध हुआ ही कहलायेगा।)—ऐसा सिद्ध होने से अज्ञान के अंश—ऐसे क्रियानयका खण्डन हुआ। और यदि आत्मा और आस्रवों का भेदज्ञान आस्रवों से निवृत्त न हो तो वह ज्ञान ही नहीं है—ऐसा सिद्ध होने से ज्ञान के अंश ऐसे (एकान्त) ज्ञाननय का भी खण्डन हुआ।

भावार्थ :—आस्रव अशुचि हैं, जड़ हैं, दुःख के कारण हैं और आत्मा पवित्र है, ज्ञाता है, सुखस्वरूप है। इसप्रकार लक्षणभेद से दोनों

को भिन्न जानकर आस्रवों से आत्मा निवृत्त होता है और उसे कर्म का बन्ध नहीं होता। आत्मा और आस्रवों का भेद जानने पर भी यदि आत्मा आस्रवों से निवृत्त न हो तो वह ज्ञान ही नहीं, किन्तु अज्ञान ही है। यहाँ कोई प्रश्न करे कि अविरत सम्यग्दृष्टि को मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी प्रकृतियों का तो आस्रव नहीं होता, किन्तु अन्य प्रकृतियों का तो आस्रव होकर बन्ध होता है; इसलिये वह ज्ञानी है या अज्ञानी ? उसका समाधान— सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानी ही है, क्योंकि वह अभिप्रायपूर्वक के आस्रवों से निवृत्त हुआ है। उसे प्रकृतियों का जो आस्रव तथा बन्ध होता है—वह अभिप्रायपूर्वक नहीं है। सम्यग्दृष्टि होने के बाद परद्रव्य के स्वामित्व का अभाव है; इसलिये जब तक उसके चारित्रमोह का उदय है, तब तक उसके उदयानुसार जो आस्रव-बन्ध होता है, उसका स्वामित्व उसको नहीं है। अभिप्राय में तो वह आस्रव-बन्ध से सर्वथा निवृत्त ही होना चाहता है; इसलिये वह ज्ञानी ही है।

जो यह कहा है कि ज्ञानी को बन्ध नहीं होता, उसका कारण इसप्रकार है :— मिथ्यात्वसम्बन्धी बन्ध जो कि अनन्त संसार का कारण है, वही यहाँ प्रधानतया विवक्षित है। अविरति आदि से जो बन्ध होता है, वह अल्प स्थिति-अनुभागवाला है, दीर्घ संसार का कारण नहीं है; इसलिये वह प्रधान नहीं माना गया। अथवा तो ऐसा है कि ज्ञान बन्ध का कारण ही नहीं है। जब तक ज्ञान में मिथ्यात्व का उदय था, तब तक वह अज्ञान कहलाता था और मिथ्यात्व के जाने के बाद अज्ञान नहीं, किन्तु ज्ञान ही है। उसमें जो कुछ चारित्रमोह सम्बन्धी विकार है, उसका स्वामी ज्ञानी नहीं है; इसलिये ज्ञानी के बन्ध नहीं है, क्योंकि विकार जो कि बन्धरूप है और बन्ध का कारण है, वह तो बन्ध की पंक्ति में है, ज्ञान की पंक्ति में नहीं। इस अर्थ का समर्थनरूप कथन आगे गाथाओं में आयेगा।

गाथा ७२ की उत्थानिका, गाथा व टीका पर प्रवचन

'अब शिष्य पूछता है कि ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध कैसे हो जाता है ? राग से भिन्न होने पर जिसको आत्मज्ञान हुआ, उसका बन्ध रुक जाता है—यह किसप्रकार है ?' अहाहा ! शिष्य जिज्ञासा से पूछता है कि जिसको आत्मज्ञान हुआ, श्रद्धान हुआ, आत्मा में स्थिरता—रमणता हुई। आनन्द आदि अनन्तगुण जो शक्तिरूप से विद्यमान हैं, वे अंशरूप में पर्याय में भी जिसे प्रगट हुये, उस जीव को बन्ध का निरोध होता है। वह किसप्रकार होता है ?—यह कहते हैं।

'जल में सेवाल (काई) है, सो मल या मैल है; उस सेवाल की भाँति आस्रव मलरूप या मैलरूप अनुभव में आते हैं, इसलिए वे अशुचि हैं—अपवित्र हैं।' देखो ! यहाँ बहुवचन का प्रयोग है, इसमें पाप व पुण्य—दोनों भाव आ गये—ये मलरूप-मलिनरूप अनुभव में आते हैं, इसलिए अशुचि हैं। इसीप्रकार दया, दान व्रत, भक्ति आदि के शुभभाव भी आस्रव हैं, अशुचि हैं, मैल हैं।

'हाड़, माँस, चमड़ा आदिमय शरीर अशुचि है'—यह बात तो दूर ही रही, तथा 'पापभाव अशुचि हैं, अपवित्र हैं'—यह भी सभी कहते हैं; यहाँ तो यह कहते हैं कि 'दया, दान, व्रत आदि रूप जो पुण्यभाव हैं'—वे भी अशुचि हैं, अपवित्र हैं। अहाहा ! जिस भाव से तीर्थंकर नामकर्म बँधता है, वह भाव भी मलिन है, ऐसा यहाँ कहते हैं। शुभभावों में धर्म माननेवाले अज्ञानियों को कठिन लगती है, अटपटी लगती है, बुरी लगती है, परन्तु स्वरूप के रसिक—आस्वादी ज्ञानी पुरुष तो शुभभावों को—पुण्यभावों को मलिन ही जानते हैं, इसकारण हेय मानते हैं। राग की चाहे जितनी मन्दता का शुभ परिणाम क्यों न हो, तथापि वह मैल है, अशुचि है, जहररूप है। शास्त्र में पुण्य भाव को किसी जगह व्यवहार से अमृतरूप भी कहा है, तथापि वह वास्तव में तो जहर ही है। अमृत का सागर तो एकमात्र भगवान आत्मा है। जिनको अन्दर में ऐसा भान हुआ हो, स्वाद आया हो—उन धर्मी जीवों को आत्मा के भानपूर्वक जो राग की मन्दता का परिणाम होता है, उस आत्मभान का आरोप करके साथ में होनेवाले शुभराग को व्यवहार से अमृत कह दिया गया है, तथापि निश्चय से जहर तो जहर ही है, अशुचि है, अपवित्र है।

'भगवान आत्मा तो सदा ही अति निर्मल चैतन्यमात्र स्वभावपने से ज्ञायक होने से अत्यन्त शुचि ही है, पवित्र ही है, उज्ज्वल ही है। आचार्यदेव ने यहाँ आत्मा को 'भगवान आत्मा' कहकर सम्बोधित किया है।

प्रश्न :—क्या आत्मा इससमय भी भगवान है ?

उत्तर :—हाँ, वह आज भी भगवान है और तीनों काल में भगवान है। यदि आज शक्तिरूप से भगवानपना न हो तो पर्याय में भगवानपना कहाँ से प्रगट होगा ? 'सदा ही'—ऐसा स्पष्ट कहा है न ? इससे सिद्ध होता है कि आत्मा सदैव भगवानस्वरूप ही है।

अहाहा ! आचार्यदेव 'भगवान आत्मा' कहकर मोहनिद्रा से जगाते हैं। जिसतरह माता पालने में सोते हुये बालक को उसके गुणों का बखान करके जगाती है कि—'मेरा बेटा सयाना रे ! वह तो पाटे पै बैठ नहाये रे !'

उसीप्रकार यहाँ सन्त इस संसारी प्राणी को 'भगवान आत्मा' कहकर जगाते हैं। जाग रे जाग भगवान ! तेरा जागने का समय आ गया है, अब नींद में समय नहीं खोना है – इसप्रकार लोरियों से जिनवाणी माता मोहनींद से संसारीजीवों को जगाती है।

पुण्य-पाप के परिणाम तो मलिन हैं और भगवान आत्मा तो सदा ही अतिनिर्मल है। 'सदा ही' अर्थात् तीनों काल आत्मा अतिनिर्मल है। एकेन्द्रिय-निगोद में हो या पंचेन्द्रिय पर्याय में, वस्तु (द्रव्य) तो त्रिकाल निर्मलानन्द चैतन्यमय प्रभु ही है। यहाँ निर्मल न कहकर 'अतिनिर्मल' कहा है। अर्थात् आत्मद्रव्य निर्मल, उसका गुण निर्मल तथा उसकी कारण-पर्याय भी निर्मल – इसप्रकार तीनों काल आत्मा अतिनिर्मल है। अहाहा ! पवित्रता के स्वभाव से भरा हुआ, निर्मलानन्द का नाथ, चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा सदा ही अतिनिर्मल है, पवित्र है। जानना....जानना ....जानना – इसप्रकार जाननस्वभावरूप ज्ञायक होने से वह अत्यन्त पवित्र ही है, उज्वल ही है क्योंकि उसका स्वरूप ही ऐसा है।

आस्रव कहने पर पुण्य-पाप दोनों ही आ जाते हैं। सात तत्त्वों में जो आस्रवतत्त्व कहा है, उसमें पुण्य-पाप दोनों ही गर्भित हैं। जहाँ नौ तत्त्व कहे गये हैं, वहाँ पुण्य-पाप को शामिल करके नौ कहे हैं। ज्ञानी को भी शुभाशुभ दोनों भाव आते हैं, परन्तु उसके ज्ञान में ये शुभाशुभ भाव स्वभाव से भिन्नपने रहते हैं। अहाहा ! अतिनिर्मल निज चैतन्यस्वभाव का अनुभव करनेवाला ज्ञानी शुभाशुभ भावों को – पुण्य-पाप के भावों को एकरूप – एक ही जाति के जानता है। पापवत् पुण्य के भावों को भी वह छोड़ने योग्य – हेय जानता है और ऐसा ही मानता है।

देखो ! श्रेणिक राजा क्षायिकसमकिती थे, उनके हजारों रानियाँ थीं; उनके आश्रित हजारों राजा उनकी सेवा करते थे; अपार वैभव था; पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण विषयों की प्रवृत्ति भी थी ; तथापि उनके उससमय भी 'आत्मा आस्रवों से भिन्न है' – ऐसा भेदज्ञान वर्तता था। जिससमय चारित्रमोह का दोष था, उसीसमय 'मैं इस दोष से भिन्न हूँ' – ऐसा भान भी था। अहाहा ! मैं तो राग से भिन्न विज्ञानघनस्वरूप अतिनिर्मल हूँ' – ऐसा जो भान हुआ, वह क्षणमात्र के लिए भी हटता नहीं है। धर्मी जीव को अन्तरंग में ऐसी जो भेदज्ञान की क्रिया वर्तती है, उससे बन्ध का सहज निरोध हो जाता है – यह एक बोल हुआ।

अब दूसरा बोल कहते हैं :— आस्रवों के जड़स्वभावत्व होने से वे दूसरे के द्वारा जानने योग्य हैं, क्योंकि जो जड़ है, वह अपने को तथा पर को नहीं जानता, उसे दूसरा ही जानता है। अतः वे चैतन्य से अन्यस्वभाववाले हैं; शुभराग हो या अशुभराग — दोनों ही अचेतन हैं। वे न तो स्वयं को ही जानते हैं और न पर को। वे दूसरों के द्वारा जाने जाते हैं। गजब बात है भाई ! जिस भाव से तीर्थंकर प्रकृति बँधती है या जिस भाव से इन्द्रपद मिलता है, वह भाव भी जड़-अचेतन है; अन्यथा इससे बन्ध कैसे हो ? पुण्य-पाप का भाव तो अन्धकार है। दया, दान, भक्ति आदि के परिणाम अन्धकार हैं, चैतन्य से शून्य हैं। वे स्व-पर को जानते नहीं बल्कि चैतन्य द्वारा जाने जाते हैं; इसलिए वे चैतन्य से अन्यस्वभाववाले हैं।

शत्रुंजय पहाड़ पर पाँचों पाण्डव मुनिअवस्था में ध्यान में लीन थे। जब उन पर दुर्योधन के भानजे द्वारा उपसर्ग किया गया, तब युधिष्ठिर, भीम व अर्जुन — ये तीन तो विकल्प तोड़कर स्वरूप में स्थिर हो गये और मोक्ष साध लिया, परन्तु सहदेव व नकुल को जरा-सा विकल्प उठ गया कि 'अरे ! मुनिराजों पर ऐसा उपसर्ग ! अग्नि में धगधगाते हुए लोहे के लाल-लाल गहने पहना दिये, अरे ! इन मुनिराजों की कैसी दशा होगी' — इस शुभविकल्प के फल में उन मुनिराजों को तेतीस सागर की सर्वार्थसिद्धि की आयु बँधी, इतने काल तक केवलज्ञान दूर हो गया व असंयम दशा में रहना पड़ा। वे वहाँ से निकल कर मनुष्य होकर उग्र साधना करके मोक्षपद पायेंगे। देखो, इन विकल्पों का फल ! अतः यहाँ कहते हैं कि साधर्मी मुनिराजों के प्रति किया गया शुभविकल्प भी जड़ है, अचेतन है। संयोगी भाव है न ? इससे संयोग ही प्राप्त हुआ (आत्मोपलब्धि नहीं हुई); इन शुभ विकल्पों से पुण्य के जड़ रजकण बँधे, वे भी जड़ हैं; अचेतन हैं, चैतन्य से अन्यस्वभाववाले हैं।

'भगवान आत्मा तो अपने को सदा विज्ञानघनस्वभावपना होने से, स्वयं ही चेतक (ज्ञाता) है, स्व को और पर को जानता है, इसलिए चैतन्य से अनन्यस्वभाववाला है (अर्थात् चैतन्य से अन्यस्वभाववाला नहीं है)।'

आत्मा सदा ही विज्ञानघनस्वभावी है। विज्ञानघन अर्थात् ज्ञान का घनपिण्ड है, ठोस है। तीनों ही काल ऐसा ठोस पिण्ड है कि उसमें पर का या राग का प्रवेश ही नहीं हो सकता। विज्ञानघनस्वभावी होने से स्वयं ही चेतक — ज्ञाता है, स्व व पर को जानता है। स्वयं विज्ञानघनस्वभाववाला होने से स्वयं को जानता है तथा जो राग होता है उसे भी जानता है।

अहाहा ! परपदार्थों के अनन्तभावों का ज्ञान होते हुए भी उसमें पर का अंश भी प्रवेश नहीं पा सकता – ऐसा विज्ञानघनस्वरूप निविड़ है।

ऐसा विज्ञानघनस्वरूप आत्मा स्वयं ही चेतक है, अतः शुद्ध-चैतन्य से अनन्य, एकरूप स्वभाववाला है; जबकि रागादि विकार स्वयं व पर को नहीं जानते हुए जड़ – अचेतन होने से चैतन्य से अन्यस्वभाववाले हैं – इसप्रकार भेदविज्ञान करके शुद्धचैतन्य के लक्ष्य से परिणमन करते हुए जो ज्ञान होता है, उससे कर्मबन्ध नहीं होता इसतरह ज्ञानमात्रभाव से परिणमन करना ही बन्धन से छूटने का एकमात्र उपाय है।

प्रश्न :– यहाँ प्रत्याख्यान तो आया ही नहीं, फिर बन्ध का अभाव कैसे हुआ ?

उत्तर :– अरे भाई ! तुझे प्रत्याख्यान के स्वरूप की खबर नहीं है। ज्ञान व राग का भेदज्ञान होने पर शुद्धचैतन्य के लक्ष से स्वरूप का श्रद्धान तथा ज्ञान प्रगट हुआ तथा जितने अंश में स्थिरता हुई, वही वास्तविक प्रत्याख्यान है। सम्यक्त्व होने पर मिथ्यात्व-सम्बन्धी व अनन्तानुबन्धी का बन्ध तो इसे होता ही नहीं है। तथा जो अल्पबन्ध होता है, वह गौण है। भेदज्ञान के बल से स्वरूपस्थिरता बढ़ने पर उसका भी अल्पकाल में ही नाश हो जाता है। अज्ञानी बाह्यत्यागसम्बन्धी शुभभाव को प्रत्याख्यान मानता है परन्तु, हे भाई ! शुभभाव तो चैतन्य से अन्यस्वभाववाला है, अचेतन है, बन्धरूप है; उससे बन्धन कैसे रुकेगा ? अर्थात् नहीं रुक सकता; इसलिए चैतन्य का लक्ष होने पर ज्ञानमात्रपरिणमन होना ही बन्ध के अभावपूर्वक मुक्ति का मार्ग है, मुक्ति का उपाय है।

धर्मी को तो निरन्तर भेदज्ञान का विचार रहता है कि मैं सदा ही विज्ञानघनस्वभावमय हूँ, ये शुभभावरूप विभाव मेरा स्वरूप नहीं हैं; क्योंकि वे जड़ के निमित्त से उत्पन्न हुये हैं, तथा स्वरूप को जानने में समर्थ नहीं हैं; इसलिए जड़ हैं अचेतन हैं, चैतन्य से अन्यस्वभाववाले हैं। इसप्रकार भेद-ज्ञान के बल से वे अन्तरङ्ग में स्वरूपस्थिरता बढ़ाकर अपने अन्तिम लक्ष्य केवलज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं। अहो ! भेदविज्ञान की अपूर्व महिमा है। भेदज्ञान के अभाव में अज्ञानी अनन्त संसार बढ़ा लेता है।

तीसरा बोल :– 'आस्रव आकुलता को उत्पन्न करनेवाले होने से दुःख के कारण हैं – पुण्य-पाप के दोनों ही भाव आकुलता उत्पन्न करनेवाले हैं; दया, दान आदि के शुभभाव आकुलता उत्पन्न करनेवाले हैं। भाई ! बात कुछ सुनने में कठोर लगती है, तथापि सत्य यही है। जिस भाव से तीर्थंकर

नामकर्म बँधता है, वह भाव भी आकुलता उत्पन्नकरनेवाला होने से दुःख का कारण है – ऐसा यहाँ कहते हैं।

भावपाहुड़ में शुभभाव की – व्यवहार की बहुत बातें आती हैं, ऐसी भावनाएँ भाने से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है, इत्यादि बहुत बोल हैं। पच्चीस प्रकार की भावना तथा बारह प्रकार की भावना भाओ – आदि बहुत प्रकार से बात की है। सो यह तो स्वभाव की दृष्टि होते हुए जब तक पूर्ण वीतराग नहीं हो जाता, तब तक भूमिकानुसार धर्मी जीवों को किस प्रकार का शुभभाव आता है – इसका ज्ञान कराया है। जब अशुभभाव आता है तो शुभभाव क्यों नहीं आयेगा ? ज्ञानी को अनेक प्रकार के शुभभाव आते हैं, किन्तु वे आकुलता उत्पन्न करनेवाले हैं – ऐसा यहाँ कहते हैं।

शास्त्रों में अतिचार रहित निर्दोष व्रत पालने, दया-दान-भक्ति आदि करने के अनेकों व्यवहार-कथन आते हैं, किन्तु यह तो भूमिकानुसार धर्मी जीवों को जो शुभराग आता है, आये बिना नहीं रहता है – उसकी बात है। यहाँ तो यह कहते हैं कि ये जितने भी शुभ-अशुभभावों के प्रकार हैं, वे सब दुःख के कारण हैं; क्योंकि आकुलता उत्पन्न करनेवाले हैं, आत्मा की शान्ति को रोकनेवाले हैं।

पद्मनन्दी मुनिराज वनवासी थे। उन्होंने दान-अधिकार में कहा है कि "भाई ! तेरी शान्ति जलाकर ये शुभभाव हुये हैं। उनके कारण जो पुण्य-बन्ध हुआ, उसके फल में पाँच-पचास लाख की धूल (सम्पत्ति) का संयोग तुझे दिखाई देता है, उसका यदि तूने धार्मिक कार्यों में उपयोग नहीं किया तो तू कौए से भी गया-बीता है; क्योंकि कौआ भी जली हुई खिचड़ी की खुरचन को पाकर अकेला नहीं खाता, बल्कि काँव-काँव करके अपने साथी पाँच-पचास कौओं को बुलाकर उनके साथ खाता है।" – ऐसा कथन शास्त्रों में आता है, वहाँ लोभादि अशुभभाव घटाने हेतु शुभभाव करने की बात है, किन्तु ये हैं तो दुखःस्वरूप ही।

प्रश्न :– जब ये दुःखस्वरूप ही हैं तो फिर शास्त्रों में इन शुभभावों को करने का उपदेश क्यों दिया गया है ?

उत्तर :– भाई ! शुभभाव करने की तो बात ही नहीं है; यह तो उपदेश की शैली ही ऐसी है। वास्तव में तो अशुभ से बचने के लिए धर्मी जीवों को ऐसे शुभभाव यथासम्भव आते हैं – इस बात का ज्ञान कराया है। जिन्हें शुद्धनिश्चय का भान रहता है किन्तु स्वरूप में नहीं ठहर सकते, उन्हें अशुभ से बचने के लिए शुभभाव आते हैं, आये बिना नहीं रहते; किन्तु ये शुभभाव आत्मा की शान्ति को जलानेवाले हैं, दुःख के कारण हैं।

एक ओर भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव समयसार की पहली गाथा में कहते हैं कि हे श्रोताओ ! मैं तुमको समयसार कहूँगा और पाँचवी गाथा में कहते हैं कि मैंने अपने वैभव से इस एकत्व-विभक्त आत्मा को बतलाने का व्यवसाय किया है, इसे सुनकर तुम अपने अनुभव से प्रमाण करना। तथा दूसरी ओर परमात्मप्रकाश में ऐसा लिखा है कि 'दिव्यध्वनि से ज्ञान नहीं होता' और यही सिद्धान्त की बात है क्योंकि सिद्धान्त सदैव सत्य व अकाट्य होते हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता ही नहीं है, तो फिर दिव्य-ध्वनि से ज्ञान कैसे हो सकता है ? तथापि श्रोताओं या शिष्यों को ऐसा कहते हैं कि सुनो ! मैं तुमको धर्मकथा सुनाता हूँ। 'धवल' में भी ऐसा आता है कि 'सुन !' इस 'सुन' शब्द का विस्तार से अर्थ भी किया है।

देखो ! एक ओर तो यह सिद्धान्त बताया है कि 'भगवान की वाणी से लाभ नहीं होता तथा दूसरी ओर यह कहते हैं कि हम कहते हैं, उसे सुन ! – इन कथनों को सुनकर कुछ लोग आरोप लगाते हैं कि हमारी (श्री कानजी स्वामी की) 'कथनी और करनी में फेर है' अर्थात् कथनी में तो ऐसा कहते हैं कि 'कार्य उपादान से ही होता है' तथा करनी में निमित्तों के पीछे दौड़ते नजर आते हैं वे लाखों रुपया खर्च करके मन्दिर बनवाते हैं, वीस-वीस हजार लोगों की सभा में उपदेश देते हैं और फिर भी कहते हैं कि कार्य उपादान से ही होता है, निमित्त से नहीं – यह कैसी बात है ?

प्रभु ! तेरी समझ का फेर हैं। उपादान व निमित्त दोनों स्वतंत्ररूप से अपना-अपना काम करते हैं, कोई किसी के आधीन नहीं है – यह जो सिद्धान्त है, वह तो सत्य ही है। फिर भी धर्मी को भूमिकानुसार उपदेश देने का राग आता है और शिष्य को सुनने का विकल्प होता है। यद्यपि अपनी-अपनी भूमिका में यथासम्भव शुभराग – व्यवहार आता है, तथापि इसका यह अर्थ नहीं है कि 'एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य में कार्य होता हैं।' यहाँ तो यह कह रहे हैं कि यह जो भगवान की वाणी कहने या सुनने का शुभविकल्प है, वह आकुलता उत्पन्न करनेवाला है। भाई ! यह कोई खींचातानी (जोर-जबरदस्ती) का मार्ग नहीं है, यह तो सत्य को समझने का मार्ग है। जहाँ जो अपेक्षा हो, उसे यथार्थ समझना चाहिए।

'आस्रव आकुलता उत्पन्न करनेवाले हैं, इसलिए दुःख के कारण हैं और भगवान आत्मा तो सदा ही निराकुलस्वभाव के कारण किसी का कार्य तथा किसी का कारण न होने से दुःख का अकारण ही है अर्थात् दुःख का कारण नहीं है।'

देखो ! शुभभाव से स्वर्ग मिलता है तथा अशुभभाव से नरकादि मिलते हैं किन्तु दोनों ही भाव बन्धरूप ही हैं, दुःखरूप ही हैं। पुण्यभाव छोड़कर पाप में प्रवर्तन करना तो ठीक नहीं है, किन्तु पुण्यभाव करते-करते धर्म होगा — ऐसा मानना भी यथार्थ नहीं है। पुण्यभाव भी दुःखरूप ही है — ऐसा मानना, समझना ही यथार्थ है। मात्र एक भगवान आत्मा ही दुःख का कारण नहीं है। अहाहा ! भगवान आत्मा चिदानन्द प्रभु सदा ही — तीनों ही काल निराकुलस्वभाववाला है। यह आत्मा किसी का कारण भी नहीं है और किसी का कार्य भी नहीं है।

अहाहा ! आत्मा में एक अकार्यकारण नाम की शक्ति है। उस शक्ति के कारण आत्मा अन्य का कार्य नहीं है, इसलिए अनाकुल आनन्द का नाथ भगवान आत्मा किसी से उत्पन्न नहीं होता — यह बात स्वतःसिद्ध है। तथा आत्मा किसी का कारण भी नहीं है, अतः आत्मा ने पुण्य-पाप के भावों को उत्पन्न भी नहीं किया है। अहाहा ! पर्याय में जो राग होता है, पुण्य-पाप के भाव होते हैं, उनका आत्मा कारण भी नहीं है तथा कार्य भी नहीं है। 'जैनतत्त्वमीमांसा' में आता है कि — 'उपादान की जो उपादेय पर्याय होती है, वह पूर्व के कारणों के क्षय से होती है।' वहाँ ऐसा लिया है कि वर्तमान पर्याय उपादान कारण तथा एकसमय बाद की उत्तर पर्याय-उसका कार्य। किन्तु यह भी व्यवहार कथन है। वस्तुतः तो समय-समय का उपादान स्वयंसिद्ध है, स्वयं से है, निमित्त के कारण नहीं, पूर्व पर्याय के कारण नहीं तथा अपने द्रव्य-गुण के कारण भी नहीं। अहो ! ऐसा सत् स्वयं निजसमृद्धि में भरा हुआ है।

प्रश्न :— जब निमित्त से कुछ नहीं होता तो आप समयसार ही क्यों पढ़ते हैं ? पद्मपुराण पढ़ो न ! समयसार के निमित्त से कुछ विशेष लाभ होता है तो समयसार पढ़ते हैं तभी न ?

उत्तर :— भाई, ऐसा नहीं है। समयसार सुनते समय जो ज्ञान की पर्याय होती है, वह स्वयं के कारण स्वयं अपने से ही होती है, निमित्त के कारण नहीं। ज्ञान की पर्याय के उत्पाद का स्वकाल है, उसका निजक्षण है अर्थात् वह पर्याय स्वतन्त्ररूप से स्वतः उत्पन्न होती है।

भाई ! यह तो वीतराग परमेश्वर — जिनेश्वरदेव की बात है। अरहन्त भगवान की दिव्यध्वनि जीवों का उपकार करती है — ऐसा कथन भी आता है। मोक्षमार्ग प्रकाशक के आठवें अधिकार में आता है कि तीर्थंकर व गणधरादि भी मोक्षमार्ग का उपदेश देकर जीवों का उपकार करते हैं,

किन्तु ये सब कथन व्यवहार के हैं। कोई किसी का उपकार करे—ऐसा वस्तु का स्वरूप ही नहीं है। शास्त्र में जिस अपेक्षा से जो कथन आता है, उसका भाव उसी अपेक्षा से बराबर समझना चाहिए।

समयसार शास्त्र के कलश ४३ में आचार्यदेव आश्चर्य व खेद प्रगट करते हुये कहते हैं कि अरे रे ! अज्ञानी को स्व-पर के एकत्व की भ्रान्ति क्यों नाचती है ? अहो ! कहाँ तो राग—दुःख का सागर और कहाँ भगवान आत्मा आनन्द का नाथ ! दोनों में जमीन-आसमान का अन्तर होने पर भी दोनों को एक माननेरूप मोह (अज्ञान) भाव तुझमें कैसे नाचता है ? —ऐसा निष्पृह करुणा का शुभ विकल्प ज्ञानियों को आता है, परन्तु इस भाव को भी ज्ञानी दुःख का कारण जानते हैं। नित्य अनाकुलस्वभावी एक आत्मा ही दुःख का अकारण है। अनाकुलस्वरूप नित्यानन्द प्रभु राग का—आकुलता का कारण कैसे हो सकता है ? तथा पर को कारण बनाकर अपना कार्य कैसे करे ? अहाहा ! अकार्यकारणशक्ति से वह पर का कार्य भी नहीं है और पर का कारण भी नहीं है।

कोई कहता है कि जो आत्मा को परपदार्थों का कर्त्ता नहीं मानते, वे तो दिगम्बर ही नहीं हैं। उनसे कहते हैं कि अरे प्रभु ! यह तुम क्या कहते हो ? तुम्हें क्या हो गया है ? अरे ! परमागम की इतनी स्पष्ट बात तुम्हारी समझ में क्यों नहीं आती ? अरे ! दुःख के गहरे भवकूप में पड़े हुए और दुःख में निमग्न अज्ञानी प्राणी को आचार्यदेव दुःख से मुक्त होने का अलौकिक उपाय बता रहे हैं—यह बात तुझे क्यों नहीं जँचती, तेरे हृदय में यह बात क्यों नहीं बैठती है ? भाई ! राग का आकुलतारूप भाव उस पर्याय की योग्यता के काल में स्वयं सिद्ध—अपने कारण से होती है, आत्मा उसका कारण नहीं है; व्यवहाररत्नत्रय का शुभराग भी स्वयं स्वतः आकुलता का जनक है, चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा उसका कारण नहीं है। ये दुःखरूप भाव त्रिकाली आत्मा के कार्य कैसे हो सकते हैं ? क्या आनन्द के नाथ का कार्य कहीं दुःखरूप हो सकता है ? कभी नहीं हो सकता। अहाहा ! आनन्द के नाथ का कार्य आनन्दरूप ही होता है।

पर्याय में जो आनन्द आता है, वह आनन्दस्वभावी आत्मा में से आता है। राग की मन्दता के कारण आनन्द नहीं आता। व्यवहाररत्नत्रय कारण व निश्चयरत्नत्रय कार्य—इस बात का यहाँ स्पष्ट निषेध किया है। भाई ! ऐसी शुद्धतत्त्व की बात महाभाग्य से बाहर प्रचार में आई है, इसकी यथार्थ श्रद्धा तो कर ले ! चारित्र की कमजोरी के कारण अस्थिरता का दोष रहे तो उतनी चिन्ता की बात नहीं, कुछ काल बाद वह दोष भी

दूर हो जायगा। एकबार हर्षित होकर श्रद्धा में स्वीकार तो कर ले। इसको समझे बिना, श्रद्धा किये बिना तो धर्म के पन्थ में – मोक्षमार्ग में एक कदम भी नहीं रख सकता।

आत्मा पर का कार्य कर सकता है या पर का कर्त्ता बन सकता है – यह बात जिन शासन की नहीं है। चैतन्य स्वभाव नित्य अनाकुल आनन्दस्वरूप है, वह किसी का कार्य नहीं है अर्थात् राग की मन्दता से निश्चय (आनन्द) उत्पन्न नहीं होता है।

यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि यह तो त्रिकाली द्रव्य की बात है। उसके उत्तर में कहते हैं कि – जिसमें द्रव्य का निर्णय हुआ, वह तो पर्याय है। यह प्रगट हुई पर्याय ऐसा जानती है कि आत्मा आनन्द की मूर्ति चिदानन्दघन प्रभु राग का कारण नहीं है तथा राग का कार्य भी नहीं है। राग, राग के कारण हुआ है और आनन्द, आनन्द के कारण। पुनः शिष्य प्रश्न करता है कि – राग का कारण जड़ कर्म तो है न? उत्तर में कहते हैं कि ऐसा भी नहीं है। निमित्त, अपने में स्वतंत्र है, तथा राग अपने कारण स्वतंत्र है। अहाहा! गजब बात है। किसी भी जड़ की अवस्था व राग की अवस्था का कारण आत्मा नहीं है।

आत्मा किसी का कारण नहीं हैं। दो या अनेक कारणों से कार्य होता है – यह बात यहाँ नहीं है। यहाँ प्रसंग ही दूसरा है, अतः वह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो यह कहते हैं कि पर्याय में जो राग होता है, उसका कारण व कार्य स्वयं राग है', आत्मा व कर्म नहीं। राग होता है, उसमें आत्मा निमित्त है – ऐसा योगसार में आया है। राग की उत्पत्ति में आत्मा निमित्त है, उपादान नहीं। विकार, विकार के कारण स्वतः होता है – इसमें ज्ञायक मूर्ति प्रभु आत्मा निमित्त है। निमित्त है अर्थात् मात्र उपस्थित है, बस इतना ही निमित्त का अर्थ ग्रहण करना चाहिए। निमित्त से राग हुआ – ऐसा अर्थ ग्रहण मत करना। अहो! दिगम्बर सन्तों ने गजब का काम किया है।

इसप्रकार तीन बोलों से आस्रव व आत्मा की भिन्नता की बात कही। (१) आस्रवभाव अशुचि हैं तथा भगवान आत्मा अत्यन्त शुचि है। (२) आस्रवभाव जड़ हैं, अचेतन हैं तथा भगवान आत्मा विज्ञानघनस्वभावी होने से चेतक है, शुद्ध चैतन्यमय है। (३) आस्रवभाव आकुलता उत्पन्न करनेवाले होने से दुःख के कारण हैं, तथा भगवान आत्मा सदा ही अनाकुलस्वभाव होने से दुःख का अकारण है। – इसप्रकार आस्रवों से भिन्न व स्वभाव से अभिन्न आत्मा के सन्मुख होकर भेदज्ञान प्रगट करना,

अर्थात् पर्याय को त्रिकाली में अभेद करना वह धर्म है – मोक्षमार्ग है। पर्याय को अभेद करना अर्थात् द्रव्यसन्मुख करना। अभेद करने से द्रव्य व पर्याय एक हो जाते हों – ऐसी बात नहीं है। द्रव्यसन्मुख होने पर पर्याय स्वभाव की जाति की ही उत्पन्न होती है। और राग भिन्न पड़ जाता है। इसे ही पर्याय द्रव्य से अभिन्न हुई – ऐसा कहा जाता है।

पाठ में 'णादूण' शब्द पड़ा है न ? इसका अर्थ यह है कि आस्रव को अशुचि, अचेतन व दुःख के कारण – ऐसा जानो। इसका विशेष स्पष्टीकरण इसप्रकार है कि जब अत्यन्त शुचि, पवित्र, चैतन्यस्वभावमय, सहजानन्दमूर्ति भगवान आत्मा अनुभव में आया, तब आस्रव अशुचिपने जाना गया, निर्मल भेदज्ञान हो गया – यही धर्म व मोक्षमार्ग है। स्व की ओर ढलते हुये जब शुद्ध आत्मा ज्ञात हुआ, तब आस्रव अशुचि हैं, निज-स्वरूप से भिन्न हैं – ऐसा भेदज्ञान हो जाता है, तथा भेदज्ञान होने पर आत्मा आस्रवों से निवृत्त भी हो जाता है।

देखो ! यह कर्त्ता-कर्म अधिकार है। कर्त्ता अर्थात् होनेवाला। (यः परिणमति सः कर्त्ता) आत्मा वस्तुतः अपने चैतन्यस्वभाव से होनेवाला है। ज्ञाता-दृष्टा के जो निर्मल परिणाम होते हैं, वे उसके कर्म हैं तथा इनका कर्त्ता आत्मा है। अहाहा ! आत्मा सहजानन्द की मूर्ति त्रिकाली भगवान है, वह दुःख का कारण भी नहीं तथा दुःख का कार्य भी नहीं। इसीप्रकार वह राग का भी कारण व कार्य नहीं है। पुण्य-पाप का भाव आता अवश्य है, परन्तु वह आत्मा का कार्य नहीं है।

प्रश्न :– मन्दिर बनवाने तथा पंचकल्याणक आदि प्रतिष्ठा कराने के भाव ज्ञानी को आते हैं न ?

उत्तर :– हाँ, आते हैं; परन्तु हैं तो राग ही। भाई ! भगवान की मूर्ति हैं, मन्दिर हैं – ये सब हैं। आगम से सिद्ध हैं; इतिहास से भी सिद्ध हैं। कोई इनका निषेध करे तो ठीक नहीं। मोहनजोदड़ो में पाँच हजार वर्ष पुरानी प्रतिमा निकली है, इतिहास से भी यह सिद्ध है। शास्त्रों में भी मूर्ति की बात है – इनका कोई निषेध करे तो यह सत्य नहीं है। भगवान की मूर्ति है; तथा जो शुभभाव करता है, उसके शुभभाव में वे निमित्त भी हैं, तथापि शुभभाव धर्म नहीं है, धर्म का कारण भी नहीं है।

तथा कोई मूर्ति तो मानते हैं, किन्तु शृंगार आदि करते हैं, आभूषण पहनाते हैं – यह ठीक नहीं है, यह सत्य-सनातन मार्ग नहीं है। शुद्ध जल से ही भगवान का अभिषेक है, यही शास्त्रोक्त पद्धति है, इसमें फेरफार

करना भी ठीक नहीं है। भाई ! यह तो वीतराग का मार्ग है। इसमें तो वीतरागी बिम्ब का ही स्थापन एवं उन्हीं की पूजा, भक्ति होती है।

प्रकाश के दीवाने बड़े-बड़े बल्ब जलाते हैं, अखण्ड दीपक जलाते हैं, जिसमें जीव-जन्तु मरते हैं, पतंगे मरते हैं, विशेष हिंसा का दोष होता है – ये सही काम नहीं हैं। भाई ! जिनशासन तो विवेक का मार्ग है। भगवान को फूल चढ़ाते हैं, केशर लगाते हैं – ये कोई सही मार्ग नहीं है। कोई तो जिनबिम्ब (प्रतिमा) का निषेध ही करते हैं, तथा कोई प्रतिमा को आभूषण आदि पहिनाते हैं – यह दोनों ही तरीके सही नहीं हैं। भगवान की मूर्ति होती है, उसकी भक्ति, पूजा, वन्दना का भाव भी होता है; किन्तु इसकी मर्यादा यह है कि वह शुभभाव है, पुण्यबन्ध का कारण भी है और वह पुण्यबन्ध आकुलता उत्पन्न करनेवाला होने से दुःखरूप व दुःख का ही कारण है।

मैं जब स्थानकवासी सम्प्रदाय में था, तब चोटीला में एक साधु से चर्चा हुई थी, उन्होंने स्वीकार किया था कि भगवान की मूर्ति की बात शास्त्र में है, बात सच्ची है; परन्तु यह बात जगत में जाहिर कैसे करें ? ऐसा करने से लोगों की अपने प्रति श्रद्धा समाप्त हो जाएगी। भाई ! जैसे तीनकाल व तीनलोक को जाननेवाला परमात्मा अनादि से है; उसीप्रकार जिनबिम्बों या प्रतिमाओं की स्थापना, मन्दिरों का निर्माण, उनकी पूजा-प्रक्षाल-वन्दना आदि सब अनादिकाल से हैं। स्वर्ग में तो भगवान की शाश्वत अकृत्रिम प्रतिमायें हैं। इन्द्र, देव, देवांगनायें आदि उनका वन्दन-पूजन आदि करते हैं तथा बड़े-बड़े महोत्सव करते हैं; परन्तु ये सभी भाव शुभ हैं। इनसे पुण्यबन्ध होता है – इसकी इतनी ही मर्यादा है इससे आगे जो कोई ऐसा कहे कि इनसे (शुभभाव से) संसार-पार हो जाता है तो यह कहना यथार्थ नहीं है।

पच्चीस सौ वर्ष पुरानी तथा पाँच हजार वर्ष पूर्व की प्रतिमायें भी निकली हैं। अखबारों में इसके शोधपूर्ण लेख आते हैं। इन सब बातों से सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में भी प्रतिमाओं की परम्परा प्रचलित थी।

(धवल शास्त्र में तो ऐसा आता है कि जिनबिम्ब-दर्शन से निधत्ती व निकाचित कर्म भी नष्ट हो जाते हैं, किन्तु यह कथन व्यवहार का है। निश्चय से तो आत्मदर्शन से ही कर्मों का नाश होता है, जिनबिम्ब-दर्शन तो निमित्तमात्र है।)

यहाँ तो अकार्यकारण शक्ति की बात चल रही है। द्रव्य, गुण व पर्याय तीनों में अकार्यकारण शक्ति व्याप्त है। द्रव्य एवं गुण तो राग के कारण व कार्य हैं ही नहीं, किन्तु द्रव्यस्वभाव के सन्मुख होने पर जो निर्मलपर्याय प्रगट हुई, वह भी किसी अन्य की कारण व कार्य नहीं है। निर्मल ज्ञान की पर्याय में भी अकार्यकारण शक्ति व्याप्त है।

प्रश्न :– आत्मा राग का कारण – कर्त्ता नहीं है तो आपने इतने मन्दिर कैसे बनवाये हैं ? ये सब मन्दिर बनवाने, महोत्सव करानेरूप राग के काम कौन करता है ? क्या आपने ये कुछ नहीं किया ?

उत्तर :– अरे भाई ! जो राग होता है, उसे करने की बात ही कहाँ है ? और मन्दिरों का निर्माण भी उनके स्वकाल में उनके कारण ही होता है, उनके निर्मित होने का स्वचतुष्टय स्वतन्त्र है। उन्हें अन्य कोई कैसे कर सकता है ? भाई ! आत्मा मन्दिरों का निर्माण नहीं कर सकता। इन मन्दिरों के बनवाने के काल में जो शुभभाव होता है, उसमें मन्दिर निमित्तमात्र हैं, निमित्त-कर्त्ता नहीं।

निमित्त भिन्न वस्तु है तथा निमित्त-कर्त्ता भिन्न वस्तु है। जयसेनाचार्य की टीका में यह बात आती है। जगत में मन्दिर आदि पदार्थों में जड़ रजकण परिणमते हैं, जड़ की पर्याय होती है, उसमें आत्मा निमित्त है, परन्तु निमित्त-कर्त्ता नहीं है। सम्पूर्ण लोकालोक को जानने में केवलज्ञान निमित्त है तथा केवलज्ञान के ज्ञेय बनने में लोकालोक निमित्त है। यह तो वहाँ जैसा ज्ञान है, वैसी वस्तु की उपस्थिति है – इसका ज्ञान कराया है।

देखो, हाथ की उंगलियाँ हिलती हैं, इसका निमित्त-कर्त्ता कौन है ? जो जीव राग व योग का कर्त्ता होता है – ऐसा पर्यायबुद्धिवाला जीव ही वास्तव में उनका निमित्त-कर्त्ता है। हाथ की अवस्था तो उसके काल में जैसी होनी हो वैसी होती है; परन्तु अज्ञानी जीव मात्र योग व राग का (करने के अभिप्राय से) कर्त्ता होता है, इसलिये उसके राग व योग को उस पर्याय का निमित्त-कर्त्ता कहा जाता है।

यहाँ कहते हैं कि मन्दिर बनता है, राग होता है; फिर भी राग व मन्दिर का कर्त्ता आत्मा नहीं है। वाह ! करते भी हैं और कर्त्ता भी नहीं है ? अरे भाई ! कौन करता है ? अज्ञानी को भ्रम होता है कि इस क्रिया के होने के काल में मेरा निमित्तपना है, इसीकारण से यह कार्य हुआ है। अज्ञानी अपने को उस कार्य का निमित्त-कर्त्ता मानता है। परवस्तु में जो कार्य होता है, ज्ञानी तो उसका निमित्तमात्र ही है, निमित्त-कर्त्ता नहीं।

भगवान की प्रतिमा शान्त-शान्त-शान्त ऐसे उपशम रस का कन्द है, उसके दर्शन करते ही भक्त आनन्दविभोर हो जाते हैं। यदि प्रतिमाओं को मुकुट पहनायें, वस्त्र पहनायें; — तो ये जिनबिम्ब ही नहीं रहते। यह न्याय की बात है, यह किसी के पक्षपात की बात नहीं है। भाई ! इस तीसरे बोल में तो बहुत सूक्ष्म सिद्धान्त का निरूपण है। मन्दिर बनवाने में शुभभाव होते हैं, मन्दिर अपने स्व-काल में उसके कारण बनता है; परन्तु ये शुभभाव व मन्दिर आत्मा के कार्य नहीं हैं। अहाहा····! भगवान आत्मा निराकुल आनन्द का नाथ, आनन्द का रसकन्द प्रभु है; उसकी पर्याय में जो आनन्दरूप कार्य होता है, उसका कर्त्ता वह स्वयं है। जो आनन्द प्रगट हुआ है, वह उसका कार्य हैं; परन्तु व्यवहाररत्नत्रय के शुभभावों का तो आत्मा कारण भी नहीं है और कार्य भी नहीं है। शुभभावरूप दु:ख का कारण आत्मा कैसे हो ? शुभभावरूप दु:ख की पर्याय कारण तथा आनन्द की पर्याय कार्य — ऐसा कैसे हो सकता है ? भगवान आत्मा न किसी का कारण है न कार्य है। अत: दु:ख का अकारण ही है।

दृष्टि व दृष्टि के विषयभूत त्रिकालीद्रव्य में ऐसी कोई शक्ति ही नहीं है, जो विकार को उत्पन्न करे। उस शक्तिवान अखण्ड द्रव्य को दृष्टि में लेनेवाला (ज्ञानी) अपने स्वभाव-परिणमन का कर्त्ता तो है, किन्तु विभाव का कर्त्ता नहीं।

प्रश्न :— जैसे पुत्र की उत्पत्ति में माता-पिता दो कारण होते हैं, उसीप्रकार राग उत्पन्न होने में दो कारण तो चाहिये न ?

उत्तर :— हाँ, श्री जयसेनाचार्य की टीका में ऐसा कथन आता है; किन्तु वहाँ जिस अपेक्षा से कहा है, उस अपेक्षा को समझना चाहिये। वास्तव में राग का कर्त्ता आत्मा नहीं है, किन्तु पर्याय में परिणमन है — इस अपेक्षा से उसे कर्त्ता कहा है। वहाँ निश्चय को दृष्टि में रखकर बात है तथा प्रमाण का ज्ञान कराने के लिये निमित्त को शामिल करके कहा है कि यह (निमित्त) कर्त्ता है। इसप्रकार कार्य के दो कारण सिद्ध किये हैं — एक उपचरित अथवा निमित्त कारण तथा दूसरा उपादान कारण। उपादान कारण यथार्थ है तथा उपचरित कारण अयथार्थ है। राग का जो विकल्प उठता है, उसका निश्चय से आत्मा कारण नहीं है; परन्तु पर्याय में उत्पन्न होता है, इसलिए उसे कारण कहा है। वास्तव में तो राग का कारण राग की पर्याय स्वयं है। तथा राग आत्मा के द्रव्य-गुण का कारण नहीं है और द्रव्य-गुण राग के कारण नहीं हैं।

शुभ-राग का भाव ज्ञानी को आता है, मुनिराज को भी आता है; परन्तु वे इसके कर्त्ता नहीं होते। पं० भागचन्दजी की स्तुति में आता है कि मुनिवरों को अशुभभाव का तो विनाश हो गया है तथा शुभभाव से वे उदास हैं। अहो ! धन्य हैं वे मुनिवर, भावलिंगी दिगम्बर सन्त, जंगलवासी, वीतरागभाव में झूलनेवाले, केवली के आड़तिया !! अहो, उनको अशुभ-भाव की तो गन्ध ही नहीं तथा जो शुभोपयोग होता है, उससे भी वे उदास हैं। अहा ! कैसे उनके वचन ! जब उपदेश देते हैं तो मानो उनके मुख से अमृत ही झरता है, परन्तु यहाँ कहते हैं कि इस वचनामृत का कारण उनका आत्मा नहीं है। आत्मा किसी कार्य का कारण भी नहीं है तथा किसी कारण का कार्य भी नहीं है। अहाहा ! सम्यग्दर्शन की बलिहारी है। चारित्रमोह के उदयवश भले ही राग में जुड़ें, फिर भी दर्शनविशुद्धि की निर्मलता से 'राग का मैं कारण नहीं तथा राग मेरा कार्य नहीं' – ऐसा धर्मी जीव मानते हैं। सम्यक्-श्रद्धा के बल से ऐसी दृष्टि निरन्तर रहती है। 'मैं तो मात्र ज्ञाता-दृष्टा हूँ' – ऐसी सम्यक्-श्रद्धा और इसका विषय ही मूल वस्तु है। भाई ! जिसके ऐसी दर्शनशुद्धि (सम्यक्-श्रद्धा) हुई, निश्चय ही उसके जन्म-मरण का अन्त आ गया है।

'राग व स्वभाव की एकताबुद्धि की गाँठ ही मिथ्यात्व है' और 'मैं तो शुद्ध चैतन्यमूर्त्ति भगवान हूँ' – ऐसे भान में धर्मीजीव को राग की दृष्टि छूट गई है। 'राग मेरे स्वरूप में नहीं है' – इसप्रकार ज्ञानी राग को अपने ज्ञान में परज्ञेयरूप जानता है। राग है, इस कारण राग को परज्ञेयपने जानता है – ऐसा भी नहीं है। यह ज्ञान की पर्याय तो स्व-पर प्रकाशक अपने ही सामर्थ्य से है, अतः स्व-पर को जानती हुई प्रगट होती है।

अब कहते हैं कि 'इसप्रकार विशेष (अन्तर) को देखकर जब यह आत्मा, आत्मा और आस्रवों के भेद को जानता है; उसीसमय क्रोधादि आस्रवों से यह निवृत्त हो जाता है। भगवान आत्मा अतिनिर्मल चिदानन्द स्वरूप है तथा आस्रव दुःखरूप है – इसप्रकार जिससमय ज्ञानी दोनों के बीच का अन्तर या स्वभावभेद जानता है, उसीसमय क्रोधादि आस्रवों से निवृत्त हो जाता है। अर्थात् 'पुण्य-पाप के भाव मेरे हैं' – ऐसे अभिप्राय से निवृत्त हो जाता है।

देखो ! भगवान की धर्मसभा में गणधर तथा एक भवावतारी इन्द्र भी यह बात सुनते थे – ऐसी अलौकिक बात है। बापू ! मुनिवरों की वाणी साक्षात् सर्वज्ञ की ही वाणी है। कहते हैं कि जिससमय राग से भिन्न अन्दर चिदानन्द भगवान जाना, उसीसमय राग से – आस्रवों से

निवृत्त हो गया। राग-भाव व स्वभाव-भाव का भेदज्ञान होते ही राग से दृष्टि खिसक जाती है, अर्थात् राग से निवृत्ति हो जाती है।

'क्योंकि उनसे जो निवृत्त नहीं है, उसे आत्मा और आस्रवों के पारिमार्थिक (यथार्थ) भेदज्ञान की सिद्धि ही नहीं हुई है।' देखो! अशुभभाव से तो ठीक, किन्तु शुभभाव से भी आत्मा भिन्न है – यह वात अज्ञानी को खटकती है। अरे, यहाँ तो कहते हैं कि शुभभाव व आत्मा दोनों भिन्न हैं – ऐसा जब जानता है, तभी वह आस्रवों से निवृत्त हो जाता है अर्थात् पुण्यपरिणाम पर जो लक्ष्य था, वह छूट जाता है। भाई! यह तो अन्दर की क्रियाओं की वातें हैं – यह सव समझना पड़ेगा।

अरे! तू भगवानस्वरूप होता हुआ भी इसे समझे विना चौरासी लाख योनियों में जन्म-मरण कर – बारम्बार अवतार ले-लेकर रखड़ा है। समयसार कलशटीका के २८वें कलश में आता है कि मरणतुल्य हो गया है। वहाँ कहा है – 'जीवद्रव्य तो प्रगट ही है, परन्तु कर्मसंयोग से आच्छादित होने से मरण को प्राप्त हो रहा है।' अहा! राग की रुचि में रागरूप परिणमन के अस्तित्व को ही (निज-स्वभाव) स्वीकार करके जीव के त्रिकालीजीवन को मरणतुल्य कर डाला है। फिर भी जीवद्रव्य तो प्रगट ही है। अहाहा! विद्यमान चिदानन्दघन प्रभु आत्मा तो प्रगट ही है। गाथा ४९ में प्रगट पर्याय की अपेक्षा से जीवद्रव्य को अव्यक्त कहा है – वहाँ दूसरी बात है। यहाँ तो यह कहते हैं कि अनाकुल-आनन्द का नाथ, ध्रुव, त्रिकाली भगवान अस्तिपने मौजूद प्रगट ही है; परन्तु इसके सन्मुख हुए विना, इससे विमुख होकर राग को ही स्वीकार करके यह जीव मरण को प्राप्त हो रहा है।

क्या जीव भी मरता है? नहीं, भाई! यह तो जीवती-जागती ज्योति सदा प्रगट ही है। द्रव्य तो त्रिकाल सत् ही है; परन्तु जीव का जो त्रिकाली सत्त्व – जीवत्व है; उसको अज्ञानी ने जाना नहीं है, माना नहीं है। राग की रुचि में उसने त्रिकाली जीवन को अस्वीकार कर दिया है, इसकारण मरणतुल्य हो गया है। अरे रे! राग की रुचि के फन्दे में फँसकर उसने अनादि से जन्म-मरण की परम्परा का कष्ट ही उठाया है, इसकारण मरणतुल्य कर डाला – ऐसा कहा है।

'नयननी आलसे रे, नीरख्या न नयणे हरि' – ऐसा आता है न? हरि अर्थात् जिसने अज्ञान, राग व द्वेष को हर लिया है, वह हरि है। ऐसा हरि चिदानन्दघन प्रभु स्वयं आत्मा ही है। यह भगवान का उपदेश

है। प्रभु ! तेरी वस्तु तो राग, दया, दान, व्रत, तप आदि के विकल्प से भिन्न अन्दर परमपवित्र शुद्ध चैतन्यघन वस्तु पड़ी है, वह सदा मौजूद है; उसमें दृष्टि कर ! – यह भगवान का उपदेश है।

कलशटीका के चौथे कलश में आता है कि जिनवचन का सेवन करने, जिनवचन में रमने से मोह का नाश होता है – इसका क्या अर्थ है ? भगवान जिनेश्वरदेव के द्वारा कहे गये भाव में जो पुरुष रमते हैं, उसके मिथ्यादर्शन कर्म का वमन होकर शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है। दिव्यध्वनि द्वारा कही गयी उपादेयरूप शुद्ध जीववस्तु में जो रमते हैं अर्थात् आश्रय लेते हैं, उनकी भ्रान्ति टूट जाती है। अहो ! त्रिकाली आनन्द का नाथ भगवान आत्मा आश्रय करने योग्य है – यह भगवान का उपदेश है।

शंका :– जैनधर्म में तो निश्चय-व्यवहार – दोनों नयों का ग्रहण करने को कहा है न ?

समाधान :– हाँ भाई ! किन्तु दोनों नयों के ग्रहण करने का अर्थ क्या ? दोनों नयों का विषय तो परस्पर विरुद्ध है। शुद्धनय की विषयभूत वस्तु (आत्मा) शुद्ध चैतन्यघन त्रिकाल विद्यमान है, इस शुद्ध चैतन्यघन स्वरूप त्रिकाली आत्मद्रव्य को ही उपादेयरूप से ग्रहण करने की बात भगवान की देशना में आई है। अहाहा ! ऐसी मलिनता रहित, हीनता रहित, विपरीतता रहित, अतिनिर्मल, पूर्ण चैतन्यघन भगवान आत्मा ही एकमात्र उपादेय है – ऐसा भगवान की वाणी का फरमान है। राग से भिन्न होकर जब त्रिकाली शुद्धद्रव्य को उपादेय किया, तब राग से विरुद्ध शुद्ध चैतन्यमय परिणमन हो जाता है – इसप्रकार आत्मा आस्रवों से निवृत्त होता है। व्यवहारनय उस काल में जाना हुआ प्रयोजनवान है, आदरणीय नहीं। यही व्यवहारनय के ग्रहण करने का आशय है।

✓यदि आत्मा आस्रवों से निवृत्त नहीं होता तो उसे सच्चा भेदज्ञान हुआ ही नहीं है। पुण्य-पाप के भाव से दृष्टि हट गई है, पुण्य-पाप के भाव में रुचि नहीं रही – इसी का नाम तो भेदज्ञान है। कोई इसमें से ऐसा अर्थ निकाले कि भेदज्ञान में पुण्य-पाप का भाव बिल्कुल होता ही नहीं है – सो ऐसा नहीं है। भाई ! पुण्य-पाप की रुचि नहीं रही, बस इसे ही पुण्य-पाप से निवृत्त होना कहा है और यही भेदज्ञान की भूमिका है। अभिप्राय में जो राग-द्वेष के साथ एकता थी, वह टूट गई – उसे ही निवृत्त होना कहा है और यही भेदज्ञान है। अभिप्राय में जो आस्रवों से निवृत्त नहीं होता, उसे भेदज्ञान ही नहीं है।

बिल्कुल रागभाव हो ही नहीं, तब भेदज्ञान कहा जाय – यह बात यहाँ नहीं है। (राग की रुचि छोड़कर चैतन्यस्वभाव की रुचि उत्पन्न हो, उसे ही सम्यग्दर्शन कहते हैं।) पुण्यभाव आदि होते हैं, किन्तु धर्मी इनकी रुचि नहीं करता।

कोई कहे कि पहले क्रोध आदि से निवृत्त हों, तब कहीं भेदज्ञान होता है – सो यह बात भी यथार्थ नहीं है। जिससमय सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट होता है, निर्मल भेदज्ञान प्रगट होता है; उसीसमय क्रोधादि की निवृत्ति होती है, दोनों का समकाल है, पहले-पीछे का अन्तर नहीं है। भाई! अन्तर्दृष्टि हुए बिना भेदज्ञान के अभाव में जीव ने सब-कुछ किया; व्रत पाले, तप किया तथा हजारों रानियों को छोड़कर वनवासी दिगम्बर मुनि भी हुआ, महाव्रत पाले तथा घोर तप किया; परन्तु 'बिना एकड़े बिन्दी' के समान सब निरर्थक रहा। राग के निमित्त मिटाए, किन्तु राग की रुचि नहीं मिटी; इसकारण संसार-भ्रमण नहीं मिटा, लेशमात्र भी सुख नहीं मिला। छहढाला में आता है :–

मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो॥

भाई! अन्तर्मुख दृष्टि हुए बिना राग की रुचि नहीं छूटती तथा जहाँ राग की रुचि होती है, वहाँ अन्तर्दृष्टि – भेदज्ञान नहीं होता; इसलिए भेदज्ञान व आस्रवों से निवर्त्तन – इन दोनों का समकाल है, ऐसा यथार्थ समझना। (समयसार कलशटीका के २९वें कलश में भी यह बात कही है)।

"इसलिए क्रोधादिक आस्रवों से निवृत्ति के साथ जो अविनाभावी है – ऐसे ज्ञानमात्र से ही, अज्ञानजन्य पौद्गलिक कर्म के बन्ध का निरोध होता है।"

यहाँ 'क्रोध' कहकर यह कहा है कि अन्दर पूर्णानन्द के नाथ ज्ञायकस्वभावी प्रभु आत्मा से विमुख होकर जो राग की रुचि करता है, उसे ज्ञायक नहीं रुचता; इसलिए उसे भगवान आत्मा के प्रति क्रोध है। कहा भी है कि 'द्वेष अरोचकभाव' अर्थात् निजस्वरूप की अरुचि ही क्रोध है। इन क्रोधादि पर से जिसकी रुचि नहीं हटी तथा स्वभाव की दृष्टि नहीं हुई, वह आस्रवों से निवृत्त नहीं है। तथा ज्यों ही आस्रवों से दृष्टि हटकर निज चैतन्यस्वरूप में अभेदरूप से परिणमित होती है, उसीसमय उस जीव को अन्तर्ज्ञान – सम्यग्ज्ञान हो जाता है। इसप्रकार राग से भिन्न उस ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध हो जाता है। पहले जो एकत्व-विभक्त

की बात की थी, उसी शैली में यह बात है। अहाहा ! स्वभाव में एकत्व एवं राग से विभक्त होना ही भेदज्ञान है और उसी से बन्ध का निरोध होता है, बन्धन रुक जाता है।

राग व स्वभाव का जो भेदज्ञान हुआ है, उस भेदज्ञान से सर्वथा राग मिट जाता है, ऐसा यहाँ अर्थ नहीं है। अभिप्राय में जो पुण्य-पाप का रस या रुचि थी, वह मिट जाती है। इसे ही ज्ञान द्वारा आस्रवों से निवृत्ति हुई – ऐसा कहा जाता है अर्थात् इस भेदज्ञान से मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी कषाय का बन्ध रुक जाता है।

अब इसी बात को विस्तार से स्पष्ट करते हैं :– "और जो यह आत्मा और आस्रवों का भेदज्ञान है, सो अज्ञान है या ज्ञान? यदि अज्ञान है तो आत्मा और आस्रवों के अभेदज्ञान से उसकी कोई विशेषता नहीं हुई।"

देखो ! आत्मा और आस्रवों का अभेदज्ञान – एकपने का ज्ञान तो अज्ञान है ही और उससे बन्ध भी है, किन्तु यहाँ तो यह प्रश्न किया है कि आस्रव व आत्मा भिन्न है – ऐसा जो भेदज्ञान हुआ, वह ज्ञान है या अज्ञान? यदि उस भेदज्ञान को भी अज्ञान कहोगे तो भेदज्ञान व अज्ञान – इन दोनों में कोई अन्तर ही नहीं रहा। यदि भेदज्ञान भी अज्ञान है तो आत्मा व आस्रवों के एकत्वरूप ज्ञान से उसमें कोई विशेषता ही नहीं रहेगी। आत्मा की राग के साथ अनादिकाल से एकता है तथा राग से ज्ञान भिन्न नहीं हुआ तो वह ज्ञान, ज्ञान ही नहीं है, भेदज्ञान ही नहीं है।

"और यदि ज्ञान है तो वह ज्ञान आस्रवों में प्रवृत्त है या उनसे निवृत्त?" – यह दूसरा प्रश्न है। यदि 'वह ज्ञान है' – ऐसा कहते हो तो ज्ञान आस्रवों में प्रवृत्ति कैसे कर सकता है? जो आस्रवों में प्रवर्तन करेगा तो आत्मा व आस्रवों के अभेदज्ञान से उस ज्ञान की कोई विशेषता ही नहीं रही। एक ओर तो उसे ज्ञान कहें, वहीं दूसरी ओर कहें कि वह आस्रवों में प्रवृत्ति करता है, रुचि करता है तो वह भेदज्ञान ही नहीं है। जो राग से भिन्न होकर स्वभाव को ग्रहण करे, वही ज्ञान – भेदज्ञान है। उसी ज्ञानमात्र से मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी का बन्ध रुकता है। जो पुण्य-पाप में अटके, वह तो भेदज्ञान ही नहीं है। अतः जिससे आस्रव का निरोध हो, वही सच्चा भेदज्ञान है। इसी से बन्ध का निरोध होता है।

"और यदि आस्रवों से निवृत्त है तो ज्ञान से ही बन्ध का निरोध सिद्ध हुआ क्यों न कहलायेगा?" (अर्थात् सिद्ध हुआ ही कहलायेगा) पुण्य-पाप के भाव से दृष्टि हटकर स्वभाव में एकाकार हुई तो ज्ञानमात्र से बन्धन

रुक जाता है। अविरति आदि राग-परिणाम होते अवश्य हैं, परन्तु 'मैं तो राग से भिन्न चिदानन्दस्वरूप हूँ' – ऐसा भेदज्ञान होने पर बन्ध रुकता है।

अब कहते हैं कि – 'ऐसा सिद्ध होने से अज्ञान का अंश – ऐसे क्रियानय का खण्डन हुआ।' दया-दान-पूजा-भक्ति आदि पुण्यभाव से धर्म होता है – ऐसे अज्ञानमय क्रियानय का खण्डन हुआ। कषाय की मन्दता करते-करते धर्म होता है – ऐसी खोटी मान्यता का यहाँ खण्डन किया है। मन्दराग की लाखों क्रियायें करे, तथापि वह धर्म नहीं है। राग से निवर्तित हुआ ज्ञान ही धर्म है। राग की मन्दता की क्रिया एवं परलक्ष्यी ज्ञान – इसप्रकार 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' का कोई अर्थ करे तो यह यथार्थ नहीं है; अतः यहाँ इस बात का भी खण्डन किया है। राग से भिन्न स्वरूप का ज्ञान तथा ज्ञानस्वभाव में स्थिरतारूप या रमनेरूप क्रिया – यही 'ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः' सूत्र का यथार्थ अर्थ है। समयसार कलशटीका के २६७वें कलश में आया है कि ज्ञाननय व क्रियानय की परस्पर तीव्रमैत्री है अर्थात् शुद्धस्वरूप का अनुभव, अशुद्ध रागादि परिणामों का नाश करके होता है। तात्पर्य यह है कि रागादि अशुद्ध परिणति का विनाश शुद्धस्वरूप के अनुभव-सहित है, और इनमें परस्पर अत्यन्त मैत्री कही है। जो इसका पात्र हुआ है, वह समकिती है, धर्मनिष्ठ है। राग की मन्दता की क्रिया धर्म नहीं है, परन्तु रागपरिणाम को नष्ट करता हुआ जो निर्मल परिणाम प्रगट होता है, वही धर्म की क्रिया है, मोक्षमार्ग है।

"यदि आत्मा और आस्रवों का भेदज्ञान आस्रवों से निवृत्त न हो तो वह ज्ञान ही नहीं है – ऐसा सिद्ध होने से ज्ञान के अंश ऐसे (एकान्त) ज्ञाननय का भी खण्डन हुआ।" कोई मात्र धारणारूप जानपना करके माने कि मुझे ज्ञान हो गया और ज्ञान में एकाकार या एकत्व स्थापित न करे तो वह ज्ञान, ज्ञान ही नहीं है – इसप्रकार एकान्त ज्ञाननय का भी खण्डन किया। भले ही ज्ञान का क्षयोपशम हो, किन्तु आत्मा में एकाग्र नहीं हुआ तो उस अकेले ज्ञान को ज्ञान ही नहीं कहते। अकेला क्षयोपशम का अंश सम्पूर्ण वस्तु नहीं है। श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है :–

कोई क्रिया जड़ थई रह्या, शुष्क ज्ञानमां कोई।
माने मारग मोक्षनो, करुणा उपजे जोई॥

एक को क्रिया-जड़ कहा, दूसरे को शुष्क-ज्ञानी कहा। दोनों का निषेध करके कहते हैं कि इनकी दशा देखकर हमें करुणा आती है।

जो ज्ञान राग से निवर्तित न हो, व स्वभाव में प्रवर्तित न हो; वह ज्ञान, ज्ञान ही नहीं है। कोई क्षयोपशम ज्ञान को ही सम्यग्ज्ञान माने तो उसका यहाँ निषेध किया है।

यहाँ एकान्त क्रियानय व एकान्त ज्ञाननय – दोनों मिथ्या मतों का खण्डन किया है। जो राग की मन्दता की क्रिया में धर्म मानता है, वह क्रियाजड़ है तथा जो जानने मात्र को भेदज्ञान मानता है, वह शुष्क-ज्ञानी है। दूसरे प्रकार से कहें तो 'व्यवहार करते-करते धर्म हो जायगा' – ऐसे क्रियानय के पक्षपातियों तथा परलक्ष्यी ज्ञानमात्र को सम्यग्ज्ञान कहनेवाले एकान्त-ज्ञाननय के पक्षपातियों का यहाँ खण्डन किया गया है।

अहाहा ! वस्तु ज्ञान व आनन्द का पिण्ड है। राग से भिन्न होकर आत्मा में एकत्वरूप परिणमन करनेवाला ज्ञान ही ज्ञान है और इसीमें रमणता करे, वही सच्ची क्रिया है और वही मोक्षमार्ग है।

गाथा ७२ के भावार्थ पर प्रवचन

आस्रव अशुचि हैं, जड़ हैं, दुःख का कारण हैं; और आत्मा पवित्र है, ज्ञाता है, सुखरूप है। – इसप्रकार लक्षणभेद से दोनों को भिन्न जानकर आत्मा आस्रवों से निवृत्त होता है और तब ही उसे कर्म का बन्ध भी नहीं होता। जो पहले पुण्य-पाप को उपादेय मानता था, वह अब उन्हें हेय जानकर आत्मा को उपादेयरूप से स्वीकार करता है, उसे कर्म का बन्ध भी नहीं होता। आत्मा व आस्रवों का भेद जानने पर भी यदि आत्मा आस्रवों से निवृत्त न हो तो वह भेदज्ञान नहीं, बल्कि अज्ञान ही है।

प्रश्न :– अविरत सम्यग्दृष्टि को मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी प्रकृतियों का तो बन्ध नहीं होता, किन्तु अन्य प्रकृतियों का तो आस्रव-बन्ध होता है, अतः उसे ज्ञानी कहोगे या अज्ञानी ?

उत्तर :– सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानी ही है, क्योंकि वह अभिप्रायपूर्वक आस्रवों से निवृत्त है। धर्मी को ज्ञानधारा प्रगट हो गई है, अतः भले ही अस्थिरताजनित रागधारा हो, तथापि अभिप्राय में वह राग से निवृत्त ही है; क्योंकि अभिप्राय में उसे राग का आदर नहीं है, स्वभाव का स्वामीपना प्रगट हो गया है तथा पर का – राग का स्वामीपना छूट गया है। यद्यपि सम्यग्दृष्टि को जहाँ तक चारित्रमोह का उदय है, वहाँ तक उदयानुसार आस्रव-बन्ध होता है, परन्तु उसका स्वामीपना नहीं है। उदयानुसार अर्थात् द्रव्यकर्म का उदय निमित्त होता है, किन्तु आस्रव अपने उपादान की

योग्यता के प्रमाण ही होता है; जितना उदय है, उसी प्रमाण में आस्रव-बन्ध हो – ऐसा नहीं है। यदि ऐसा हो तो किसी को कभी मुक्ति ही नहीं हो सकेगी, अर्थात् मुक्ति के अभाव का प्रसंग आ जायगा। उदय का निमित्त होने पर भी उपादान की योग्यतानुसार ही आस्रव होता है।

अपने पुरुषार्थ की मन्दता से ज्ञानी को राग होता है, किन्तु उसे राग रखने का – उपादेय मानने का अभिप्राय नहीं रहा। अभिप्राय में तो वह सर्वथा आस्रव-बन्ध से छूटना ही चाहता है, इसकारण वह ज्ञानी ही है।

'ज्ञानी के बन्ध नहीं होता' – ऐसा जो कहा गया है, उसका अभिप्राय यह है कि मिथ्यात्वसम्बन्धी अनन्त संसार का कारणभूत बन्ध ज्ञानी को नहीं होता – यहाँ प्रधानरूप से यही विवक्षा है। अविरति आदि से जो बन्ध होता है; वह अल्प स्थिति-अनुभागवाला है, दीर्घ संसार का कारण नहीं है। इस कारण वह प्रधानरूप से गिनने में नहीं आया। यद्यपि राग संसार का कारण है, परन्तु ज्ञानी को वह राग दीर्घ संसार का कारण नहीं है; इसलिए उसे गिना नहीं जाता।

अथवा ज्ञान बन्ध का कारण ही नहीं है। जब तक ज्ञान में मिथ्यात्व का उदय था, तब तक वह अज्ञान कहलाता था; तथा मिथ्यात्व जाने के बाद अज्ञान नहीं है, ज्ञान ही है। जो चारित्रमोह सम्बन्धी विकार है, ज्ञानी उस विकार का स्वामी नहीं है, अतः इसकारण ज्ञानी के बन्ध नहीं है। विकार स्वयं बन्धरूप व बन्ध का कारण है, वह बन्ध की पंक्ति में है, ज्ञान की पंक्ति में नहीं है।

अब यहाँ कलशरूप काव्य कहते हैं :–

परपरिणतिमुज्झत् खंडयद्भेदवादा-
निदमुदितमखंडं ज्ञानमुच्चंडमुच्चैः।
ननु कथमवकाशः कर्तृकर्मप्रवृत्ते-
रिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबंधः ।।४७।।

श्लोकार्थ :– [परपरिणतिम् उज्झत्] परपरिणति को छोड़ता हुआ, [भेदवादान् खण्डयत्] भेद के कथनों को तोड़ता हुआ, [इदम् अखण्डम् उच्चण्डम् ज्ञानम्] – यह अखण्ड और अत्यन्त प्रचण्ड ज्ञान [उच्चैः उदितम्] प्रत्यक्ष उदय को प्राप्त हुआ है। [ननु] अहो ! [इह] ऐसे ज्ञान में [कर्तृकर्मप्रवृत्तेः] (परद्रव्य के) कर्त्ताकर्म की प्रवृत्ति का [कथम् अवकाशः] अवकाश कैसे हो सकता है ? [वा] तथा [पौद्गलः कर्मबन्धः]

पौद्गलिक कर्मबन्ध भी [कथं भवति] कैसे हो सकता है ? (अर्थात् कदापि नहीं हो सकता।)

(ज्ञेयों के निमित्त से तथा क्षयोपशम के विशेष से ज्ञान में जो अनेक खण्डरूप आकार प्रतिभासित होते थे, उनसे रहित ज्ञानमात्र आकार अब अनुभव में आया; इसलिये ज्ञान को 'अखण्ड' विशेषण दिया है। मतिज्ञानादि जो अनेक भेद कहे जाते थे, उन्हें दूर करता हुआ उदय को प्राप्त हुआ है; इसलिये 'भेद के कथनों को तोड़ता हुआ' – ऐसा कहा है। पर के निमित्त से रागादिरूप परिणमित होना था, उस परिणति को छोड़ता हुआ उदय को प्राप्त हुआ है; इसलिये 'पर-परिणति को छोड़ता हुआ' – ऐसा कहा है। पर के निमित्त से रागादिरूप परिणमित नहीं होता, बलवान है; इसलिये 'अत्यन्त प्रचण्ड' कहा है।)

भावार्थ :– कर्मबन्ध तो अज्ञान से हुई कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति से था। अब जब भेदभाव को और परपरिणति को दूर करके एकाकार ज्ञान प्रगट हुआ, तब भेदरूप कारक की प्रवृत्ति मिट गई; फिर अब बन्ध किसलिये होगा ? अर्थात् नहीं होगा।

कलश ४७ पर प्रवचन

देखो ! पहले गाथा में तीन बोलों द्वारा भेदज्ञान समझाया है। पुण्य-पाप के भाव अशुचि हैं, जड़ हैं, दुःखरूप हैं तथा भगवान आत्मा त्रिकाली ध्रुव भगवान, अतिनिर्मल, विज्ञानघनस्वरूप, आनन्दरूप है। इसप्रकार दोनों की भिन्नता जानकर जो पर्यायबुद्धि दूर करके स्वभावसन्मुख होता है, उसे भेदज्ञान प्रगट होता है। ऐसा भेदज्ञान जिसे अन्तरंग में प्रगट हुआ है, उस आत्मा के लिए 'पर परिणति को छोड़ता हुआ, भेदों के कथनों को तोड़ता हुआ – यह अखण्ड तथा अत्यन्त प्रचण्ड ज्ञान प्रत्यक्ष उदय को प्राप्त हुआ है' – ऐसा कहा है।

पर-परिणति अर्थात् विकार या पुण्य-पाप के भाव। पहले जो अनेक पुण्य-पाप के भावों में अटक रहा था, स्वभाव के आश्रय से उन भावों को छोड़ता हुआ अति प्रचण्ड ज्ञान, उदय को प्राप्त हुआ है। 'मैं अखण्ड एक ज्ञायकस्वरूप हूँ' – ऐसी दृष्टि होते ही, राग मेरा कर्त्तव्य है – यह दृष्टि छूट गई है। तथा राग से भिन्न होकर अति तीक्ष्ण ज्ञान प्रगट हुआ है। भगवान आत्मा चित्शक्तिस्वरूप है, किन्तु पुण्य-पाप की रुचि के कारण चित्शक्ति रुक गई थीं। अहो ! विकार या राग मेरा कर्त्तव्य, दया, दान, व्रतादि मेरे कार्य – ऐसा मानने से चित्शक्ति आच्छादित हो गयी थी; परन्तु

अखण्ड, एकरूप, चिदाकार, चैतन्यमय आत्मा की दृष्टि करने पर राग की रुचि व महिमा छूट गई तथा प्रचण्ड ज्ञानशक्ति की प्रगटता हुई। जो ज्ञान पर में अटकता था, परलक्ष्यी था, वह स्वभाव में स्थित हुआ — यही कर्म है।

यह अखण्ड व अत्यन्त प्रचण्ड ज्ञान भेद के कथनों को भी तोड़ता हुआ — मेटता हुआ प्रगट हुआ है। अहाहा ! ऐसे अखण्ड एकरूप ज्ञायक के ऊपर दृष्टि जाते ही भेदवाद खण्ड-खण्ड हो जाते हैं और अखण्डज्ञान प्रगट हो जाता है। देखो ! यह केवलज्ञान की बात नहीं है। केवलज्ञान तो पर्याय है, यहाँ तो अखण्डज्ञान प्रगट होने की बात है। अहाहा ! अकेला ज्ञान...ज्ञान...ज्ञान चैतन्यसामान्य एक, सदृश, पर्यायरहित, ध्रुवस्वभाव प्रगट होता है। अहाहा ! मति-श्रुतज्ञान आदि जो खण्ड-खण्डरूप भेद थे, उन्हें दूर करता हुआ, मेटता हुआ अखण्डज्ञान उदित हुआ है। अभेददृष्टि में भेदवाद मिट जाते हैं। अहा ! कर्म क्षयोपशम के कारण, ज्ञेय के निमित्त से ज्ञान में जो खण्ड (भेद) पड़ते थे, जो खण्डरूप ज्ञान के आकर प्रतिभासित होते थे, अब ज्ञायक पर दृष्टि स्थिर होते ही वह ज्ञान अखण्डरूप से उदित हुआ है। अर्थात् एक ज्ञानमात्र अखण्ड वस्तु ही ज्ञान में ज्ञात होने लगी है, ज्ञान के भेद नहीं।

अहाहा ! मैं अखण्ड, एक, ज्ञायकमूर्त्ति भगवान हूँ — ऐसी दृष्टि होने पर विकार तो दूर रहा, मति-श्रुत अवस्था के ज्ञान के भेद भी बाहर ही रह जाते हैं। मात्र अखण्ड, ज्ञायक भगवान ही ज्ञान में आता है।

भाई ! वीतराग का मार्ग ऐसा ही है। जब राग पर लक्ष जाता है, तब ध्रुव चैतन्यबिम्ब ज्ञान में आता है। ११वीं गाथा में आता है कि — 'त्रिकाली भूतार्थ — सत्यार्थ द्रव्यस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।' — इसमें भेदों के विकल्प भी टूट जाते हैं। चैतन्यरस कन्द आत्मप्रभु जाज्वल्यमान चैतन्यसूर्य है। उस पर दृष्टि पड़ते ही मति-श्रुतादि ज्ञान के अखण्डरूप भेदों को तोड़ता हुआ अखण्डज्ञान प्रत्यक्ष प्रगट होता है।

अब कहते हैं कि अहो ! ऐसे ज्ञान में परद्रव्य के कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति का अवकाश कैसे हो सकता है ? वस्तु अखण्ड, एकरूप, चैतन्य-स्वभावमय है; उसमें कोई ऐसी शक्ति नहीं है, जो विकार उत्पन्न करे। ऐसे शक्तिमान द्रव्य पर दृष्टि पड़ते ही ज्ञान की वर्त्तमान दशा ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव से प्रगट हुई है। अहो ! ऐसे ज्ञान में कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति को अवकाश ही कहाँ है ?

ज्ञायकस्वरूप त्रिकाली द्रव्य में स्व-पर को प्रकाशित करने की त्रिकाल निजशक्ति है। त्रिकाली को जाने – ऐसी त्रिकाल निजशक्ति है। नियमसार में आता है कि – 'त्रिकाल ज्ञान-दर्शन का उपयोग इस त्रिकाल को जानता ही है। वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है।' – यह परिणमनरूप उपयोग की बात नहीं है। त्रिकाली वस्तु को जानने का स्वभाव त्रिकाल शक्तिरूप से है – यह बात है। परिणतिरूप से जानने की बात यहाँ नहीं है। भाई! बात बहुत सूक्ष्म है। यहाँ कहते हैं कि ज्ञानस्वभाव के परिणमन में राग के कर्त्तापने का एवं कर्मपने का अवकाश ही कहाँ है? अर्थात् नहीं है। स्वभाव का आश्रय लेकर जो ज्ञान-श्रद्धान प्रगट हुआ, उसमें सम्पूर्ण आत्मा ज्ञात हुआ है, श्रद्धान में आया है वह ज्ञान जिस पर्याय में राग की अशुद्धता है, या जो अशुद्धता की परिणति है, उसको व्यवहार से जानते हैं, व्यवहार उस काल में जाना हुआ प्रयोजनवान है; परन्तु ज्ञानी राग का कर्त्ता व राग इसका कार्य – ऐसा ज्ञान में अवकाश ही कहाँ है? अर्थात् नहीं है।

अनादि से ऐसा सर्वज्ञस्वभावी निज आत्मद्रव्य है। अनादि से साधक जीव भी हैं, मिथ्यादृष्टि भी अनादि से हैं। उन सबको जाननेवालों का जगत में विरह भी कभी नहीं पड़ता। इसीप्रकार भगवान सर्वज्ञदेव की प्रतिमायें भी अनादि से हैं, उनका भी कभी विरह नहीं होता।

लोगों को सत्य तत्त्व की खबर नहीं है। भाई! ऊपर-ऊपर से मान लेने की यह वस्तु नहीं है, भाव में इसका भलीप्रकार भासन होना चाहिये। तीनकाल, तीनलोक अनन्त ज्ञेयरूप हैं तो उसका ज्ञाता किसी काल में हो, किसी में न हो – ऐसा नहीं बन सकता।

भगवान सर्वज्ञदेव जिसतरह त्रिकाल हैं, उसीप्रकार मूर्तिरूप में उनके प्रतिबिम्ब भी त्रिकाल शाश्वत हैं – ऐसी ही वस्तु की स्थिति है। यहाँ कहते हैं कि ज्ञायकभाव का भान होने पर अन्दर शक्तिरूप में जो सामर्थ्य थी, वह प्रगट हुई। इस ज्ञान में 'मैं राग का कर्त्ता व राग मेरा कर्म' – ऐसी कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति का अवकाश कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता है। अरे भाई! प्रगट हुआ ज्ञान जानने का काम करे कि कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति का काम करे? परद्रव्य में कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति का अवकाश ही नहीं है। पर-परिणति को छोड़ने पर ही जब यह प्रगट होता है तो ज्ञान में इनका कर्त्ता-कर्मपना कैसे सम्भव है? सम्भव ही नहीं है।

अब कहते हैं कि यदि ज्ञान में कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति का अवकाश नहीं है तो कर्मबन्ध का भी अवकाश कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता।

कलशटीका के २९ वें कलश में आता है कि राग, द्वेष, मोह, शरीर, सुख, दुःख-आदि विभाव पर्यायरूप परिणत जीव का जिस काल में ऐसा अशुद्ध परिणामरूप संस्कार छूट जाता है, उसी काल में इसके अनुभव हैं। उसका विवरण – "जो शुद्ध चेतनामात्र का आस्वाद आये विना अशुद्धभाव-रूप परिणाम छूटता नहीं और अशुद्ध संस्कार छूटे विना शुद्धस्वरूप का अनुभव होता नहीं; इसलिये जो कुछ है, सो एक ही काल, एक ही वस्तु, एक ही ज्ञान, एक ही स्वाद है" – ऐसा मोक्ष का मार्ग कोई अपूर्व वस्तु है। भाई ! संसार का व्यय होकर ही मोक्ष होता है। मोक्ष का एकमात्र यही उपाय है। लोग वाद-विवाद करते हैं कि व्यवहार से ऐसा है – वैसा है; किन्तु भाई ! इसमें वाद-विवाद की कोई गुंजाइस ही नहीं है।

नियमसार के प्रायश्चित्त अधिकार में आता है कि 'निर्मलदशारूप जो वीतराग परिणति प्रगट हुई है, वही प्रायश्चित्त है। प्रायः+चित्त, प्र=प्रकृष्ट, चित्त=ज्ञान अर्थात् प्रकृष्टरूप ज्ञान वही प्रायश्चित्त है; इसलिये त्रिकाली ज्ञान प्रायश्चित्तस्वरूप ही है। परिणति प्रगट हुई, वह कार्यनियम है तथा जो त्रिकाली चेतनारूप वस्तु है, वह कारणनियम है अर्थात् जो कुछ निर्मलपरिणति होती है, उसीप्रकार की सम्पूर्ण वस्तु स्वभाव से है। पर्याय में वीतरागता प्रगट होती है तो वस्तु भी वीतरागस्वरूप ही है। केवलज्ञान प्रगट होता है तो अखण्ड द्रव्य भी ज्ञानस्वरूप ही है। जैसे ऐसे ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में राग के कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति को अवकाश नहीं है, उसीप्रकार ध्रुव-स्वभाव के आश्रय से प्रगट हुई ज्ञान-परिणति में भी राग की कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति को अवकाश नहीं है; फिर कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति के अभाव में कर्म का बन्धन होता है – इसका अवकाश कहाँ रहा ? अर्थात् नहीं रहा।

कोई ऐसा कहता है कि 'जो परद्रव्य का कर्त्तापना न माने, वह दिगम्बर नहीं है।' उन सबका यहाँ स्पष्ट निराकरण है। भाई ! आत्मद्रव्य में परद्रव्य की कर्त्ता-कर्म प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती।

अरे रे ! जीव दुःख से भयभीत होकर सुख की खोज करते हैं, किन्तु वे इसका सही उपाय नहीं जानते। जिसतरह कली में शक्तिरूप से फूल है, क्योंकि उसमें से फूल खिलता है; उसीप्रकार भगवान आत्मा अनन्त गुण-रूपी पाँखुड़ियों का पिण्ड एक, ज्ञायकभावरूप से अन्दर में विराजमान है। दृष्टि उस स्वभाव को स्वीकार करके जब अन्तर्मग्न होती है, तब पर्याय में ज्ञायकभाव प्रगट हो जाता है – यही धर्म की रीति है।

ज्ञेयों के निमित्त से तथा क्षयोपशम के विशेष से ज्ञान में जो अनेक खण्डरूप आकार प्रतिभासित होते थे, उनसे रहित ज्ञानमात्र आकार अब अनुभव में आया; इस कारण ज्ञान को 'अखण्ड' विशेषण दिया है।

३१वीं गाथा में आया है कि 'जो विषयों को खण्ड-खण्ड ग्रहण करती हैं – ऐसी भावेन्द्रियाँ ज्ञान को खण्ड-खण्ड बतलाती हैं।' खण्ड-खण्ड को जानती हैं – यह दूसरी बात है, परन्तु ज्ञान को खण्ड-खण्डरूप से जनाती हैं – ऐसा वहाँ कहा है ? ज्ञानवस्तु तो त्रिकाल अखण्ड है, किन्तु ज्ञेयों के निमित्त से ज्ञान में अनेक खण्डरूप आकार प्रतिभासित होते हैं; परन्तु जब ज्ञायक में अन्तर्मग्न हुआ, तब ज्ञायक....ज्ञायक....ज्ञायक – ऐसा अखण्ड एक ज्ञायकभाव अनुभव में आता है और इसीकारण ज्ञान को 'अखण्ड' विशेषण दिया गया है।

"मतिज्ञान आदि जो अनेक भेद कहे जाते थे, उन्हें दूर करता हुआ उदय को प्राप्त हुआ है, इसलिए 'भेद के कथनों को तोड़ता हुआ' – ऐसा कहा है।" कलशटीका में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, द्रव्य-गुण-पर्याय अथवा आत्मा को ज्ञानगुण से अनुभव करना ऐसे जो विकल्प हैं, वे भेद हैं – ऐसा कहा है। उन भेदों को दूर करता हुआ, मूल से उखाड़ता हुआ ज्ञान प्रकट होता है। अहाहा ! ज्ञान ही आत्मा – यह विकल्प है, भेद है, अनुपचरित व्यवहारनय का विषय है। तथा वस्तु अखण्ड, एकरूप अभेद ज्ञायक है – ऐसे अखण्ड ज्ञायक की ज्ञान में स्वीकृति हुई, वही सम्यग्दर्शन है और इसी का नाम धर्म है।

"पर के निमित्त से रागादिरूप परिणमित होता था, अब उस परणति को छोड़ता हुआ उदय को प्राप्त हुआ है; इसलिए 'पर परिणति को छोड़ता हुआ' – ऐसा कहा है। अनादि से राग व ज्ञान के एकत्वरूप से परिणमित होता था, भेदज्ञान प्रगट होने पर दोनों की एकताबुद्धि छूट गई; इसकारण 'पर-परिणति को छोड़ता हुआ' – ऐसा कहा है।

"पर के निमित्त से रागादिरूप परिणमित नहीं होता, इसलिए 'अत्यन्त प्रचण्ड' कहा है।" ज्ञान राग से एकरूप होकर परिणमन नहीं करता; किन्तु जो राग होता है, उसको स्वयं से भिन्न जाननेरूप परिणमित होता है। जिस काल में राग आया, उसे उस काल में जानता हुआ तथा स्व को भी उसी काल में जानता हुआ ज्ञान अपनी स्व-पर प्रकाशक सामर्थ्य से प्रगट होता है। तथा वह ज्ञान बलवान है; इसलिये जहाँ ज्ञान की उग्रता हुई, वहीं राग-द्वेष भस्म हो जाते हैं। ज्ञान की उग्रता कर्म के

कठिन विपाक के रस को भी भस्म कर देती है। इसकारण उसको 'अत्यन्त प्रचण्ड' कहा है।

यह भगवान का मार्ग अत्यन्त सूक्ष्म है। भाई! वस्तुतत्त्व शुभराग के स्थूल विकल्पों से पकड़ में आने योग्य नहीं है। आत्मद्रव्य का स्वरूप तो सूक्ष्म निर्विकल्प है तथा निर्विकल्प दृष्टि से ही पकड़ में आ सकता है।

प्रश्न :– ज्ञान का स्वरूप तो सविकल्प कहा है न?

उत्तर :– वहाँ सविकल्प का अर्थ भेदपूर्वक स्व व पर को जानना है। विकल्प का अर्थ राग नहीं है। ज्ञान तो राग से भिन्न ही है। निर्विकल्प ज्ञान अर्थात् राग के अवलम्बन से रहित ज्ञान से ही वस्तुतत्त्व ग्रहण किया जाता है – ऐसा अर्थ समझना। यही मार्ग है, अन्य नहीं।

कलश ४७ के भावार्थ पर प्रवचन

कमबन्ध तो अज्ञान से हुई कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति से था। अब ज्यों ही भेदभाव को व पर-परिणति को दूर करके एकाकार ज्ञान प्रकट हुआ तो भेदरूप कारक की प्रवृत्ति मिट गई, तो फिर बन्ध कैसे होगा? अर्थात् नहीं होगा। ज्ञायक के लक्ष्य से अखण्ड ज्ञायक की परिणति जागृत हुई तो भेदरूप कारकों की प्रवृत्ति मिट गई एवं अभेद कारक की प्रवृत्ति हुई। ज्ञान ज्ञायक को अनुभवते हुए प्रगट हुआ। तब फिर भिन्न कारकों की प्रवृत्ति के अभाव में बन्ध कैसे होगा? अर्थात् नहीं होगा।

जांही समै जीव देहबुद्धिको विकार तजै,
वेदत सरूप निज भेदत भरमकौं।
महा परचण्ड मति मण्डन अखंण्ड रस,
अनुभौ अभ्यासि परगासत परमकौं॥
ताही समै घटमें न रहै विपरीत भाव,
जैसैं तभ नासै भानु प्रगटि घरमकौं।
ऐसी दसा आवै जब साधक कहावै, तब,
करता ह्वै कैसे करै पुग्गल करमकौं॥ ३॥

– समयसार नाटक, (कर्ताकर्मक्रिया द्वार)

केन विधिनायमास्रवेभ्यो निवर्तत इति चेत्–

अहमेक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो ।
तम्हि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि ।।७३।।

अहमेकः खलु शुद्धः निर्ममतः ज्ञानदर्शनसमग्रः ।
तस्मिन् स्थितस्तच्चित्तः सर्वानेतान् क्षयं नयामि ।।७३।।

अहमयमात्मा प्रत्यक्षमक्षुण्णमनंतं चिन्मात्रं ज्योतिरनाद्यनंतनित्योदित विज्ञानघनस्वभावभावत्वादेकः सकलकारकचक्रप्रक्रियोत्तीर्णनिर्मलानुभूतिमात्रत्वाच्छुद्धः, पुद्गल स्वामिकस्य क्रोधादिभाववैश्वरूपस्य स्वस्य स्वामित्वेन नित्यमेवापरिणमनान्निर्ममतः; चिन्मात्रस्य महसो वस्तुस्व-

---

अब प्रश्न करता है कि यह आत्मा किस विधि से आस्रवों से निवृत्त होता है ? उसके उत्तररूप गाथा कहते है :–

मैं एक शुद्ध ममत्वहीन रु, ज्ञान-दर्शन पूर्ण हूँ ।
इसमें रहूँ स्थित लीन इसमें, शीघ्र ये सब क्षय करूँ ।।७३।।

गाथार्थ :– ज्ञानी विचार करता है कि :– [खलु] निश्चय से [अहम्] मैं [एक] एक हूँ, [शुद्धः] शुद्ध हूँ, [निर्ममत] ममतारहित हूँ, [ज्ञानदर्शन समग्रः] ज्ञान-दर्शन से पूर्ण हूँ; [तस्मिन् स्थितः] उस स्वभाव में रहता हुआ, [तच्चित्तः] उसमें (उस चैतन्यअनुभव में) लीन होता हुआ (मैं) [ऐतान्] इन [सर्वान्] क्रोधादिक सर्व आस्रवों को [क्षयं] क्षय को [नयामि] प्राप्त करता हूँ ।

टीका :– मैं यह प्रत्यक्ष अखण्ड अनन्त चिन्मात्र ज्योति आत्मा अनादि-अनन्त, नित्य उदयरूप, विज्ञानघनस्वभावभावत्व के कारण एक हूँ; (कर्त्ता, कर्म, करण सम्प्रदान, उपादान और अधिकरणस्वरूप) सर्व कारकों के समूह की प्रक्रिया से पार को प्राप्त जो निर्मल अनुभूति, उस अनुभूतिमात्रपने से शुद्ध हूँ; पुद्गलद्रव्य जिसका स्वामी है–ऐसे जो क्रोधादिभावों का विश्वरूपत्व (अनेकरूपत्व) उसके स्वामीपनेरूप स्वयं सदा ही नहीं परिणमता होने से ममतारहित हूँ; चिन्मात्र ज्योति का (आत्मा का), वस्तुस्वभाव से ही सामान्य और विशेष से परिपूर्णता होने से, मैं

भावत एव सामान्यविशेषाभ्यां सकलत्वाद् ज्ञानदर्शनसमग्रः, गगनादिवत्पारमार्थिको वस्तुविशेषोऽस्मि। तदहमधुनास्मिन्नेवात्मनि निखिलपरद्रव्यप्रवृत्तिनिवृत्त्या निश्चलमवतिष्ठमानः सकलपरद्रव्यनिमित्तकविशेषचेतनचंचलकल्लोलनिरोधेनेममेव चेतयमानः स्वाज्ञानेनात्मन्युत्प्लवमानानेतान् भावानखिलानेव क्षपयामीत्यात्मनि निश्चित्य चिरसंगृहीतमुक्तपोतपात्रः समुद्रावर्त्त इव झगित्येवोद्वांतसमस्तविकल्पोऽकल्पितमचलितममलमात्मानमालंबमानो विज्ञानघनभूतः खल्वयमात्मास्रवेभ्यो निवर्तते।

ज्ञानदर्शन से परिपूर्ण हूँ—ऐसा मैं आकाशादि द्रव्य की भाँति पारमार्थिक वस्तुविशेष हूँ। इसलिये अब मैं समस्त परद्रव्य-प्रवृत्ति से निवृत्ति द्वारा इसी आत्मस्वभाव में निश्चल रहता हुआ, समस्त परद्रव्य के निमित्त से विशेषरूप चेतन में होती हुई चञ्चल कल्लोलों के निरोध से इसको ही (इस चैतन्यस्वरूप को ही) अनुभवन करता हुआ, अपने अज्ञान से आत्मा में उत्पन्न होते हुए जो यह क्रोधादिक भाव हैं, उन सबका क्षय करता हूँ—ऐसा आत्मा में निश्चय करके, जिसने बहुत समय से पकड़े हुए जहाज को छोड़ दिया है, ऐसे समुद्र के भँवर की भाँति जिसने सर्व विकल्पों को शीघ्र वमन कर दिया है—ऐसे निर्विकल्प अचलित निर्मल आत्मा का अवलम्बन करता हुआ, विज्ञानघन होता हुआ, यह आत्मा आस्रवों से निवृत्त होता है।

भावार्थ :— शुद्धनय से ज्ञानी ने आत्मा का ऐसा निश्चय किया है कि मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, परद्रव्य के प्रति ममतारहित हूँ, ज्ञान-दर्शन से पूर्ण वस्तु हूँ।' जब वह ज्ञानी आत्मा ऐसे अपने स्वरूप में रहता हुआ उसी के अनुभवरूप हो तब क्रोधादिक आस्रव क्षय को प्राप्त होते हैं। जैसे समुद्र के आवर्त्त (भँवर) ने बहुत समय से जहाज को पकड़ रखा हो और जब वह आवर्त्त शमन हो जाता है तब वह उस जहाज को छोड़ देता है; इसीप्रकार आत्मा विकल्पों के आवर्त्त को शमन करता हुआ आस्रवों को छोड़ देता है।

गाथा ७३ की उत्थानिका, गाथा एवं टीका पर प्रवचन

अब पूछते हैं कि यह आत्मा किस विधि से आस्रवों से निवृत्त होता है ? पुण्य-पाप के भाव आस्रव हैं, मलिन हैं, अचेतन हैं, दुःख हैं, चैतन्य की जाति से विरुद्ध कुजात हैं। अहाहा ! जिसे स्वरूप समझने की रुचि हुई, वह शिष्य पूछता है कि प्रभो ! यह आत्मा पुण्य-पाप के भावों से किस विधि से निवृत्त होता है। अन्दर आत्मा में आस्रवों से छूटने की हार्दिक भावना उत्पन्न हुई है—ऐसी रुचिवाला शिष्य पूछता है कि इस (अज्ञानरूप कर्त्ता-

कर्म की) प्रवृत्ति से निवृत्ति किसप्रकार होती है। उसके उत्तर में यह गाथा कही गई है।

टीका में आचार्यदेव कहते हैं कि 'मैं इन आस्रवों का क्षय करता हूँ।' अहाहा ! शैली तो देखो ! 'आत्मा ऐसा करे तो ऐसा हो' – यह नहीं कहकर मैं क्षय करता हूँ – यह कहा है।

प्रथम बोल :– मैं यह आत्मा प्रत्यक्ष अखण्ड अनन्त चिन्मात्र-ज्योति अनादि-अनन्त नित्य-उदयरूप विज्ञानघनस्वभावभावत्व के कारण एक हूँ।

'मैं' शब्द से अपनी त्रिकाल अस्ति सिद्ध की है, तथा 'यह' शब्द से वर्त्तमान में ही प्रत्यक्ष अस्तिपना दिखाया है। आत्मा प्रत्यक्ष हो सकता है – ऐसी बात नहीं है, बल्कि वर्त्तमान में प्रत्यक्ष ही है। शक्ति के अधिकार में बारहवीं शक्ति 'स्वयं-प्रकाशमान विशद – ऐसी स्वसंवेदनमयी प्रकाशशक्ति' कही है। वस्तु स्वयं स्वयं से प्रत्यक्ष होती है – ऐसे प्रकाश गुण सहित है। आत्मा का ऐसा प्रकाशस्वभाव है कि स्वयं से ही अपने स्वसंवेदन में प्रत्यक्ष प्रकाशमान होता है।

तथा 'मैं अखण्ड हूँ' अहाहा····! एकसमय की पर्याय का भेद भी आत्मा में नहीं है। पर्याय तो व्यवहारनय का विषय है। सोलहवीं गाथा में ऐसा कहा है कि आत्मा ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप से परिणमन करता है – यह मेचकपना-मलिनता है, क्योंकि एक को तीनरूप से परिणमता हुआ कहना मेचकपना है। वस्तु में भेद पड़ना ही मेचकता है, व्यवहार है, असत्यार्थ है। वस्तु एकाकार है – यह निश्चय है, सत्यार्थ है।

तथा 'मैं अनन्त चिन्मात्र-ज्योति हूँ।' अरे ! स्वभाव की शक्ति का स्वरूप ही अनन्त है। अखण्ड व अनन्त – ये त्रिकाली चिन्मात्र-ज्योति के विशेषण हैं। इसप्रकार यह भाव की बात की।

अब काल की बात करते हैं: –

'मैं अनादि-अनंत हूँ' – ऐसा कहकर मैं त्रिकाल आदि-अन्तरहित हूँ – यह कहा है। जो 'है' – उसकी आदि कैसी ? तथा जो 'है' – उसका अन्त भी कैसा ? वस्तु तो अनादि-अनन्त नित्य-उदयरूप है, नित्य-प्रगटरूप है। सूर्य तो प्रातः उगता है और शाम को अस्त हो जाता है, परन्तु यह चैतन्य सूर्य तो नित्य-उदयरूप ही है। अहाहा ! मैं वर्त्तमान में अनादि-अनन्त, नित्य-उदयरूप चिन्मात्र-ज्योति हूँ – ऐसा कहते हैं।

जैसे अग्नि की ज्योति है, उसीप्रकार यह आत्मा चिन्मात्र-ज्योति है। उसका आश्रय लेने से संसार अर्थात् रागादिभाव जलकर खाक हो जाते हैं।

अब कहते हैं कि 'विज्ञानघनस्वभावपने के कारण मैं एक हूँ।' विज्ञानघनस्वभाव अर्थात् जिसमें विकल्प तो क्या ? एकसमय की पर्याय का भी अवकाश नहीं है। पर्याय उसके ऊपर-ऊपर तैरती है, किन्तु स्वभाव के अन्दर प्रतिष्ठा नहीं पाती। यह बात पहले कलश में भी आ गई है। सम्पूर्ण आत्मायें मिलकर 'मैं एक हूँ' – ऐसा नहीं है। यह तो अकेले विज्ञान का दल है, जिसमें पर व पर्याय का प्रवेश ही नहीं है – ऐसी चिन्मात्र-ज्योतिस्वरूप मैं विज्ञानघनस्वभावपने से एक हूँ।

आत्मा का क्षेत्र भले ही शरीरप्रमाण असंख्यातप्रदेशी हो, परन्तु उसके स्वभाव की सामर्थ्य अनन्त, अपार, बेहद है। क्षेत्र की कीमत नहीं है, स्वभाव के सामर्थ्य की कीमत है। शक्कर की डली से सैक्रीन की कणिका का क्षेत्र बहुत छोटा है किन्तु सैक्रीन की कणिका की मिठास शक्कर की डली से अनेकगुणी है। इसीप्रकार भगवान आत्मा शरीर-प्रमाण थोड़े से क्षेत्र में रहता है, तथापि इसकी विज्ञानघनस्वभावरूप सामर्थ्य अनन्त है। भाई ! वह जहाँ जितने क्षेत्र में है, वहाँ अखण्ड ध्यान लगाने से ही वह प्रगट होता है।

शिष्य का प्रश्न यह है कि आत्मा आस्रवों से कैसे छूटे ? उसका उत्तर चल रहा है – आत्मा अखण्ड, अनन्त, प्रत्यक्ष, चिन्मात्र-ज्योति विज्ञानघनस्वभावभावत्व के कारण एक है। उसकी दृष्टि करने पर मिथ्यात्व का आस्रव टल जाता है। यह सर्वप्रथम धर्म की शुरूआत की बात है। गाथा में जो 'अहमेक्को' पद है – उसकी व्याख्या पूर्ण हुई।

दूसरा बोल :– 'सर्व कारकों के कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान व अधिकरण की प्रक्रिया से पार को प्राप्त जो निर्मल अनुभूति, उस अनुभूतिमात्रपने से मैं शुद्ध हूँ।'

(१) 'आत्मा पर का कर्त्ता व पर आत्मा का कार्य' – ऐसा परद्रव्य में कर्त्ता-कर्मपना नहीं है। शरीर, मन, वचन, इन्द्रिय, कुटुम्ब या देश इत्यादि परद्रव्य का मैं कर्त्ता तथा इसमें जो क्रिया हुई, वह मेरा कर्म – ऐसा नहीं है। इसप्रकार परद्रव्य की बात यहाँ नहीं ली गई है; क्योंकि परपदार्थ किसी काल में भी कार्य के बिना नहीं रहता है।

(२) इसीप्रकार दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा आदि आत्मा के अशुद्धभावों का मैं कर्त्ता तथा वे मेरे कर्म, मैं इनका साधन, सम्प्रदान, ये मुझमें से हुये (अपादान) व मेरे आधार से हुये – अधिकरण इसप्रकार राग की क्रियाओं के षट्कारक की प्रक्रिया भी आत्मा के स्वरूप में नहीं है।

(३) एकसमय की निर्मलपर्याय के षट्कारक – जैसे कि मैं निर्मल पर्याय का कर्त्ता तथा निर्मलपर्याय मेरा कर्म, मैं उसका साधन, वह मेरे लिए हुई (सम्प्रदान), मेरे से हुई (अपादान), मेरे आधार से हुई (अधिकरण) – ऐसी निर्मलपर्याय के षट्कारकों की प्रक्रिया से भी पार को प्राप्त, षट्कारकों से भिन्न त्रिकाली आत्मा की निर्मल अनुभूतिमात्रपने के कारण मैं शुद्ध हूँ'। 'यहाँ 'अनुभूति' पर्याय की बात नहीं है, परन्तु अनुभूति-स्वरूप त्रिकाली द्रव्य की बात है। पर्याय में षट्कारकों का परिणमन स्वतन्त्र है, मेरी त्रिकाली वस्तु इनसे भिन्न है। अहाहा........! वर्तमान निर्मलपरिणति से मेरा त्रिकाली अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा भिन्न है। इसको यहाँ 'शुद्ध' कहा है।

निर्मल-अनुभूति की पर्यायों के भेदों को लक्ष्य में लेना व्यवहारनय है, अशुद्धता है, मेचकपना है, मलिनता है अर्थात् आत्मा सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र – इन तीन भेदरूप से परिणमन करता है – ऐसा लक्ष्य में लेना व्यवहारनय है। इसप्रकार (तीनरूप से) आत्मा का अपना अनुभव करते हुए आस्रवों से निवृत्ति नहीं होती।

प्रवचनसार के नय अधिकार में कहा है कि जैसे मिट्टी के बर्तनों को पर्याय के भेद से देखना अशुद्धनय है, उसीप्रकार आत्मा को उसके षट्कारकों के – पर्याय के भेद से देखना अशुद्धनय है। ज्ञान की पर्याय आनन्द की पर्याय, वीर्य की पर्याय – इसप्रकार के पर्यायों के भेद से आत्मा को देखना अशुद्धपना है। इनसे मिथ्यात्व का आस्रव नहीं मिटता। यहाँ तो कहते हैं कि षट्कारक की प्रक्रिया से भिन्न त्रिकाली अनुभूतिरूप भगवान आत्मा है, उस पर दृष्टि डालते ही मिथ्यात्व का आस्रव टल जाता है।

दया, दान के विकल्प से धर्म मानना तो मिथ्यात्व है ही, परन्तु अपनी निर्मलपर्यायों के भेद को लक्ष्य में लेने पर जो विकल्प होते हैं, उनसे धर्म होना माने तो भी मिथ्यात्व है।

भगवान आत्मा एकसमय की पर्याय के परिणमन से पार को प्राप्त भिन्न अनुभूतिमात्र त्रिकाली शुद्धवस्तु है। इसी त्रिकाली शुद्धज्ञायक पर दृष्टि जाने पर सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है और तब आत्मा आस्रवों से निवृत्त होता है। अहाहा! विकार के षट्कारकों के परिणमन-रूप क्रिया तो दूर रही, यहाँ तो ज्ञान का जो प्रगट अंश है, उसके षट्कारकों की प्रक्रिया से भी त्रिकाली अनुभूतिस्वरूप भगवान भिन्न है और उसे ही यहाँ शुद्ध कहा है। ऐसे त्रिकाली शुद्ध आत्मद्रव्य की दृष्टि होने पर मिथ्यात्व का आस्रव टल जाता है। इस विधि से जीव आस्रवों से निवृत्त होता है।

जैसे सीरा (हलुआ) बनाना हो तो उसकी विधि यह है कि प्रथम आटे को घी में सेकें (भूनें), पश्चात् उसमें गुड़ या शक्कर का पानी डाले तो सीरा तैयार हो; उसीप्रकार आत्मा में धर्म कैसे होता है — यह बात समझाते हैं। एक समय में षट्कारक के भेदों से भिन्न अभेद शुद्ध चैतन्यमय त्रिकाली वस्तु के ऊपर दृष्टि डालने पर सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट होता है तथा मिथ्यात्व का आस्रव छूट जाता है। आगे आयेगा कि जैसे-जैसे आत्मद्रव्य का आश्रय बढ़ता जायेगा, उसी क्रम से आस्रव घटता जायेगा। यही आस्रव मिटाने की अर्थात् धर्म प्राप्त करने की रीति व पद्धति है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार से आस्रव मिटाने या धर्म प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा तो मरणतुल्य चेष्टा करने पर भी वस्तु प्राप्त नहीं होगी, धर्म नहीं होगा। पूर्णानन्द का नाथ, अभेद, एक, चैतन्यमय, भगवान आत्मा का त्रिकाल स्थिर जीवन ही इस जीव का सत्त्व है। इसकी स्वीकृति को छोड़कर निमित्त, राग व भेद में अटकेगा तो मिथ्यात्वादि आस्रव ही होंगे, वीतरागतारूप धर्म नहीं होगा। अतः वीतराग के मार्ग को यथावत् समझना चाहिए।

एक स्तुतिकार ने कहा है कि :—

"प्रभु तुम ज्ञायक रीति, सब जग देखते हो लाल,
निज सत्ता से शुद्ध, सबको पेखते हो लाल ॥"

हे नाथ ! आप अपने केवलज्ञान में तीनों काल, तीनों लोक को देखते हो; उसमें आप सभी आत्माओं को निज सत्ता से परिपूर्ण शुद्ध भगवान के रूप में देख रहे हो — यह बात यहाँ कही जा रही है। पर्याय के षट्कारकों की परिणति से भिन्न सम्पूर्ण चैतन्य का दल भगवान आत्मा शुद्ध है। इस आत्मा को विषय करनेवाली दृष्टि भी इसमें नहीं समाती। हे प्रभु ! इस त्रिकाली, एक, शुद्ध, भगवान आत्मा को आपने देखा है। जब जीव एक समय की पर्याय का लक्ष्य छोड़कर त्रिकाली, एक, शुद्ध, अनुभूति-स्वरूप चैतन्य भगवान के लक्ष्य से परिणमन करता है; तब मिथ्यात्व का नाश होकर सम्यग्दर्शन की वीतरागी-परिणति का उत्पाद होता है। जो ऐसी अन्तर की क्रिया नहीं समझते, वे ही बाहर की क्रियाओं में धर्म बताते हैं; वे दया, व्रत, पूजा-प्रभावना आदि क्रियाओं को करने में ही सन्तुष्ट हो जाते हैं; परन्तु भाई ! ये सब तो राग की क्रियायें हैं और राग तो अचेतन है, अन्धा है; इसमें चैतन्य की किरण नहीं है। जैसे सूर्य की किरण सफेद और उज्ज्वल होती है, कोयला जैसी काली नहीं होती; उसी प्रकार चैतन्य सूर्य की पर्यायरूप किरण चैतन्यमय और आनन्दमय ही होती है, किन्तु अन्धी रागमय नहीं होती।

आत्मा छह कारकों के समूह की प्रक्रिया से पार, जो निर्मल अनुभूतिस्वरूप त्रिकाली शुद्ध चैतन्य भगवान है, वह भूतार्थ है। उस भूतार्थस्वभाव पर दृष्टि डालने से मिथ्यादर्शन का व्यय व सम्यग्दर्शन का उत्पाद होता है। पर्याय के भेद को लक्ष्य में लेवें तो अशुद्धता आती है। आत्मा संयोग से भिन्न, दया-दान के विकल्प से भी भिन्न तथा एक समय की निर्मल पर्याय से भी भिन्न अनुभूतिस्वरूप त्रिकाली शुद्धद्रव्य है, उसका आश्रय करने से धर्म की शुरुआत होती है – यही धर्म को प्राप्त करने की विधि है।

केवली भगवान के आड़तिया (संदेशवाहक) कुन्दकुन्दाचार्य एवं अमृतचन्द्राचार्यदेव सम्यग्दर्शन तथा केवलज्ञान प्राप्त करने की रीति बताते हैं। कहते हैं कि पर्याय व षट्कारकों के भेदों की रुचि छोड़कर अखण्ड, एक, अनुभूतिस्वरूप, त्रिकाली निज भगवान का आश्रय करने से सम्यग्दर्शन व सम्यक् मति-श्रुतज्ञान होता है।

'धवल' शास्त्र में आता है कि श्रुतज्ञान केवलज्ञान को बुलाता है। अर्थात् जिनको सम्यक् मतिज्ञान प्रगट हुआ है, उन्हें अल्पकाल में केवलज्ञान प्रगट होगा – यह निश्चित है। केवलज्ञान या सर्वज्ञपद साध्य है, परन्तु ध्येय तो त्रिकाली शुद्ध द्रव्य ही है। परिणति में जो पूर्ण साध्यरूप सिद्धदशा प्रगट होती है – उसका आश्रयभूत त्रिकाली ध्रुवद्रव्य ही है। अहाहा! समझने की वस्तु यह ही है कि पर्याय से जो त्रिकाली भगवान भिन्न है, वह शुद्ध है तथा उस शुद्ध का जिस पर्याय ने निर्णय किया, वह पर्याय भी उस शुद्ध द्रव्य में नहीं है। पर्याय, पर्याय में रहकर 'द्रव्य शुद्ध है' – ऐसा अनुभव करती है। कोई उस द्रव्य को राग या भेद से प्राप्त करना चाहे तो वह प्राप्त नहीं होगा।

जिन्होंने एक समय में तीन लोक व तीन काल को देखा है; उन सीमन्धर परमात्मा की वाणी आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने साक्षात् सुनी थी। वे आत्मा के अनुभवी और महान चारित्रवन्त थे। उन्होंने भरतक्षेत्र में आकर सीमन्धर भगवान का सन्देश दिया है। बन्ध अधिकार में वे कहते हैं कि "मैं पर को मार सकता हूँ, जीवित कर सकता हूँ या जीवित रख सकता हूँ, पर की दया पाल सकता हूँ, पर को सुखी-दुखी कर सकता हूँ – ऐसा माननेवाले महामूढ़ मिथ्यादृष्टि हैं।" पर का काम करने का बोझा अपने माथे पर लेकर स्वयं को पर का कर्त्ता मानना महामूर्खता व अज्ञान है। पर की दया का भाव आये – यह बात जुदी है, किन्तु मरणासन्न जीव को जीवित रख सकता हूँ, या पाल सकता हूँ – यह मान्यता ही मिथ्यात्व व अज्ञान है। प्रभु! तू तो ज्ञाता-दृष्टा है न? जानना देखना ही तेरा

जीवन है। इसके सिवा पर को सुखी-दुखी करने की मान्यता करना—यह तो तेरे ज्ञानस्वभाव का अनादर है, हिंसा है। यहाँ तो यह कहते हैं कि जो सम्यग्दर्शन की निर्मल पर्याय प्रगट होती है—उसका कर्त्ता, कर्म, करण आदि सभी कारक स्वयं वह पर्याय है। इन छः कारकों के भेद के विकल्पों से पार वस्तु त्रिकाली शुद्ध है। इस अखण्ड एक विज्ञानस्वभावी शुद्ध की दृष्टि करने पर जो निर्मल पर्याय प्रकट होती है, वही धर्म है; परन्तु त्रिकाली शुद्धवस्तु में उस पर्याय को मिलाकर एकमेक करें तो यह द्रव्य सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है, उसके आश्रय से, अशुद्धता प्रगट होती है।

तीसरा बोल :—'पुद्गलद्रव्य जिसका स्वामी है, ऐसे क्रोधादि भावों का विश्वरूपत्व (अनेकरूपपना)—उनके स्वामीपने से सदा ही नहीं परिणमता होने से ममता रहित हूँ।'

'मैं निर्मम हूँ'—इसमें यह कहा है कि जीव पर का कार्य करता है, यह बात तो दूर ही रही; किन्तु जो राग विकल्प होते हैं, उनका स्वामीपना भी उसके नहीं है।

किसी ने कहा भी है :—

"मैं करूं मैं करूं—यही है अज्ञानता;
शकट का भार ज्यों श्वान ताने॥"

जैसे चलती गाड़ी के नीचे चलता हुआ कुत्ता अहंकार करता है—मानता है कि इस गाड़ी का बोझा मैं खींच रहा हूँ, उसीप्रकार (स्वचालित इस संसार की व्यवस्था में अज्ञानी अपना कर्त्तृत्व-एकत्व-ममत्व स्थापित करता है।) दुकान की गद्दी पर बैठा हो, ग्राहक माल ले जावे, प्रतिदिन पाँच सौ, सात सौ रुपयों की आय होती हो, वहाँ मानता है कि इस दुकान की गाड़ी मेरे द्वारा चल रही है। हमारे यहाँ प्रतिदिन की इतनी पैदावार है। अरे भाई! ऐसा कुछ भी नहीं है। सुन तो सही! धन तो परद्रव्य है, उसे कौन कमा सकता है, वह तो अपने आने के काल में आता है व जाने के काल में चला जाता है। अरे! (कमाने का भाव तो पापभाव है और उसका कर्त्ता बनना तो महा अज्ञान है, मिथ्यात्व है।) (भाई! यह वीतराग परमेश्वर की दिव्यध्वनि में आयी हुई बात है)

अहाहा! कैसी सरस बात की है। पुण्य व पापमय अनेक प्रकार के जो विकारीभाव होते हैं, उनका स्वामी पुद्गल है, मैं उनका स्वामी नहीं हूँ। इन विकारीभावों का स्वामी मैं नहीं हूँ—यह बात तो ठीक, परन्तु मैं उनके स्वामीपने कभी भी परिणमित नहीं होता—ऐसा कहते हैं।

पुण्य-पाप के जो अनेक प्रकार के विकारी भाव हैं, इनके स्वामीपने मैं कभी भी परिणमित नहीं होता, इसलिये निर्मम हूँ। क्षायिक सम्यग्दर्शन होने के बाद भी राग तो यथासम्भव आता है, मुनिराज की भूमिका में भी व्यवहार-रत्नत्रय का राग तो आता है; परन्तु उस राग के स्वामीपने कभी भी परिणमित नहीं होने से 'मैं (आत्मा) निर्मम हूँ' – ऐसा धर्मी मानता है – इस विधि से उसकी आस्रवों से निवृत्ति होती है।

प्रवचनसार में ४७ नयों के अधिकार में आया है कि कर्त्तानय से जैसे रंगरेज रंग का कर्त्ता है, उसीप्रकार ज्ञानी को वर्त्तमान में जितना राग का परिणमन है, उसका वह कर्त्ता है। भाई ! यहाँ तो वहाँ जो परिणमन है, उस अपेक्षा से कर्त्ता कहा है, ज्ञानी स्वामीपने उसका कर्त्ता नहीं होता। यह राग मेरा कर्त्तव्य है, करने लायक है – ज्ञानी को उस राग का ऐसा स्वामीपना नहीं है। अहाहा ! दया, दान, व्रत, तप, भक्ति आदि का जो राग होता है, उसके स्वामीपने समकिती जीव कभी नहीं परिणमता। गजब बात है ! उन सबका स्वामी पुद्गल है, मैं नहीं – ऐसा मानता हुआ धर्मी जीव आस्रवों से निर्वृत्त होता है।

प्रश्न :– दया, दान, पूजनादि करते हैं – यह सच्चे धर्म है या नहीं ?

उत्तर :– भाई ! इनमें किंचित् भी धर्म नहीं है। ये सब तो शुभराग के भाव हैं, पुण्यबन्ध के कारण हैं और इनका स्वामीपना माने तो यह मान्यता मिथ्यात्व है। बापू ! वीतरागी धर्म का मार्ग जुदा है। भाई ! राग के स्वामीपने परिणमने में तेरी प्रभुता नहीं है, अपितु रंकपना है। प्रभु ! आत्मा के अन्दर अनन्त-अनन्त गुणों का खजाना भरा है, उस त्रिकाली आत्मद्रव्य की ओर ढलने पर राग का स्वामीपना स्वयं सहज ही छूट जाता है – यही धर्म है। गणधरदेव भी राग के परिणमन को जानते हैं, किन्तु उनके स्वामीपने से कभी परिणमित नहीं होते; जब तक पूर्ण वीतरागता न हो, तब तक धर्मी को व्यवहार के विकल्प आते तो अवश्य हैं, परन्तु उन विकल्पों को अपना कर्त्तव्य मानकर वह उनके स्वामीपने से परिणमन नहीं करता।

४७ शक्तियों में ४७वीं 'स्वभावमात्र स्व-स्वामित्वमयी सम्बन्ध शक्ति' है। द्रव्य, गुण एवं शुद्धपर्याय – मेरा स्व और मैं इनका स्वामी – ऐसी आत्मा में स्व-स्वामित्वमयी सम्बन्ध शक्ति है, उस शक्ति का निर्मल परिणमन होना ही धर्म है।

जगत में अज्ञानी जीव 'मैं पत्नी का पति, गृहपति, लक्ष्मीपति, करोड़पति, उद्योगपति, राष्ट्रपति आदि न जाने कितने पर पदार्थों में –

जड़-पदार्थों में पतिपना – स्वामीपना मानता है; परन्तु यह मूढ़ता है। भाई ! तू वस्तुतः किसका स्वामी है ? – इसकी तुझे खबर नहीं है। धर्मी कहते हैं कि मैं जड़ का स्वामी तो हूँ ही नहीं, किन्तु अपने में जो राग उत्पन्न होता है, उसका भी मैं स्वामी नहीं हूँ। इस राग का स्वामी भी पुद्गल है। यहाँ इस गाथा में 'मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ' – ऐसा पहले अस्ति से कहा है तथा अब 'मुझे राग का स्वामीपना नहीं है, अतः निर्मम हूँ' – ऐसा कहकर नास्तिपना बताया है।

यहाँ कहा है कि 'क्रोधादि विकार का स्वामी पुद्गल है' – इसकारण कोई ऐसा मानने लगे कि विकार पुद्गल से होता है, तो यह भी यथार्थ नहीं है। पुद्गल के कारण विकार नहीं होता, क्योंकि पुद्गल तो परद्रव्य है। हाँ, इतना अवश्य है कि जब भी विकार होगा तो वह पुद्गल के लक्ष्य से या यों कहें कि निमित्त के लक्ष्य से ही होगा, क्योंकि स्वभाव में तो विकार है ही नहीं। विकार निमित्त के या पुद्गल के लक्ष्य से हुआ है – इस अपेक्षा विकार का स्वामी पुद्गल है। इसप्रकार जहाँ जो अपेक्षा हो, उसे बराबर समझना चाहिए।

पुण्यबन्ध के कारणरूप जो शुभ भाव होते हैं – वे वर्तमान में दुःखरूप हैं तथा इसके फल में जो संयोग मिलेगा, उस संयोग पर लक्ष्य जाने पर भी राग अथवा दुःख ही होगा; इसलिये भविष्य में होनेवाले दुःख का भी यह कारणरूप है। यह बात आगे ७४वीं गाथा में आयेगी। अरे ! पुण्य के फल में पंचपरमेष्ठी भगवन्तों का संयोग मिलेगा तथा उन पर लक्ष्य जाने से भी राग ही होगा। अहाहा ! सर्वज्ञ परमेश्वर हमें ऐसा कहते हैं कि हे प्रभु ! हम भी तेरे लिए परद्रव्य हैं, और परद्रव्य पर लक्ष्य जाने से राग ही होता है, धर्म नहीं होता। मोक्षपाहुड़ की १६वीं गाथा में कहा है कि 'परदव्वाओ दुग्गई' अर्थात् परद्रव्य पर लक्ष्य जाना दुर्गति है, चैतन्य की गति नहीं है। भाई ! जो राग की परिणति है, वह चैतन्य की परिणति नहीं है। अहाहा ! जिसके फल में केवलज्ञान व सादि-अनंत सच्चा सुख प्रगट होता है, उस दशा को प्राप्त धर्मी जीव ऐसा कहते हैं कि – जो राग होता है, मैं उसके स्वामीपने कभी नहीं परिणमता; जो स्वरूप में नहीं है व स्वरूप के आश्रय से हुई निर्मल स्व-परिणति में भी नहीं है, उस राग का मुझे स्वामीपना नहीं है। द्रव्य-गुण तो त्रिकाल निर्मल हैं ही, तथा उसके आश्रय से जो निर्मलदशा प्रगट हुई, वह मेरा स्व एवं मैं उसका स्वामी हूँ – ऐसा धर्मी जीव मानता है।

स्त्री को लोग अर्धांगनी कहते हैं अर्थात् 'आधा अंग पति का व आधा अंग पत्नि का' — ऐसा वे मानते हैं, किन्तु यह तो मूढ़ लोगों की भ्रमणा है, यह मिथ्यात्वग्रसित मान्यता है। पर के स्वामीपने की तो यहाँ बात ही कहाँ है ? यहाँ तो यह कहते हैं कि राग के स्वामीपने से कभी भी परिणमित नहीं होने से मैं निर्मम हूँ। प्रथम तो ऐसा विकल्प से निर्णय करता है, पश्चात् स्वभाव के उग्र पुरुषार्थ से विकल्प छूट जाता है। भाई ! यह मार्ग जिसके हाथ आ जाता है, उसका जन्म-मरण का चक्कर मिट जाता है। इसप्रकार यह तीसरा बोल हुआ।

चौथा बोल :— "चिन्मात्र-ज्योति आत्मा की वस्तु स्वभाव से ही सामान्य और विशेषरूप परिपूर्णता होने से, मैं ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण — ऐसा आकाशादि द्रव्य की भाँति पारमार्थिक वस्तुविशेष हूँ।"

सामान्यस्वरूप दर्शन तथा विशेषस्वरूप ज्ञान — इसप्रकार मैं दर्शन-ज्ञान से परिपूर्ण वस्तु हूँ। आत्मा विकारपने तो है ही नहीं, अल्पज्ञपने भी नहीं है। यहाँ कहते हैं कि मैं ज्ञान-दर्शन स्वभाव से परिपूर्ण हूँ। वर्तमान में अल्पज्ञ पर्याय ऐसा निर्णय करती है कि मैं पर्याय जितना नहीं हूँ, किन्तु मैं तो ज्ञान-दर्शन स्वभाव से परिपूर्ण वस्तु हूँ।

भाई ! यह मिथ्याभ्रान्ति का जो बड़ा भारी तूफान है; उसको शमन करने की — नष्ट करने की यह बात चल रही है। मिथ्यात्वरूप आस्रव से निवृत्ति कैसे हो ? इसकी यह बात चल रही है। कहते हैं कि 'मैं ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण वस्तुविशेष हूँ' — पहले यह नक्की (निश्चित) कर ! मैं सामान्य व विशेष से परिपूर्ण होने से आकाशादि द्रव्य की भाँति परमार्थिक वस्तुविशेष हूँ। यहाँ तक तो विकल्प से निर्णय करने की बात है।

वर्तमान दशा अल्पज्ञ होते हुए भी मैं स्वभाव से परिपूर्ण हूँ। जैसे आकाश एक पदार्थ है, परमाणु एक पदार्थ है; उसी तरह मैं भी पारमार्थिक वस्तुविशेष हूँ अर्थात् सर्व से भिन्न वस्तु हूँ — इसप्रकार पहले विकल्प से निर्णय करने की बात की है। विकल्प तोड़कर निर्विकल्प अनुभव करने की बात आगे कहेंगे। यहाँ तो अज्ञानियों द्वारा माने गये — कहे गये आत्मा से भिन्न परमार्थस्वरूप, शुद्ध आत्मा का निर्णय करने के लिये शिष्य विकल्प द्वारा ऐसा निर्णय करता है कि 'मैं एक, शुद्ध, निर्मम, परिपूर्ण, पारमार्थिक वस्तुविशेष हूँ।'

अब कहते हैं कि "इसलिये अब मैं समस्त परद्रव्य-प्रवृत्ति से निवृत्ति द्वारा इसी आत्मस्वभाव में निश्चल रहता हुआ, समस्त परद्रव्य के निमित्त

से, चेतन में होती हुई चञ्चल कल्लोलों के निरोध से, इसको ही (इस चैतन्य स्वरूप को ही) अनुभव करता हुआ, अपने अज्ञान से आत्मा में उत्पन्न हुए जो ये क्रोधादि भाव हैं, उन सबका क्षय करता हूँ।"

रागादि विकार परद्रव्य की प्रवृत्ति है तथा वह निमित्त के आश्रय से उत्पन्न होती है। पहले कहा है कि विकारीभावों का स्वामी पुद्गल है, यहाँ कहा है कि वह परद्रव्य की प्रवृत्ति है, जो कि अपने अपराध व परद्रव्य के निमित्त से होती है। मैं उन परद्रव्य के निमित्त से चेतन में होती हुई विशेषरूप चञ्चल कल्लोलों का निरोध करता हुआ, इस चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

अहो ! अमृतचन्द्राचार्य ने अमृत बरसाया है। चैतन्य में चञ्चल कल्लोलें होती हैं, वे अपनी पर्याय में अपने ही अपराध से होती हैं, परद्रव्य तो निमित्तमात्र है। मैं उस अपराध के निरोध से चैतन्यस्वरूप को अनुभव करता हुआ, अपने अज्ञान से उत्पन्न हुए क्रोधादिभावों का क्षय करता हूँ।

क्रोधादि विकार उत्पन्न क्यों होते थे? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यदेव उत्तर स्वरूप कहते हैं कि स्वरूप का ज्ञान नहीं था, इसकारण अज्ञानभाव से आस्रव उत्पन्न होते थे; किन्तु अब परद्रव्य का लक्ष्य छोड़कर स्वरूप में ढलते हुए, निज चैतन्यस्वरूप का अनुभव करता हुआ, मैं सर्व क्रोधादिभावों का क्षय करता हूँ। ज्ञान-दर्शन-स्वरूप, परिपूर्ण, एक, शुद्ध, आत्मवस्तु का अनुभव करते हुए मैं आस्रवों से निवृत्त होता हूँ।

पहले चार बोलों में परमार्थरूप वस्तुस्वरूप कहा, अब पर्याय की बात करते हैं कि पर्याय में राग हुआ या नहीं? तो कहते हैं कि परद्रव्य के निमित्त से चेतन में विशेषरूप से चञ्चल कल्लोलें विकल्प उठती हैं। उन सबके निरोध से मैं चैतन्यस्वरूप का अनुभव करता हुआ, उन आस्रवों का क्षय करता हूँ। 'आस्रवनिरोधः संवरः' आस्रव का निरोध संवर है। पुण्य-पाप के विकल्प आस्रव हैं। पर्याय में उत्पन्न हुई पुण्य-पाप की जो चञ्चल कल्लोलें हैं : उनका निर्मल, शुद्ध, चैतन्यस्वरूप आत्मा के आश्रय से निरोध करने पर आस्रवों की निर्वृत्ति होती है। आत्मा ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण शुद्ध चैतन्य भगवान है। उसका अनुभव करने से चञ्चल कल्लोलों का निरोध तथा आस्रवों से निर्वृत्ति होती है। मिथ्यात्व को छोड़ने की यही रीति है।

प्रश्न :- व्यवहार साधन है या नहीं? यदि नहीं तो पंचास्तिकाय में तो व्यवहार को साधन कहा है?

उत्तर :– पंचास्तिकाय में भिन्न साध्य-साधन की बात आयी है, यद्यपि साधन का निरूपण दो प्रकार से है; साधन दो प्रकार के नहीं हैं, साधन तो एक ही प्रकार का है। मोक्षमार्गप्रकाशक में पण्डितप्रवर श्री टोडरमलजी कहते हैं कि जिसको निश्चय सम्यग्दर्शन हुआ है, उसे निश्चय-सम्यग्दर्शन के साथ देव-गुरु-शास्त्र का राग सहचरपने होता ही है। उस सहचर या निमित्त पर उपचार करके, देव-शास्त्र-गुरु की रागात्मक श्रद्धा को व्यवहार-सम्यग्दर्शन कहा जाता है। वस्तुतः तो देव-शास्त्र-गुरु के प्रति श्रद्धा-भक्तिरूप राग बन्ध का ही कारण है, परन्तु निश्चय-सम्यग्दर्शन का सहचर देखकर उसमें सम्यग्दर्शन का आरोप किया है। वहीं मोक्षमार्ग-प्रकाशक में यह भी लिखा है कि सर्वत्र निश्चय-व्यवहार का ऐसा ही लक्षण जानना।

राग से भिन्न होकर स्वरूप के अनुभवरूप निश्चय-साधन प्रगट हुआ है। उसके साथ राग की मन्दता का सहचरपना है, उसे देखकर उस पर व्यवहार-साधन का आरोप किया गया है। अतः यह तो उपचार से आरोपित कथन है, यह कोई यथार्थ साधन नहीं है। साधन दो नहीं हैं, किन्तु उनका निरूपण दो प्रकार से है। कारण तो एक ही है। साधन, कारण, उपाय सब एकार्थवाचक ही हैं।

साधन एक ही है और एक ही प्रकार का है, किन्तु इसका निरूपण दो प्रकार से होता है – एक निश्चयरूप, दूसरा व्यवहाररूप। उनमें निश्चय सत्यार्थ है तथा व्यवहार उपचरित या असत्यार्थ है।

आत्मा में पुण्य-पापरूप क्रोधादिभाव कहाँ से हुए ? जड़ में से तो हुए नहीं, अपनी ही पर्याय में अपने अपराध से – अज्ञान से ही उत्पन्न हुए हैं। अज्ञान से उत्पन्न हुए इन आस्रवों को द्रव्यदृष्टि द्वारा – शुद्ध, चैतन्य के आश्रयरूप पुरुषार्थ से क्षय करता हूँ – ऐसा कहा है; क्योंकि द्रव्यदृष्टि में सर्व आस्रवों की नास्ति है, इसीकारण सबका क्षय करता हूँ – ऐसा कहा है। अल्प अस्थिरता है, तथापि सर्व को क्षय करने की बात कही है, क्योंकि पुरुषार्थ से अल्पकाल में वह अस्थिरता भी क्षय होनेवाली है।

पुनः फिर आचार्य कहते हैं कि "ऐसा आत्मा में निश्चय करके, जिसने बहुत समय से पकड़े हुए जहाज को छोड़ दिया है – ऐसे समुद्र के भँवर की भाँति जिसने सर्व विकल्पों का शीघ्र ही वमन कर दिया है – ऐसे निर्विकल्प अचलित, निर्मल आत्मा का अवलम्बन करता हुआ, विज्ञानघन होता हुआ – यह आत्मा आस्रवों से निवृत्त होता है।"

देखो ! 'आत्मा में ऐसा निश्चय करके' यह कहकर आचार्य यह कहना चाहते हैं कि जैसा वस्तु स्वरूप है – जैसा मार्ग है, उसका पहले निश्चय करना चाहिए। यदि प्रथमतः निश्चय किये बिना अन्य रीति अपनायेगा तो यथार्थ मार्ग हाथ नहीं लगेगा।

मिथ्यात्व के आस्रव से मुक्त होने के लिए पहले प्रारम्भिक भूमिका में जागृत रहकर निजात्मवस्तु का यथार्थ निश्चय करना चाहिये। पश्चात् आत्मा में प्रविष्ट होने पर स्वानुभव द्वारा सर्व आस्रवों का क्षय होता है – ऐसा कहा है। अहो ! अप्रतिहत पुरुषार्थ को जागृत करने की बात की है।

अहो ! सन्तों ने गजब का काम किया है। ७२वीं गाथामें तो तीन-तीन बार भव्य जीवों को भगवान कहकर सम्बोधित किया है। जाग रे नाथ ! जाग !! राग में एकत्वबुद्धि करके सुप्त रहना, अब तुझे शोभा नहीं देता। निर्मल परिणति में जागृत रहने से ही तेरा कल्याण है। भगवान ! तू अत्यन्त शुचि, विज्ञानघनस्वरूप, सुखमय व सुख का कारण है – ऐसे अपने भगवानस्वरूप आत्मा का अनुभव करने से आस्रवों का क्षय होता है। इसप्रकार ७२वीं गाथा के पश्चात् यथास्थान यह ७३वीं गाथा लिखी है। अरे ! इस समयसार में तो प्रत्येक गाथा यथास्थान लिखी है। यहाँ कहते हैं कि भाई ! तू राग के रंग में ही रंजित हो रहा है, अब इस पर तू चैतन्य का रंग चढ़ा दे। प्रभु ! तू वीतरागमूर्ति निजस्वरूप ही है – ऐसा निर्णय कर और राग से निवृत्त हो जा। अहाहा ! मैं ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण हूँ – ऐसा निश्चय करके स्वभाव में ढलने से राग-द्वेष का क्षय होता है।

देखो ! बहुत समय से पकड़े हुए जहाज को छोड़ दिया है जिसने – ऐसे समुद्र के भँवर की भाँति जिसने सर्व विकल्पों का शीघ्र ही वमन किया है, वह आस्रवों से निवृत्त होता है। भँवर ने बहुत समय से जहाज को पकड़ रखा है, वह जहाज भँवर से छूटे तो गति करे, आगे बढ़े। समुद्र के भँवर की भाँति जिसने सभी रागादि विकल्पों का शीघ्र ही वमन कर दिया है, वह आस्रवों से निवृत्त हो जाता है। विकल्पों का वमन कर दिया अर्थात् अब वे विकल्प पुनः उत्पन्न नहीं होंगे।

प्रवचनसार गाथा ९२ में आता है कि 'उस बहिर्मोहदृष्टि का आगम, कौशल्य तथा आत्मज्ञान द्वारा घात हो जाने से अब वह पुनः मुझमें उत्पन्न ही नहीं होगी' – यह बात पंचमकाल के मुनि कहते हैं। – यह अप्रतिहतभाव की बात है। भँवर ने जहाज को छोड़ दिया है – इस दृष्टान्त को सिद्धान्त में ऐसा घटाया है कि ज्यों ही आत्मा ज्ञानस्वभाव में एकाग्र हुआ, त्यों ही सब विकल्प टूट गये। उन विकल्पों को ऐसा तोड़ा,

नष्ट किया कि अब पुनः कभी उत्पन्न ही नहीं होंगे। मुनिराज कहते हैं कि हमने उन विकल्पों को अप्रतिहतभाव के द्वारा जड़-मूल से उखाड़ फेंका है। क्षयोपशम में से क्षायिकसमकित प्राप्त कर लेंगे, किन्तु अब नीचे गिरने की तो बात ही नहीं है—ऐसा उग्र पुरुषार्थ जागृत हुआ है।

अहाहा! देखो, दिगम्बर सन्तों के अन्तरंग आनन्द की मस्ती! अपनी 'अस्ति की मस्ती' में कैसे मगन हो रहे हैं। ये पंचमकाल के मुनिवर पुकार-पुकार कर उच्च स्वर से कह रहे हैं कि बाहर में हजारों वर्षों से अरहन्त भगवान का विरह होते हुए भी हमारे अन्तरंग में निर्मलानन्द का नाथ हमारा चैतन्य भगवान तो सदैव हमारे समीप ही है। तब मानो किसी ने कहा कि हे आचार्यदेव! आप तो सीमन्धर परमात्मा के पास गये थे न? उससे आचार्य कहते हैं कि हे भाई! सुन, निश्चय से तो मेरा नाथ भगवान आत्मा निज चैतन्यप्रभु ही है, यह तो निमित्त की बात है कि हम उनके पास गये थे और तब से अन्तर में आवाज आयी है कि हमने विकल्पों को ऐसा जड़-मूल से उखाड़ दिया है कि अब वे पुनः उत्पन्न नहीं होंगे। अहाहा! वस्तु तो परमपारिणामिकस्वभाव से त्रिकाल ध्रुव है, उसके सन्मुख होने पर जो स्वानुभव प्रगट हुआ है, वह मोक्ष प्राप्त कराकर ही पूर्ण होगा। अब पुनः मिथ्यात्व होने की बात ही नहीं है। इसप्रकार जिसने सर्व विकल्पों को शीघ्र ही—एकदम उखाड़ फेंका है, उस निर्विकल्प, अचलित, निर्मल आत्मा का अवलम्बन लेता हुआ, विज्ञानघन होता हुआ यह आत्मा आस्रवों से निवृत्त होता है।

भगवान आत्मा अभेद, अचलित, निर्मल, विज्ञानघन है। (इसमें किसी पर का प्रवेश सम्भव नहीं है)—ऐसे अचलित, ठोस, विज्ञानघन, निर्मल आत्मा का अवलम्बन लेकर अभेद-एकरूप परिणमन करता हुआ यह आत्मा आस्रवों से निवृत्त होता है।

जो पर्याय द्रव्य सन्मुख हुई, उस पर्याय का द्रव्य से अभेदपना है। वास्तव में तो पर्याय, पर्याय में ही तन्मय है, द्रव्य में नहीं; किन्तु यहाँ तन्मय का अर्थ द्रव्याभिमुख होना है, द्रव्य के प्रति ढलना है। तथा विज्ञानघन होने का अर्थ भी अस्थिर बहिर्मुख ज्ञान की पर्याय का द्रव्य में अन्तर्मुख होकर स्थिर होना है।

७४वीं गाथा में आयेगा कि आत्मा जैसे-जैसे विज्ञानघन होता जाता है, उसी क्रम में आस्रवों से निवृत्त होता जाता है। यह पर्याय की बात है। अहाहा! वस्तु त्रिकाली विज्ञानघनस्वभाव है, उसमें एकाग्र होने से वह

पर्याय में भी विज्ञानघन होता हुआ आस्रवों से निर्वृत्त होता है। आस्रवों से निवृत्त होने का यही मार्ग है।

अरे ! दुनियाँ कहाँ भटक रही है और मार्ग भी कहाँ रह गया है। भाई ! वीतराग का मार्ग राग की मन्दता से प्राप्त नहीं होगा। यहाँ तो कहते हैं कि चैतन्यस्वरूप ध्रुव वस्तु में एकाग्र होने पर तथा उसी का अनुभव करने पर – यह आत्मा आस्रवों से निर्वृत्त होता है।

भाई ! भाषा सादी है, परन्तु भाव बहुत ऊँचा है। यह बात जन्म-मरण का अन्त करनेवाली है, इसमें किसी भी प्रकार के वाद-विवाद की गुंजाइश नहीं है; क्योंकि जिन पुण्यादि आस्रवों से निर्वृत्त होना है, उन्हीं पुण्यादि व्यवहार के सहारे आस्रवों से निर्वृत्ति (मुक्ति) कैसे मिल सकती है ?

प्रश्न :– शास्त्रों में तो व्यवहार को परम्परा कारण कहा है न ?

उत्तर :– जिसको शुद्धता का अनुभव प्रगट हुआ है, उसके शुभराग से अशुभराग टला है; अतः उसके शुभराग को व्यवहार से परम्परा कारण कहा गया है। यह तो उपचार का कथन है, किन्तु निश्चय के बिना व्यवहार परम्परा मोक्ष का कारण नहीं होता। अज्ञानी अनादिरूढ़ व्यवहार में मूढ़ हैं। निश्चय बिना जो केवल व्यवहार में लीन हैं, वे व्यवहारमूढ़ हैं। जब ज्ञायक ज्ञान में आया जब जीव निश्चय में आरूढ़ हुआ; तब उसे जो राग की मन्दता हुई, उस पर निश्चय का आरोप किया जाता है अर्थात् आत्मानुभव के साथ हुई राग की मन्दता पर परम्परा कारण का आरोप आता है।

ऐसी भगवान सर्वज्ञदेव द्वारा कही हुई बात को आचार्यदेव आड़तिया बनकर जाहिर करते हैं। अन्तर-सन्मुख होने पर जिसको सम्यग्दर्शनरूप दोज का चन्द्रोदय हुआ है, उसके जीवन में केवलज्ञान की पूर्णमासी का का पूर्ण चन्द्र अवश्य ही उदित होगा। अहाहा ! शुद्ध चैतन्यघन प्रभु आत्मा के अवलम्बन से जिसको विज्ञानघन पर्याय हुई, उसे पूर्ण विज्ञानघन केवलज्ञान होगा ही।

गाथा ७३ के भावार्थ पर प्रवचन

शुद्धनय से ज्ञानी ने आत्मा का ऐसा निश्चय किया कि 'मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, परद्रव्य के प्रति ममतारहित हूँ, ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण वस्तु हूँ' ऐसा निश्चय करके जब वह ज्ञानी आत्मा ऐसे अपने स्वरूप में रहता हुआ,

उसी के अनुभवरूप होता है; तब क्रोधादि आस्रवों का क्षय करता है। जो अनादि से राग में रहता था, वह अब अपने चैतन्यस्वरूप में रहता हुआ पहले मिथ्यात्व के आस्रव से–महादुःख से निर्वृत्त होता है।

स्वरूप से विरुद्ध क्रोधादि भाव हैं। चाहे वे पुण्यरूप शुभभाव ही क्यों न हो, तथापि वे चैतन्यस्वभाव से विरुद्ध होने से क्रोधादि ही हैं। ये क्रोधादिरूप आस्रव, स्वरूप के लक्ष्य से या स्वरूप के अनुभव से क्षय को प्राप्त होते हैं। मिथ्यात्वरूपी आस्रवों से निर्वृत्त होने का यह एक ही उपाय है और यही धर्म है। भाई! जब राग से छूटना धर्म है, तो वही राग, धर्म का साधन कैसे बन सकता है? अर्थात् नहीं बन सकता। यहाँ कहा है कि राग की जिन चञ्चल कल्लोलों का अनुभव करता था, उनका निरोध करके जहाँ त्रिकाली ध्रुव, चैतन्यमय, विज्ञानघनस्वभावमय वस्तु में निमग्न हुआ, वहाँ आस्रव क्षय को प्राप्त होते हैं और स्वरूप के आनन्द का आस्वाद प्राप्त होता है।

प्रश्न :–देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग तथा व्यवहारचारित्ररूप क्रिया (आचरण) आस्रव की निर्वृत्ति के साधन (उपाय) हैं या नहीं?

उत्तर :–बिल्कुल नहीं; भाई! राग की तो सभी क्रियायें आस्रव हैं, इनका तो क्षय करना है, ये कभी भी साधन नहीं हो सकती। भाई! खोटी मान्यताओं में. जिन्दगी यों ही बीत जायेगी, अन्त में इस संसार-सागर में गोते लगायेगा और भारी दुःख उठायेगा। इस दुःख से छूटने का तो यह एक ही उपाय है। भाई! जो वस्तु ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण है, उसमें एकाग्रता करके, तल्लीन होकर स्वरूप का अनुभव करना ही एकमात्र दुःख से छूटने का उपाय है।

भगवान आत्मा निराकुल आनन्दस्वरूप परमात्मा है, उसी में दृष्टि एकाकार करने पर जीव आस्रवों से निर्वतित होता है। अहा! कोई प्रतिकूल संयोग दुःखरूप नहीं है, किन्तु स्वयं के पुण्य-पाप के भाव ही दुःखरूप हैं, आकुलतामय हैं। यदि उनको मिटाना चाहता है तो उपाय बताते हुए आचार्य कहते हैं कि जहाँ निराकुल, आनन्दस्वरूप, चैतन्यप्रभु विराजता है, वहाँ जाओ, उसी का अनुभव करो और उसी में लीन हो जाओ! बस, इसी से तुम दुःख से निर्वृत्त हो जाओगे। भले ही कठिन लगे, किन्तु मार्ग तो एकमात्र यही है। भाई! यदि दूसरा उपाय खोजने जायेगा तो ये भव यों ही बीत जायेगा और यथार्थ मार्ग हाथ नहीं लगेगा तथा इसीप्रकार चौरासी का चक्कर चलता रहेगा।

जैसे समुद्र की लहरों ने बहुत काल से जहाज को पकड़ रखा था, किन्तु जब भँवरें शान्त होती हैं तो सागर जहाज को छोड़ देता है; उसी प्रकार आत्मारूपी सागर विकल्परूप भँवरों के शान्त होने पर आस्रवोंरूप जहाज को या कर्मरूप जहाज को छोड़ देता है। जिसतरह भँवरें छूटें (शान्त हों) तो जहाज छूटे, उसीतरह यह आत्मा विकल्प छोड़े तो स्थिर हो। आत्मा विकल्पों के जाल में फँस गया है, उन्हें छोड़ता हुआ वह आस्रवों को छोड़ देगा। ज्योंही स्वभाव की ओर ढला और इसी में ठहरा, त्योंही विकल्प सहज ही छूट जाते हैं तथा निर्विकल्प सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। मिथ्यात्व के आस्रव से छूटने का यही उपाय है। व्यवहार साधन है तथा व्यवहार करते-करते निश्चय प्राप्त होगा — ऐसा कोई कहे तो उसका यह कथन यथार्थ नहीं है। और कोई ऐसा कहे कि "निश्चय सम्यग्दर्शन का पता ही नहीं चलता; वह कब, कैसे, किस रूप में होता है — इसकी खबर नहीं पड़ती" तो यह मानना भी यथार्थ नहीं है। निज शुद्ध आत्मा का अनुभव होने पर जो निराकुल आनन्द का स्वाद आता है, उसकी खबर नहीं पड़े — ऐसा हो ही नहीं सकता। प्रभु ! तू परमात्मस्वरूप है। स्वभाव से तू स्वयं परमात्मा है — इसका निर्णय करके उसमें झुकते ही जो अनुभव होता है, उसमें निराकुल आनन्द का स्वाद आता है तथा वह आस्रव से — दुःख से निवृत्त हो जाता है।

प्रश्न :— व्यवहार आता है न ?

उत्तर :— हाँ, जबतक पूर्ण वीतरागता न हो, तबतक सम्यग्दृष्टि को भी भूमिकानुसार रागरूप व्यवहार होता है। देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, पूजा, दान, तीर्थयात्रा तथा व्यवहार-रत्नत्रय के राग का व्यवहार ज्ञानी को होता है; परन्तु, 'राग के स्वामीपने मैं सदा ही परिणमित नहीं होने से निर्मम हूँ' — ऐसा उसे अन्तरंग में यथार्थ निर्णय हुआ है। अतः अवस्था-प्रमाण जो राग आता है, उसका भी स्वामी नहीं बनता। जब व्यवहार का स्वामी ही नहीं बनता, तो फिर 'व्यवहार से निश्चय होता है' — यह बात ही कहाँ रही ? अरे ! जिससे निवृत्त होना है, जिसे टालना है, वही अपने निवर्तन में मदद कैसे कर सकता है अर्थात् आस्रव स्वयं के नाश में आत्मा का सहायक कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता। ऐसी ही वस्तुस्थिति है और यही मुक्ति का मार्ग है।

इसप्रकार ७३वीं गाथा पूर्ण हुई।

कथं ज्ञानास्रवनिवृत्त्योः समकालत्वमिति चेत्–

जीवणिबद्धा एदे अधुव अणिच्चा तहा असरणा य।
दुक्खा दुक्खफल त्ति य णादूण णिवत्तदे तेहिं ।।७४।।

जीवनिबद्धा एते अध्रुवा अनित्यास्तथा अशरणाश्च।
दुःखानि दुःखफला इति च ज्ञात्वा निवर्तते तेभ्यः ।।७४।।

जतुपादपवद्वध्यघातकस्वभावत्वाज्जीवनिबद्धाः खल्वास्रवाः, न पुनरविरुद्धस्वभावत्वाभावाज्जीव एव। अपस्माररयवद्वर्धमानहीयमानत्वादध्रुवाः खल्वास्रवाः, ध्रुवश्चिन्मात्रो जीव एव। शीतदाहज्वरावेशवत् क्रमेणोज्जृम्भमाणत्वादनित्याः खल्वास्रवाः; नित्यो विज्ञानघनस्वभावो जीव

अब प्रश्न करता है कि ज्ञान होने का और आस्रवों की निवृत्ति का समकाल (एककाल) कैसे है? उसके उत्तररूप गाथा कहते हैं :–

ये सर्व जीवनिबद्ध, अध्रुव, शरणहीन, अनित्य हैं।
ये दुःख, दुःखफल जानके – इनसे निवर्तन जीव करे ।।७४।।

गाथार्थ :– [एते] ये आस्रव [जीवनिबद्धाः] जीव के साथ निबद्ध हैं, [अध्रुवाः] अध्रुव हैं, [अनित्याः] अनित्य हैं [तथा च] तथा [अशरणाः] अशरण हैं, [च] और [दुःखानि] दुःखरूप हैं, [दुःखफलाः] तथा दुःख ही जिनका फल है – ऐसे हैं [इति ज्ञात्वा] – ऐसा जानकर ज्ञानी [तेभ्यः] उनसे [निवर्तते] निवृत्त होता है।

टीका :– वृक्ष और लाख की भाँति वध्य-घातकस्वभावपना होने से आस्रव जीव के साथ बँधे हुए हैं, किन्तु अविरुद्धस्वभावत्व का अभाव होने से वे जीव ही नहीं हैं। [लाख के निमित्त से पीपल आदि वृक्ष का नाश होता है। लाख घातक है और वृक्ष वध्य (घात होने योग्य) है – इसप्रकार लाख और वृक्ष का स्वभाव एक दूसरे से विरुद्ध है, इसलिये लाख वृक्ष के साथ मात्र बँधी हुई ही है; लाख स्वयं वृक्ष नहीं है, इसीप्रकार आस्रव घातक हैं और आत्मा वध्य है; इसप्रकार विरुद्धस्वभाव होने से आस्रव स्वयं जीव नहीं हैं।] आस्रव मृगी के वेग की भाँति बढ़ते-घटते होने से अध्रुव हैं; चैतन्यमात्र जीव ही ध्रुव है। आस्रव शीत-दाह ज्वर के आवेश की भाँति

एव । बीजनिर्मोक्षक्षणक्षीयमाणदारुणस्मरसंस्कारवत्त्रातुमशक्यत्वाद-शरणाः खल्वास्रवाः, सशरणः स्वयंगुप्तः सहजचिच्छक्तिर्जीव एव । नित्य-मेवाकुलस्वभावत्वाद्दुःखानि खल्वास्रवाः, अदुःखं नित्यमेवानाकुलस्वभावो जीव एव । आयत्यामाकुलत्वोत्पादकस्य पुद्गलपरिणामस्य हेतुत्वाद्दुःख-फलाः खल्वास्रवाः, अदुःखफलः सकलस्यापि पुद्गलपरिणामस्याहेतुत्वाज्जीव एव । इति विकल्पानंतरमेव शिथिलितकर्मविपाको विघटितघनौघघटनो दिगाभोग इव निरर्गलप्रसरः सहजविजृम्भमाणचिच्छक्तितया यथा यथा विज्ञानघनस्वभावो भवति तथा तथास्रवेभ्यो निवर्तते, यथा यथास्रवेभ्यश्च निवर्तते, तथा तथा विज्ञानघनस्वभावो भवतीति । तावद्विज्ञानघनस्वभावो भवति यावत्सम्यगास्रवेभ्यो निवर्तते तावदास्रवेभ्यश्च निवर्तते यावत्सम्य-ग्विज्ञानघनस्वभावो भवतीति ज्ञानास्रवनिवृत्त्योः समकालत्वम् ।

अनुक्रम से उत्पन्न होते हैं, इसलिये अनित्य हैं; विज्ञानघन जिसका स्वभाव है – ऐसा जीव ही नित्य है । जैसे कामसेवन में वीर्य छूट जाता है, और उसी क्षण दारुणकाम का संस्कार नष्ट हो जाता है, किसी से नहीं रोका जा सकता; इसीप्रकार कर्मोदय छूट जाता है, और उसी क्षण आस्रव नाश को प्राप्त हो जाते हैं, रोके नहीं जा सकते, इसलिये वे (आस्रव) अशरण हैं; स्वयंरक्षित सहजचित्शक्तिरूप जीव ही शरणसहित है । आस्रव सदा आकुलस्वभाववाले होने से दुःखरूप हैं; सदा निराकुल स्वभाववाला जीव ही अदुःखरूप अर्थात् सुखरूप है । आस्रव आगामीकाल में आकुलता को उत्पन्न करनेवाले – ऐसे पुद्गलपरिणाम के हेतु होने से दुःखफलरूप (दुःख ही जिनका फल है, ऐसे) हैं; जीव ही समस्त पुद्गलपरिणाम का अहेतु होने से दुःखफलरूप नहीं है । ऐसा आस्रवों का और जीव का भेदज्ञान होते ही (तत्काल ही) जिसमें कर्मविपाक शिथिल हो गया है – ऐसा वह आत्मा, जिसमें बादल समूह की रचना खण्डित हो गई है – ऐसी दिशा के विस्तार की भाँति अमर्याद जिसका विस्तार है – ऐसा सहजरूप से विकास को प्राप्त चित्शक्ति से ज्यों-ज्यों विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है, त्यों-त्यों आस्रवों से निवृत्त होता जाता है; और ज्यों-ज्यों आस्रवों से निवृत्त होता जाता है, त्यों-त्यों विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है । उतना विज्ञानघनस्वभाव होता है, जितना सम्यक्-प्रकार से आस्रवों से निवृत्त होता है और उतना आस्रवों से निवृत्त होता है, जितना सम्यक्-प्रकार से विज्ञानघनस्वभाव होता है – इसप्रकार ज्ञान का और आस्रवों की निवृत्ति का समकालपना है ।

भावार्थ :– आस्रवों का और आत्मा का जैसा ऊपर कहा है, तदनुसार भेद जानते ही जिस-जिस प्रकार से जितने-जितने अंश में आत्मा विज्ञानघन-

स्वभाव होता है, उस-उस प्रकार से उतने-उतने अंश में वह आस्रवों से निवृत्त होता है। जब सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वभाव होता है, तब समस्त आस्रवों से निवृत्त होता है। इसप्रकार ज्ञान का और आस्रव-निवृत्ति का एक काल है।

यह आस्रवों को दूर होने का और संवर होने का वर्णन गुणस्थानों की परिपाटीरूप से तत्त्वार्थसूत्र की टीका आदि सिद्धान्तशास्त्रों में है, वहाँ से जानना। यहाँ तो सामान्य प्रकरण है, इसलिये सामान्यतया कहा है।

'आत्मा विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है' – इसका क्या अर्थ है? उसका उत्तर – 'आत्मा विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है अर्थात् आत्मा ज्ञान में स्थित होता जाता है।' जब तक मिथ्यात्व हो, तब तक ज्ञान को (भले ही वह क्षायोपशमिक ज्ञान अधिक हो तो भी) अज्ञान कहा जाता है और मिथ्यात्व के जाने के बाद उसे (भले ही वह क्षायोपशमिक ज्ञान अल्प हो तो भी) विज्ञान कहा जाता है। ज्यों-ज्यों वह ज्ञान अर्थात् विज्ञान स्थिर – घन होता जाता है, त्यों-त्यों आस्रवों की निवृत्ति होती जाती है और ज्यों-ज्यों आस्रवों की निवृत्ति होती जाती है, त्यों-त्यों ज्ञान (विज्ञान) स्थिर – घन होता जाता है, अर्थात् आत्मा विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है।

गाथा ७४ की उत्थानिका, गाथा एवं टीका पर प्रवचन

अब पूछते हैं कि ज्ञान-प्राप्ति और आस्रवों की निवृत्ति का समकाल (एक काल) किसप्रकार है? प्रभो! जिस क्षण में ज्ञान हुआ, उसी क्षण में आस्रवों से जीव निवृत्त होता है – यह किसप्रकार सम्भव है? कृपया स्पष्ट करके समझाइये? – इस प्रश्न के उत्तर में यह ७४वीं गाथा है।

पहला बोल :– 'वृक्ष और लाख की भाँति वध्य-घातकस्वभावपना होने से आस्रव जीव के साथ बँधे हुए हैं।' पीपल, बबूल इत्यादि बहुत से वृक्षों में लाख उत्पन्न होती है, उनमें पीपल का वृक्ष व लाख में वध्य-घातक स्वभाव है। वृक्ष वध्य अर्थात् घात होने योग्य है तथा लाख घातक अर्थात् घात करने के स्वभाववाला है। बहुत वर्ष पहले भावनगर में गूजरी बाजार के पास एक पीपल का वृक्ष था, उसमें लाख आने पर सम्पूर्ण वृक्ष ही उखड़ गया था – यही बात यहाँ दृष्टान्त में कहते हैं कि लाख घातक है – हनन करनेवाला है और वृक्ष वध्य है – घात होने योग्य है। इसप्रकार वृक्ष व लाख का स्वभाव एक-दूसरे से विरुद्ध है। लाख का वृक्ष के साथ मात्र संयोगसम्बन्ध है, लाख स्वयं वृक्ष नहीं है। इसीप्रकार आस्रव घातक हैं व आत्मा वध्य है। अतः विरुद्धस्वभावी होने से आस्रव स्वयं जीव नहीं है।

अहाहा ! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ चैतन्य का वृक्ष है। अपनी पर्याय में वह वध्य है, घात होने योग्य है। पुण्य-पाप के भाव इसका घात करते हैं, अहा ! पुण्य का भाव घातक है और पर्याय घात होने योग्य है। पर्याय में घात होता है। द्रव्य का तो घात नहीं होता। भगवान आत्मा वृक्ष के समान और पुण्य-पाप के भाव लाख के समान हैं। पुण्य-पाप के भाव आत्मा की शान्ति के घातक हैं और आत्मा की शान्ति घात होने योग्य है।

'अविरुद्धस्वभावत्व का अभाव होने से वे जीव ही नहीं हैं।" जैसे लाख और वृक्ष का विरुद्धस्वभाव है, उसीप्रकार पुण्य-पापरूप आस्रवों का और आत्मा का विरुद्धस्वभाव है। उन आस्रवों में अविरुद्धस्वभावपने का अभाव है। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का विकल्प हो या पंच महाव्रत पालन करने का विकल्प हो – ये सब जीव के स्वभाव से विरुद्धस्वभाववाले हैं। पुण्य-पाप के भाव विरुद्धस्वभाववाले होने से जीव ही नहीं हैं। जैसे लाख वृक्ष नहीं है, वैसे ही पुण्य-पाप के भाव भी जीव नहीं हैं, उसीप्रकार रागभाव भी ज्ञान नहीं है।

प्रश्न :– व्यवहार को साधक कहते हैं न ?

उत्तर :– हाँ, आजकल कितने ही जन तो ऐसी ही प्ररूपणा करते हैं कि वर्तमान में अकेला व्यवहार ही है, निश्चय है ही कहाँ ? एक तो निश्चय है ही नहीं, दूसरे निश्चय का पता भी नहीं चलता। अतः आचार्य उनसे कहते हैं कि अरे प्रभु ! यह तू क्या कहता है। ऐसी प्ररूपणा करके तुझे कहाँ जाना है ? बापू ! तू किस दुनियाँ में रहता है ? जिस आस्रवभाव से तुझे निर्वर्तित होना है, बचना है, हटना है; उसी में अटकेगा, उसी में रहेगा तो उससे निवृत्त कैसे हो सकेगा ? इस तरह तेरे जन्म-मरण का अन्त कब आयेगा ? भाई ! पुण्य-पाप के भावों से तो तुझे हटना है। जैसे पाप से हटना है, उसीप्रकार पुण्य से भी हटना ही है। पुण्य-पाप दोनों एक ही वस्तु अर्थात् आस्रव हैं। योगसार में आया है कि –

पापतत्त्व को पाप तो, जानत जग सब कोई।
पुण्यतत्त्व भी पाप है, कहै अनुभवी कोई ॥७१॥

इसी शास्त्र की जयसेनाचार्यकृत टीका[1] में पुण्य-पाप अधिकार के अन्त में भी यह बात कही है। वहाँ प्रश्न किया है कि प्रभु ! यह पाप का अधिकार चल रहा है न ? फिर इसमें व्यवहाररत्नत्रय को क्यों लिया गया है ? उत्तर में आचार्य कहते हैं कि यद्यपि व्यवहारमोक्षमार्ग निश्चय-

---
[1] समयसार (तात्पर्यवृत्ति टीका) : जयसेनाचार्य; पुण्य-पाप अधिकार; गाथा १७१

रत्नत्रय का निमित्तकारण होने से तथा परम्परा से जीव को पवित्रता का कारण होने से पुण्य कहा जाता है; तथापि बहिर्द्रव्य के आलम्बन द्वारा पराधीन होने से आत्मा को शुद्धस्वभाव से पतित करता है, निर्विकल्प समाधि में स्थित जीव व्यवहार के विकल्पों के कारण शुद्धात्मस्वरूप से पतित होते हैं, इसकारण वह पाप ही है। अथवा इस अधिकार में सम्यक्त्व आदि के विपक्षभूत, संसार के कारणभूत, मिथ्यात्व आदि अशुद्ध भावों का व्याख्यान है, अतएव भी पापाधिकार ही है।

पुण्य-पाप अधिकार के अन्त में जयसेनाचार्यदेव ने अपनी टीका में इस अधिकार को पापाधिकार कहा है। तब शिष्य ने प्रश्न किया कि – व्यवहार-रत्नत्रयरूप शुभ परिणामों को तो परम्परा मोक्ष का कारण कहा गया है, आप इन्हें पाप अधिकार में क्यों कहते हैं?

उत्तर :– परम्परा से मुक्ति के साधन में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु आदि निमित्त बनते हैं, इसकारण व्यवहार से कारण कहा है, किन्तु निमित्त तो परद्रव्य हैं और परद्रव्य से कुछ भी लाभ नहीं होता; अतः यह तो कथनमात्र ही है, वस्तुतः धर्म नहीं है।

व्यवहार आता है, होता है, व्यवहार का अस्तित्व है। व्यवहारनय का विषय हो ही नहीं – ऐसा नहीं है, परन्तु वह व्यवहार आत्मा के स्वभाव का (पर्याय में) घातक है। यहाँ कहते हैं कि पुण्यभाव में आत्मा के स्वभाव से अविरुद्धस्वभाव का अभाव है। भगवान आत्मा का शुद्ध, निर्मल, अनाकुल, आनन्दरूप, चैतन्यस्वभाव है और पुण्य का भाव दुःखरूप भाव है, दोनों परस्पर विरुद्धस्वभावी हैं; अतः इनमें समझौता सम्भव नहीं है अर्थात् थोड़ा (५०%) आत्मा को अशुद्ध या दुखरूप मान लो तथा थोड़ा (५०%) आस्रवों को शुद्ध, निर्मल, सुखरूप मान लो तो समझौता हो जायेगा – ऐसा सम्भव ही नहीं है; क्योंकि वस्तु के स्वरूप में समझौता कैसे हो और वह करे कौन?

एक बनिये व्यापारी को एक कर्जदार से पाँच हजार रुपया लेना था। यद्यपि बनिये को मन में यह आभास था कि कर्जदार की ताकत दो हजार से अधिक चुकाने की नहीं है; तथापि वह यही कहता था कि पाँच हजार से एक पाई भी कम नहीं लूँगा और कर्जदार कहता था कि एक हजार से एक पाई भी अधिक नहीं दूँगा। बहुत नोंकझोंक होने के बाद दोनों दो हजार में समझौता करने को तैयार हो गये। क्या इसीप्रकार यहाँ तत्त्व निर्णय के प्रसङ्ग में भी समझौता सम्भव है? थोड़े निश्चयवाले झुकें और

थोड़े व्यवहारवाले झुकें तो दोनों एक हो सकते हैं? भाई! वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है कि वहाँ समझौते को अवकाश ही नहीं है।

यहाँ तो स्पष्ट बात है कि निश्चय से है और व्यवहार से नहीं है — इसप्रकार अस्ति-नास्ति का अनेकान्त है। व्यवहार से भी है और निश्चय से भी है — ऐसा तो मिथ्या-अनेकान्त है। स्वभाव से ही होता है, विभाव से नहीं — यह सम्यक्-एकान्त है और सम्यक्-एकान्त हुए बिना वास्तविक अनेकान्त का ज्ञान सच्चा नहीं हो सकता। श्रीमद् ने भी यही कहा है :—

'अनेकान्त भी सम्यक्-एकान्त अर्थात् निजपद की प्राप्ति के अलावा अन्य रीति से उपकारी नही है।' (अनेकान्त पण सम्यक्-एकान्त ऐवा निजपदनी प्राप्ति सिवाय अन्य तरीके उपकारी नथी।)

वस्तु अखण्ड, एक, ध्रुव, चैतन्यबिम्ब है — इसमें ढले बिना, झुके बिना, सम्यक्-एकान्त नहीं होता। जहाँ सम्यक्-एकान्त हुआ कि ज्ञान में त्रिकाली ध्रुव का यथार्थ जानपना हो जाता है; पर्याय में जो अल्पज्ञता व राग की मन्दता है, उसका भी यथार्थ ज्ञान हो जाता है — इसी का नाम सम्यक्-अनेकान्त है। राग की मन्दता तथा अल्पज्ञता की पर्याय का ज्ञान रहता है, तथापि वह मैं हूँ — ऐसी मान्यता छूट जाती है।

बहुत समय पहले की बात है; लाठी ग्राम में एक युवती को चेचक (शीतला) निकली थी, बेचारी की नई उमर, दो वर्ष पूर्व की विवाहिता, शरीर के रोम-रोम में कीड़े पड़ गये। बेचारी बुरी तरह तड़फे — घड़ी में उठे, घड़ी में बैठे, कहीं किसी तरह की चैन नहीं। बेचारी को खाना सुहाये नहीं, पीना सुहाये नहीं, नींद आये नही, पंखा सुहाये नहीं। वेदना... वेदना... वेदना... उसका दुःख किसी से देखा न जाय। अठारह साल की छोटी-सी उमर। माँ से बोलो, माँ! मैंने इस भव में तो ऐसा कोई पाप किया नहीं है — यह क्या हुआ? कहीं भी, कैसे भी चैन नहीं है; सुख नहीं। बेचारी बिलख-बिलख कर रोवे, आक्रन्दन करे — ऐसा दुःख कि देखनेवाले के रोंगटे खड़े हो जायें, देखा न जाय। फिर ऐसी ही तीव्र वेदना में एक दिन देह छूट गयी।

भाई! ऐसे ही अनन्त दुःख हमने-तुमने-सबने भोगे हैं। इन्हीं से छूटने के उपाय की यह बात चल रही है। वास्तव में तो शरीर को अपना माना है, बस इस उल्टी मान्यता का ही ये सारा दुःख है। संयोग का दुःख नहीं है। शरीर व रोग को तो आत्मा छूता ही नहीं है; बस, 'शरीर मेरा है, मुझे रोग हुआ है' — ऐसी विपरीत मान्यता ही आकुलता व दुःख उत्पन्न करती है।

भाई ! तेरे दुःख का कहीं पार नहीं है। क्या कहें बापू ! मनुष्य देह में आया तो मान में मरता है। अरे ! अनन्तबार तो तू रूंगन में (मुफ्त में) बिका है। जब साक-भाजी खरीदने जाते हैं तो सागवाला मूली, धनियाँ मुफ्त में (रूंगन में) दे देता है तथा यह जीव उसी मूली में अनन्तबार जन्म-मरण कर चुका है, किन्तु सब भूल गया है। यहाँ आचार्य वही याद दिलाने को कहते हैं कि हे प्रभु ! तू अपने भगवान को संभाल ! तू स्वयं चैतन्य प्रभु, आनन्दरस का कन्द, भगवान आत्मा है। उसका आश्रय लेकर आस्रव के दुःख को दूर कर ले ! ये आस्रव तेरा स्वरूप नहीं हैं, ये तो पर्याय में तेरी शान्ति का घात करनेवाले हैं। जो तेरा घात करनेवाले हैं, वे ही तेरी मदद करेंगे – ऐसा कभी भी नहीं बन सकता, तू इनके चक्कर में, असमञ्जस में, या उलझन में मत पड़ !

जैसे शरीर में क्षयरोग हो जाय तो बेचारा अज्ञानी जीव दुःखी हो जाता है। हाय ! हाय !! करता है। बहुत दुःख से पीड़ित होता है, उसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि 'विकार मेरा है, पुण्य-पाप के शुभाशुभभाव मेरे हैं' – ऐसा माने तो यह आत्मा का बड़ा भारी क्षयरोग है। पुण्य-पाप घातक हैं। जैसे लाख के निमित्त से वृक्ष का क्षय हो जाता है, वैसे ही पुण्य-पाप से आत्मा की निर्मल अवस्था का क्षय होता है। जैसे लाख वृक्ष का स्वरूप नहीं है, मात्र वृक्ष के साथ निबद्ध ही है, उसीतरह पुण्य-पाप के भाव आत्मा का स्वरूप नहीं हैं, मात्र जीव के साथ निबद्ध ही हैं और आत्मा की शान्ति के घातक हैं।

इसमें मध्यस्थ होकर या बीच-बचाव में पड़कर कोई ऐसा कहे कि जब साधकदशा में बीच-बीच में व्यवहार आता है, तो उससे मोक्षमार्ग में आगे बढ़ने में मदद – सहकार तो होता है न ? उससे कहते हैं कि भाई ! यह वीतराग का मार्ग तो जैसा है वैसा ही रहेगा, इसमें फेरफार नहीं होता। बापू ! तू वीतरागमार्ग का विरोध मत कर ! भगवान आत्मा ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण प्रभु है। उसकी पर्याय में जो पुण्य-पाप का भाव होता है, वह विरुद्धस्वभाववाला होने से घातक है। वह भाव तेरी शान्ति को जलानेवाला ही है। आस्रव घातक है तथा आत्मा वध्य है। यह द्रव्य की बात नहीं है, पर्याय की बात है। द्रव्य तो जैसा है, वैसा अनादि-अनन्त चिद्घन है। पर्याय में बध्य होने की योग्यता है, द्रव्य का स्वभाव बध्य नहीं है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक चाहे जो पर्याय हो, वस्तु तो अनन्त गुणों में रहनेवाला चिदानन्दघन तत्त्व है, वह तो त्रिकाल वैसी का वैसी पड़ी है।

प्रवचनसार गाथा २०० की टीका में आता है कि "जो अनादि-संसार से ज्ञायकभावरूप ही रहा है और जो मोह के द्वारा दूसरे रूप में जाना-माना जाता है, उस शुद्धात्मा को यह मैं मोह को उखाड़-फेंककर, अतिनिष्कम्प रहता हुआ, यथास्थित (जैसे का तैसा) ही प्राप्त करता हूँ।" वस्तु तो ज्ञायकभाव से त्रिकाल है। मैं रागवाला, पुण्यवाला इत्यादि मान्यता तो अज्ञानी द्वारा खड़ी की गई है। 'मुझे पुण्य से लाभ होगा' — यह तो मोह द्वारा अन्यथा माना है, वस्तु ऐसी नहीं है।

कोई पाँच-पचास लाख रुपयों का दान देवे तो लोग उसे अभिमान के शिखर पर चढ़ा देते हैं, धर्म-धुरन्धर कहते हैं; परन्तु भाई! दान देने का भाव तो शुभभाव है, पुण्यबन्ध का कारण है और वह भी राग मन्द करके दान देवे तो पुण्यबन्ध होता है और यदि वाह-वाही (सम्मान) कराने के लिए देवे तो पापभाव ही है — इसमें धर्म तो है ही नहीं। दान देते समय राग मन्द तो करे, किन्तु साथ में ऐसा माने कि 'मैं राग को मन्द करने की क्रिया का कर्त्ता हूँ' — ऐसी मान्यता तो मिथ्यात्वभाव है; और 'मैं पैसा देता हूँ' — ऐसा माने तो उसे जड़ का स्वामी बनना पड़ेगा और जड़ का स्वामी जड़ होता है, अतः चेतन से जड़पना स्वीकार करना होगा। अहो! वीतराग का मार्ग लोकोत्तर है; लोक जैसा मानता है, वैसा नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि पुण्य का भाव घातक है और आत्मा (पर्याय-अपेक्षा) बध्य है। पर की दया पालने का भाव आस्रव है और वह आस्रव घातक है। ७२वीं गाथा में कहा है कि राग अचेतन है, क्योंकि यह न तो स्वयं को जानता है और न ही पर को जानता है; तथा अन्य चेतन के द्वारा जाना जाता है — इसप्रकार इसमें चैतन्यपने का अभाव है, अतः अचेतन है। जबकि यहाँ उसको घातक कहा है। भाई! जगत को पुण्यभाव की खूब मिठास है और यह मिठास ही उसको मारती है। पुण्य के फल में धन-सम्पत्ति, मान-सम्मान आदि मिलता है। अज्ञानी इसी में फूल जाता है, खुश हो जाता है; किन्तु यहाँ कहते हैं कि तुझे पुण्यभाव की मिठास है न? यह मिठास तेरी घातक है। भाई! पुण्यभाव की मिठास को तू साधक मानता है, परन्तु वह साधक कैसे हो सकती है?

प्रश्न :— पंचास्तिकाय में व्यवहार साधक व निश्चय साध्य — ऐसा कहा है। उसका क्या अर्थ है?

उत्तर :— भाई! यह तो आरोप करके कथन किया है। जब राग से भिन्न पड़कर चैतन्यस्वरूप आत्मा के अनुभव से जीव की साधकदशा होती

है, तब उस भूमिका में जो मन्दराग होता है, उस पर आरोप करके उस मन्दरागरूप व्यवहार को भी साधक कहा है। साधक जीव की भूमिका का ज्ञान कराने के लिए अनुभूति के साथ हुए उस मन्दराग को व्यवहार से साधक कहते हैं। धर्म दो प्रकार का नहीं है; धर्म का निरूपण दो प्रकार से है। चैतन्यस्वभाव के आश्रय से हुई निर्मलदशा ही धर्म है तथा उस काल में मन्दराग को सहचर देखकर आरोपित-कथन द्वारा व्यवहार से साधक कहा है। वास्तव में तो मन्दरागरूप आस्रव विरुद्धस्वभाववाला होने से जीव ही नहीं है – ऐसा यहाँ कहते हैं।

व्यवहार-रत्नत्रय का राग है तो घातक, किन्तु पंचास्तिकाय में ज्ञानी के उस राग को आरोपित करके, व्यवहार से साधक कहा है; परन्तु जिसे आत्मा का ज्ञान नहीं है, वह तो व्यवहार में मूढ़ है, उसके शुभराग को व्यवहार से भी साधक नहीं कहते।

समयसार गाथा ४१३ की टीका में आता है कि – "जो द्रव्यलिंग में ममकार के द्वारा मिथ्या अहंकार करते हैं, वे अनादिरूढ़ यानि अनादिकाल से समागत व्यवहार में मूढ़ वर्तते हुए, प्रौढ़ विवेकवाले निश्चयनय पर अनारूढ़ अर्थात् आरूढ़ न होते हुए, परमार्थस्वरूप भगवान समयसार को नहीं देखते – अनुभव नहीं करते।"

राग की मन्दता का आचरण अनादि से है, निगोद अवस्था में भी जीव को पुण्य-परिणाम होता है, तथापि वह व्यवहार नहीं है। जिसने निज आत्मा का ज्ञान-श्रद्धान प्रगट नहीं किया, उसे केवल पराश्रितभाव ही है। यहाँ प्रश्न है कि फिर उसे व्यवहारमूढ़ क्यों कहा? तो कहते हैं कि वह अकेली राग की मन्दता की रुचि में ही पड़ा है और स्वाश्रितस्वरूप निश्चय में अनारूढ़ है – इसप्रकार अनादिरूढ़ होने से व्यवहारमूढ़ कहा है। उस मूढ़ता को त्यागकर व्यवहार को जाननेवाला कब और कैसे होगा? इसके उत्तर में कहते हैं कि स्वद्रव्य के स्वरूप का आश्रय लेकर सम्यक्त्वादि प्रगट करने पर वह व्यवहार का मात्र ज्ञाता रहता है। भगवान पूर्णानन्द का नाथ त्रिकाली ध्रुव जो चैतन्यमय वस्तु है, उसका आश्रय करने पर जिसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुआ, वह व्यवहारमूढ़ नहीं है; उसे व्यवहार है अवश्य, किन्तु वह मात्र जाना हुआ प्रयोजनवान है।

शुभाशुभ दोनों भाव आस्रव हैं और आस्रव स्वरूप के घातक हैं। जो निश्चय में आरूढ़ हैं, उन्हें जब तक पूर्ण वीतरागता नहीं होती, तब तक व्यवहार आता है और उस व्यवहार पर निश्चय का आरोप करके

उपचार से उसे साधक कहा जाता है। ज्ञानी उसको यथार्थपने जान लेता है। अज्ञानी के शुभराग को तो उपचार से भी साधक नहीं कह सकते; क्योंकि जिसके निश्चय ही नहीं, उसके शुभराग पर किसका उपचार किया जायगा ?

प्रश्न :– व्यवहार को परम्परा मोक्ष का कारण कहा है न ?

उत्तर :– हाँ, कहा है; परन्तु किसके व्यवहार और कैसे व्यवहार को परम्परा मोक्ष का कारण कहा – इसका विचार करना आवश्यक है। जिसे अन्तर में आत्मदर्शन हुआ है, स्वाश्रय से – निज चैतन्य के आश्रय से सम्यक्-दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्धपरिणति प्रगट हुई है, जो वस्तुत: मोक्ष का साधक है, उसे जो राग (व्यवहार) शेष है, उस शुभरागरूप व्यवहार में उपचार करके उसे व्यवहार से परम्परा मोक्ष का कारण कहा है, क्योंकि उस शुभ में अशुभ टला है। वस्तुत: तो वह बाधक ही है – ऐसा समझना। नियमसार में गाथा २ की टीका में कहा है कि – "निज परमात्मतत्व के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप शुद्धरत्नत्रयात्मक मार्ग परमनिरपेक्ष होने से मोक्ष का उपाय है तथा उस शुद्धरत्नत्रय का फल स्वात्मोपलब्धि है।" मोक्ष व मोक्षमार्ग को राग की मन्दता की, भेद की या पर की कोई अपेक्षा नहीं है।

जिनको चैतन्यमूर्ति निर्मलानन्दस्वरूप भगवान आत्मा की दृष्टि ही नहीं हुई, उसके शुभभाव में अशुभभाव टला ही नहीं है; क्योंकि उसके मिथ्यादर्शनरूप महा अशुभ तो बैठा ही है, उसकी तो रुचि ही शुभभाव में पड़ी है। इसकारण उसके शुभभाव को व्यवहार से भी साधक नहीं कहते। अत: पर्याय में जो शुभाशुभराग होता है, वह स्वभाव का घातक है तथा विरुद्धस्वभाववाला होने से जीवनिबद्ध होने पर भी जीव नहीं है – ऐसा निश्चय करना। यह एक बोल हुआ।

दूसरा बोल :– "आस्रव मृगी के वेग की तरह बढ़ते-घटते रहने से अध्रुव हैं, चैतन्यमात्र जीव ही ध्रुव है।" देखो ! आस्रव मृगी के रोग की तरह बढ़ते-घटते रहते हैं। शुभभाव बढ़ता है, फिर घटता है; उसी प्रमाण में अशुभभाव भी बढ़ता है, फिर घटता है। अहा ! घट-बढ़पना आस्रवों का लक्षण है।

जैसे – किसी के पास दस लाख की पूंजी हो, वह अन्तिम समय में विचार करे कि इसमें से पाँच लाख रुपया शुभ काम हेतु दान में दूँ, मन्दिर बनवाऊँ, शास्त्र छपवाऊँ; परन्तु जब लड़के से बात की तो लड़का कहता है कि बापू ! फिर मेरे लिये क्या बचेगा ? बस, इतना सुनते ही पिता के

दान देने का शुभराग घट जाता है और पुत्र के प्रति अशुभराग बढ़ जाता है। इसप्रकार शुभाशुभभाव बढ़ते-घटते रहते हैं – यह आस्रवों का लक्षरण है। इसकारण आस्रव अध्रुव हैं, पुण्य-पाप के भाव अध्रुव हैं; चैतन्यमात्र जीव ही ध्रुव हैं। इसप्रकार दोनों का भेद जानकर जिसने ध्रुव का अवलम्बन लिया, उसे विज्ञानघनस्वरूप आत्मा प्राप्त हो जाता है; और वह उसीसमय आस्रवों से निर्वृत्त हो जाता है।

शुभाशुभभाव घटते-बढ़ते होने मे अध्रुव हैं। कभी प्रतिकूल प्रसंगों में संसार से वैराग्य हो जाता है तथा संसार का राग फीका पड़ जाता है, किन्तु ज्यों ही बाह्य-अनुकूलता बढ़ती है तथा बाहर में मान-बढ़ाई मिलने लगती है तो पुनः राग बढ़ जाता है – इसप्रकार आस्रव अध्रुव हैं और चैतन्यमात्र वस्तु आत्मा ही एक ध्रुव है। अहाहा! जिसमें राग नहीं, पर्याय नहीं, भेद नहीं – ऐसा अखण्ड, एकरूप, चैतन्यमात्र आत्मा ही ध्रुव है। इसप्रकार अध्रुव से भिन्न ध्रुव चैतन्यवस्तु में एकाग्र होना ही धर्म है। यह दूसरा बोल हुआ।

तीसरा बोल :– "आस्रव शीत-दाह ज्वर के आवेश की भाँति अनुक्रम से उत्पन्न होते हैं, इसलिए अनित्य हैं; विज्ञानघन जिसका स्वभाव है – ऐसा जीव ही नित्य है।"

अध्रुव में भावों के घट-बढ़ की अपेक्षा है; अनित्य में (एक के बाद एक) अनुक्रम की अपेक्षा है। अनुक्रम अर्थात् जिससमय शुभ है, उससमय अशुभभाव नहीं है; जिससमय अशुभ है, उससमय शुभ नहीं है। इसप्रकार शुभ-अशुभभाव अनुक्रम से उत्पन्न होने के कारण अनित्य हैं। जब हिंसा का भाव होता है, तब दया का परिणाम नहीं होता तथा जब दया का भाव होता है, तब हिंसा का परिणाम नहीं होता – ऐसे अनुक्रम से पलटते हुए, नष्ट होते हुए आस्रव अनित्य हैं और विज्ञानघनस्वभावी आत्मा ही नित्य है। चिदानन्दघनस्वरूप भगवान आत्मा सदा एकरूप होने से नित्य है।

'मैं रागभाव का कर्त्ता व रागभाव मेरा कर्म' – ऐसा मानना मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व आस्रव है, अनित्य-परिणाम है तथा इससे भिन्न चैतन्यघन नित्यानन्द प्रभु आत्मा नित्य है। ऐसे राग से भिन्न नित्यस्वरूप आत्मा को जानना, अनुभवना भेदज्ञान है। ज्ञानी को राग आता है; परन्तु वह उसके स्वामीपने से परिणमन नहीं करता। वह राग को अनित्य जानकर उसका आश्रय नहीं लेता – उसमें ठहरता नहीं है, बल्कि उनसे भेदज्ञान करके ज्ञान में रहता है।

'विज्ञानघन जिसका स्वभाव है, ऐसा जीव ही नित्य है' – यहाँ कोई पूछ सकता है कि 'ही' कहकर एकान्त क्यों किया है; कथञ्चित् नित्य व कथञ्चित् अनित्य – ऐसा क्यों नहीं कहा ? उससे कहते हैं जो नित्य है, वह एकान्त नित्य ही है; जो अनित्य है, वह एकान्त अनित्य ही है। सम्पूर्ण द्रव्य की व्याख्या करना हो तो कथञ्चित् नित्य व कथञ्चित् अनित्य है – ऐसा कहा जाता है; किन्तु द्रव्यदृष्टि से तो द्रव्य नित्य ही है तथा पर्यायदृष्टि से अनित्य ही है। आस्रव अनित्य हैं और चैतन्यघन आत्मा नित्य है। वहाँ नित्यानन्दमयी, चैतन्यघन, नित्यप्रभु, आत्मद्रव्य में दृष्टि लगाने से भेदज्ञान होते ही 'मैं आस्रव का कर्त्ता व आस्रव मेरा कर्म' – ऐसी कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है। शुभाशुभ दोनों ही प्रकार के आस्रव घातक हैं, अध्रुव हैं, अनित्य हैं तथा भगवान आत्मा पर्याय अपेक्षा, बध्य, ध्रुव व नित्य है – इसप्रकार इन दोनों के मध्य भेदज्ञान करने से आस्रव छूट जाता है। इसप्रकार यह तीसरा बोल हुआ।

चौथा बोल :– "जैसे – कामसेवन में जिस क्षण वीर्य छूट जाता है, उसी क्षण दारुणकाम का संस्कार नष्ट हो जाता है, किसी से रोका नहीं जा सकता; उसीप्रकार जब कर्मोदय छूट जाता है, उसी क्षण आस्रव नाश को प्राप्त हो जाते हैं, रोके नहीं जा सकते। अतः वे आस्रव अशरण हैं, स्वयंरक्षित सहज चित्शक्तिरूप जीव ही शरणसहित है।"

मुनिवर वीतरागी सन्तों ने कैसा दृष्टान्त दिया है ? जैसे विषय-सेवन में जिससमय वीर्य छूट जाता है, उसीसमय दारुणकाम का संस्कार छूट जाता है, किसी से रोका नहीं जा सकता; उसीप्रकार कर्म के उदय के निमित्त से आस्रव होता है, अतः निमित्त के मिट जाने से वह आस्रव भी छूट जाता है। किसी के भी द्वारा शुभाशुभ परिणाम रोके नहीं जा सकते; इसलिए आस्रवरूप पुण्य-पाप के भाव अशरण हैं। देखो ! शुभभाव भी अशरण हैं, दया, दान, व्रत आदि के शुभभाव अशरण हैं; क्योंकि उदय के खिर जाने पर किसी से रोके नहीं जा सकते। अपने-आप स्वतः रक्षित सहज चित्-शक्तिरूप जीव ही शरणसहित है। अहाहा ! भगवान आत्मा स्वतः स्वयं से ही रक्षित है। इसकी रक्षा नहीं करनी पड़ती, ये तो रक्षित ही है। श्रीमद राजचन्द्र ने लिखा है कि :–

स्वद्रव्य के रक्षक शीघ्र बनो। स्वद्रव्य अन्यद्रव्य भिन्न-भिन्न देखो।
स्वद्रव्य के व्यापक शीघ्र बनो। स्वद्रव्य के धारक शीघ्र हो जाओ।
स्वद्रव्य के ग्राहक शीघ्र बनो। स्वद्रव्य की रक्षकता पर लक्ष्य रखो।

परद्रव्य की धारकता शीघ्र छोड़ो। परद्रव्य की रमणता शीघ्र छोड़ो। परद्रव्य की ग्राहकता शीघ्र तजो। परभावों से विरक्त हो जाओ।

यहाँ कहते हैं कि आनन्द का नाथ पूर्णानन्द प्रभु स्वयं स्वतः रक्षित है। उसकी दृष्टि हो, तब वह रक्षित है — ऐसा ज्ञात होता है। अहाहा ! नित्यानन्द प्रभु स्वयं अनादि-अनन्त स्वतः रक्षित ही है, उसकी दृष्टि करते ही पर्याय भी स्वयं रक्षित हो जाती है। जब इसका भान होता है, तब आत्मा शरणरूप होकर अशरणभूत आस्रवों से निवृत्त हो जाता है। भाई ! ऐसे शुद्ध ज्ञायकद्रव्य की दृष्टि हुए बिना अकेले बाह्य आचरण, व्रत, नियम, संयम इत्यादि निस्सार हैं।

मनुष्यों को लगता है कि अरे ! स्त्री छोड़ी, घर छोड़ा, दुकान छोड़ी, सब-कुछ छोड़ा, तो भी कुछ लाभ नहीं ? उनसे कहते हैं कि हाँ, भाई ! कुछ लाभ नहीं, ये सब तो बाह्य-वस्तुएँ हैं। यदि छोड़ते समय इनके प्रति लोभ कषाय मन्द हुई हो, कम हुई हो तो शुभभाव है; वह भी धर्म नहीं है। भाई ! दया, दान, व्रत इत्यादि परिणाम पर द्रव्य के परिणाम हैं, राग हैं। वे अध्रुव, अनित्य व अशरण हैं — ऐसा यहाँ कहा है। पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय में राग की उत्पत्ति को हिंसा और राग की अनुत्पत्ति को अहिंसा कहा है। अहाहा ! भगवान आत्मा शुद्ध, चैतन्यघन, पूर्णानन्द का नाथ प्रभु है; उसका आश्रय लेने पर जो निर्मल वीतरागी पर्याय उत्पन्न होती है, वह अहिंसा है, वही धर्म है। इसप्रकार चौथा बोल हुआ।

पाँचवाँ बोल :— आस्रव सदा ही आकुलस्वभाववाले होने से दुखरूप हैं, सदा निराकुलस्वभाववाला जीव ही अदुःखरूप अर्थात् सुखरूप है।

गाथा ४५ की टीका में कहा है कि "अध्यवसानादि समस्त भावों को उत्पन्न करनेवाले जो आठ प्रकार के ज्ञानावरणादि कर्म हैं, वे सभी पुद्गल-मय हैं — ऐसा सर्वज्ञ का वचन है। विपाक की मर्यादा को प्राप्त उस कर्म के फलरूप से जो कहा जाता है, वह कर्मफल अनाकुलतालक्षण सुख नामक आत्मस्वभाव से विलक्षण है, इसलिए दुःख है। उस दुःख में आकुलता-लक्षण अध्यवसानादि भाव समाविष्ट हो जाते हैं। यद्यपि वे चैतन्य के साथ सम्बन्ध होने का भ्रम उत्पन्न करते हैं; तथापि वे आत्मस्वभाव नहीं हैं, किन्तु पुद्गलस्वभाव हैं।"

इसप्रकार आस्रव सदा ही आकुलस्वभाववाले होने से दुःखरूप हैं। दया, दान, व्रत, भक्ति इत्यादि भाव दुःखरूप हैं। अहा ! जो दुःखरूप हैं, वे

सुख के साधन कैसे हो सकते हैं? शुभराग को साधन कहना तो निमित्त का ज्ञान करानेवाला उपचार-कथन है, वास्तव में वह साधन नहीं है। जैसे उपादान की पर्याय निमित्त से नहीं होती है, – अर्थात् जैसे घड़े की पर्याय का कर्त्ता कुम्भकार नहीं है; उसीप्रकार विकारी पर्याय का कर्त्ता पर नहीं है। निर्विकारी पर्याय का साधन शुभरागरूप विकारी पर्याय नहीं है। जैसे घड़ा स्वयं से ही हुआ है; उसीप्रकार निर्मल-अवस्था भी स्वयं से ही हुई है, राग की मन्दता के कारण नहीं हुई। भाई! वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है, उसमें किसी की मनमानी नहीं चल सकती है।

आचार्य कहते हैं कि भगवान आत्मा सदा निराकुलस्वभाववाला होने से सुखरूप है। अहाहा! चैतन्यघन वस्तु सदा सुखरूप है। अरे! यह जीव रुपया-पैसा, आबरू-इज्जत, मकान, भोग, पुण्यादि में सुख ढूँढता रहता है; परन्तु जहाँ सुख है ही नहीं, वहाँ कैसे मिलेगा? पुण्य व पाप के भाव तो दुःखरूप हैं तथा इनके फल में प्राप्त बाह्य सामग्री भी दुःख में निमित्त है। इस पुण्य के फल में जो चक्रवर्ती आदि का पद मिलता है, वह तो बाह्य सामग्री है, वह दुःख का कारण नहीं; किन्तु उसकी ओर का राग दुःखरूप है, अतः उसे दुःख में निमित्त कहा है। भगवान आत्मा ही एकमात्र सुखस्वरूप है; इसलिए जिसको सुख चाहिए; उसे निज चैतन्यस्वभावी आत्मा में ही शोधना पड़ेगा, वहीं सुख मिलेगा। पुण्य-पाप के भाव में या संयोगी पदार्थों में कभी भी सुख नहीं मिलेगा।

भगवान आत्मा सदा ही निराकुल आनन्दस्वरूप है; उस स्वरूप के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो धर्म प्रगट होता है, वह सुखरूप है; परन्तु बाह्य व्यवहार जो दुःखरूप है, उसके आश्रय से सुख प्रगट नहीं होता। भाई! यह वीतराग का मार्ग लोक की मान्यता से सर्वथा भिन्न है। चैतन्यस्वभाव के आश्रय से जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है, वह आत्म-व्यवहार है। जो रागभाव है, वह आत्म-व्यवहार नहीं है; वह तो मनुष्य-व्यवहार है, संसारी का व्यवहार है। प्रवचनसार गाथा ७४ की टीका में कहा है कि "अविचलित चेतना विलासमात्र आत्म-व्यवहार है तथा जिससे समस्त क्रिया-कलाप को छाती से लगाया जाता है, वह मनुष्य-व्यवहार है।" अहाहा! शुद्ध आत्मद्रव्य के आश्रय से उत्पन्न निर्मल विशुद्धदशा आत्म-व्यवहार है और वही सुखरूप है। बाह्य दुःखरूप व्यवहार कारण व आनन्द कार्य – ऐसा कभी नहीं हो सकता। आनन्दमूर्ति त्रिकाली भगवान जो अन्दर विद्यमान है, उसको कारणरूप से ग्रहण करने से ही – उसका आश्रय लेने से ही आनन्द प्रगट होता है।

भाई! जन्म-मरण का अन्त करना हो तो यह बात समझनी पड़ेगी। बम्बई के समुद्र में पानी के ऊपर मछलियों को खाने के लिए बगुले बहुत दूर तक, २०-२० मील तक उड़ते चले जाते हैं। देखो, इनके परिणाम! इसके फल में यहाँ से मरकर नरक चले जायेंगे, दुःख के स्थान में जन्म लेंगे; इसलिए भाई! आज ही चेतो!! ऐसा भाव प्रगट करो कि जिससे परिभ्रमण ही न रहे। अहाहा! जिसमें न परिभ्रमण है, न परिभ्रमण का भाव है — ऐसे नित्यानन्दस्वरूप के समीप जा! तेरा परिभ्रमण मिट जायगा। पर्याय में जो राग है, वह दुःखमय है; उससे हटकर अनाकुलस्वभावी त्रिकाली आनन्द के नाथ के पास जा! जिससे तुझे आनन्द होगा, सुख होगा, शान्ति की धारा प्रगट होगी एवं तृप्ति होगी। पाँचवीं गाथा में आचार्य भगवान स्वयं कहते हैं कि हमारे स्वसंवेदन में — स्वानुभव में प्रचुर आनन्द की मुद्रा है, आनन्द की छाप है। स्वभाव के आश्रय से प्रगट हुआ अनुभव अनाकुल आनन्द की मुद्रासहित है।

सदा ही निराकुलस्वभाववाला होने से जीव ही सुखरूप है। यहाँ कोई कहेगा कि यह तो एकान्त हो गया। कथंचित् सुखरूप व कथंचित् दुःखरूप — ऐसा अनेकान्त कहो न? उत्तर में आचार्य कहते हैं कि भाई! ये अनेकान्त का स्वरूप नहीं है। 'आत्मा एकान्त सुखस्वरूप है व दुःखरूप बिल्कुल नहीं है' — इसका नाम अनेकान्त है। भाई! सुख के मार्ग पर चलना हो तो संयोग व संयोगीभाव से हटकर अनेकान्तस्वरूप आत्मा में निमग्न हो जाओ। अहाहा! अनाकुल आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा में एकाग्र होते ही दुःख का अभाव होकर सुख प्रगट होता है। जिस काल में सुख प्राप्त होता है, उसी काल में दुःख का अभाव होता है तथा जिस काल में दुःख का अभाव होता है, उसी काल में सुख की प्राप्ति होती है। इसप्रकार दुःख की निवृत्ति व सुख की प्राप्ति का समकाल है।

फिर कोई कहे कि चारित्र तो तलवार की धार पर चलने के समान तथा लोहे के चने चबाने जैसा कठिन (कष्ट-साध्य) काम है। उससे कहते हैं कि भाई! तू क्या कहता है? तुझे चारित्र के स्वरूप की खबर नहीं है। चारित्र तो दुःख के अभावरूप अति सुखदायक आत्मा का परिणाम है। कष्ट साध्य है — ऐसा शास्त्र में कथन आता है, परन्तु वहाँ तो कष्ट का अर्थ पुरुषार्थ है। अन्तर का उग्र पुरुषार्थ करके स्वभाव में ढल जा — ऐसा वहाँ आशय है। महाकष्ट अर्थात् महापुरुषार्थ! भाई! सुविधाभोगीपना (प्रमाद) छोड़ दे तथा आत्मरमणतारूप आनन्ददायी चारित्र साध ले — यह तो प्रबल पुरुषार्थ एवं प्रेरणा की बात है। महाकष्ट का दूसरा अर्थ यह

भी होता है कि यह अवसर महान दुर्लभ है, महाभाग्य से यह प्राप्त हुआ है, यह सुअवसर सुलभ नहीं है; अतः महाकष्टसाध्य कहा जाता है। कष्ट का अर्थ दुःखद नहीं है। इसप्रकार पाँचवाँ बोल हुआ।

छठवाँ बोल :– 'आस्रव आगामी काल में आकुलता उत्पन्न करनेवाले पुद्गलपरिणाम के हेतु होने से दुःखफलरूप हैं।' पुण्य-पाप का भाव आगामी काल में आकुलता उत्पन्न करनेवाला है – इसका क्या तात्पर्य है? उत्तर में कहते हैं कि इस पुण्य के भाव से पुण्यबन्ध होगा, उसके फल में आगामी काल में संयोग मिलेंगे, उन संयोगों पर लक्ष्य जाने से पुनः राग ही उत्पन्न होगा – दुःख ही उत्पन्न होगा। देखो, वर्त्तमान में जो पुद्गलकर्मबन्ध हुआ, उसका हेतु आस्रव है और ये पुद्गल-परिणाम भविष्य में भी दुःख उत्पन्न करनेवाले हैं। यहाँ यह कहना चाहते हैं कि ये शुभभाव भविष्य में दुःख उत्पन्न करनेवाले पुद्गलपरिणाम के हेतु हैं। भाई ! राग की दिशा पर की ओर है और धर्म की दशा स्व की ओर है; इसलिए शुभभाव धर्म का साधन नहीं हो सकता।

अहाहा ! वर्त्तमान में शुभभाव स्वयं दुःखरूप है तथा भविष्य में भी दुःख को उत्पन्न करनेवाले पुद्गलपरिणाम का हेतु होने से दुःखफलरूप है। गजब बात है ! वर्त्तमान शुभ भाव राग है तथा राग से दुःख है और भविष्य में भी दुःखफलरूप है। सम्यग्दृष्टि को भी जो शुभभाव आता है, वह भी पुद्गलपरिणाम के बन्ध का कारण है और यह पुद्गलकर्म भविष्य में भी दुःख का कारण है।

जो अशुभराग होता है, वह वर्त्तमान में असातावेदनीय आदि पुद्गलपरिणाम के बन्ध का हेतु है तथा वह पुद्गलपरिणाम भविष्य में भी दुःख का कारण होगा। इसीतरह शुभभाव से सातावेदनीय आदि पुदगल-परिणाम बँधेगा, उसके उदय के निमित्त से भविष्य में अनुकूल सामग्री मिलेगी; उसके ऊपर लक्ष्य जायेगा तो उससे राग होगा – दुःख होगा; क्योंकि राग स्वभाव से ही दुःखरूप है।

प्रश्न :– शुभराग को व्यवहार से साधक कहा जाता है न ?

उत्तर :– हाँ, शुभराग को व्यवहार से साधक कहा जाता है, परन्तु वह उपचारमात्र ही समझना। द्रव्य-संग्रह की गाथा ४७ में आता है :–

'दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।'

मुनिराज को ध्यान में निश्चय व व्यवहार – दोनों मोक्षमार्ग एक साथ नियम से प्रगट होते हैं। निश्चय तो वीतरागी निर्मलपर्याय है तथा व्यवहार

राग की पर्याय है। अर्थात् चिन्मात्र द्रव्यस्वरूप का आश्रय लेने से जो निर्मल दशा प्रगट हुई, उतना तो निश्चय-मोक्षमार्ग है तथा उसी काल में जो राग है, वह व्यवहार-मोक्षमार्ग है। है तो वह बन्ध का कारण, परन्तु निश्चय का सहचारी देखकर, निमित्त जानकर; उपचार से उसे व्यवहार-मोक्षमार्ग कहा है।

भाई! यह छठवाँ बोल कुछ सूक्ष्म है। पाँचवें बोल में आस्रव वर्त्तमान में दुःखरूप हैं—ऐसा कहा था और छठवें बोल में ऐसा कहा है कि आस्रव भविष्य में दुःख के कारणरूप है; क्योंकि शुभभाव से साता वेदनीय आदि ४२ पुण्यप्रकृतियाँ बँधती हैं एवं भविष्य में उनका उदय आता है; तब धन-दौलत, इज्जत-आबरू इत्यादि अनेक सामग्री मिलती है, उस पर लक्ष्य जाने से पुनः राग होता है और राग होने का अर्थ है कि दुःख का होना, क्योंकि राग दुःखस्वरूप ही है।

प्रश्न :— तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति का बन्ध तो भविष्य में दुःख का कारण नहीं है, फिर उक्त कथन सदोष हुआ न?

उत्तर :— तीर्थंकर नामकर्म का जो बन्ध है, उसके उदय में आने के पूर्व ही जीव सम्पूर्ण शुभाशुभभावों का नाश करके पूर्ण वीतरागता, केवलज्ञान व अनन्तसुख प्रगट कर लेता है; अतः तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति के सुख-दुःख में कारणपने का प्रश्न ही नहीं होता।

प्रश्न :— पुण्यानुबन्धी पुण्य का परिणाम तो सुखरूप है या नहीं?

उत्तर :— चाहे जैसा पुण्य का परिणाम हो, वह वर्त्तमान में दुःखरूप ही है और भविष्य में भी दुःख के कारणरूप ही है। अतः पुण्यानुबन्धी पुण्य भी भविष्य में आकुलता में ही निमित्त है, आत्मा की शान्ति व समाधि में निमित्त नहीं है।

प्रश्न :— पुण्य के फल में तो लक्ष्मी, सम्पत्ति आदि मिलती है; वह धर्म करने में साधन होती है—यह तो ठीक है न?

उत्तर :— नहीं, यह बात ठीक नहीं है। अभी पहले कहा है न कि पुण्यभावों के फल में पुद्गलकर्म बँधते हैं, उनके उदय के निमित्त से भविष्य में आबरू-इज्जत, धन-सम्पत्ति आदि अनुकूल संयोग मिलते हैं तथा उन संयोगों के लक्ष्य से राग ही होता है, दुःख ही होता है। वे संयोग आत्मा की शान्ति-समाधि में निमित्त नहीं हैं। परवस्तु धर्म का साधन नहीं है। संयोगों के प्रति हुए राग को मेटकर, उनसे निर्वृत्त होकर, अन्दर आत्मा में

शुद्धचिदानन्दघन वस्तु में प्रवृत्त हो, तब धर्म होता है। भाई! वीतराग का मार्ग जुदा ही है। लोक ने जैसा मान रखा है, वैसा नहीं है।

अहो! दिगम्बर सन्तों की शैली गजब है। सत्य को सिद्ध करने की क्या अलौकिक शैली है? शुभरागरूप व्यवहार है; परन्तु वह शुभराग धर्म का साधन नहीं है। परमात्मप्रकाश में आता है कि निश्चय का नाम वीतराग है, व्यवहार का नाम सराग है। सराग को निश्चय का – वीतराग का साधन कहना उपचार है – आरोपित कथन है। यहाँ तो स्पष्ट कहते हैं कि वर्त्तमान में जो सरागता है, वह भविष्य में दुःख का कारणरूप पुद्गलपरिणाम का हेतु है।

व्यवहाररत्नत्रय के परिणाम को साधक कहा है, वह तो उपचार से कथन किया है। निमित्त का ज्ञान कराने के लिए साधक कहा है, किन्तु साधक दो प्रकार के हैं – ऐसा नहीं है। साधक का निरूपण दो प्रकार का है। जैसे मोक्षमार्ग दो प्रकार का नहीं है, उसका कथन दो प्रकार का है; उसीप्रकार साधक दो प्रकार का नहीं है, उसका निरूपण दो प्रकार से है। शुभराग को व्यवहार से साधकपने का आरोप किया है, वास्तव में तो वह साधक ही नहीं है। जैसे सम्यग्दृष्टि को निश्चय-सम्यग्दर्शन है; उसके साथ देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का राग है, उसे व्यवहार-सम्यग्दर्शन कहते हैं। वह व्यवहार-सम्यग्दर्शन समकिती के श्रद्धा-गुण की पर्याय नहीं है। वह तो राग की विकारी (चारित्र-गुण की रागरूप) पर्याय है, किन्तु निश्चय का सहचर देखकर, निमित्त मानकर, उपचार से उसे समकित कहा जाता है। मोक्षमार्गप्रकाशक में लिखा है कि सर्वत्र निश्चय-व्यवहार का ऐसा ही लक्षण जानना। व्यवहार करते-करते मोक्ष होगा – ऐसा अकेले सर्वथा व्यवहारवालों के व्यवहार को तो कोई आरोप भी लागू नहीं पड़ता। यह छठवाँ बोल बहुत गम्भीर है।

अरे रे! अज्ञानियों ने वीतरागमार्ग को तोड़-मरोड़कर विकृत कर दिया है। पराश्रय से जो भाव हुआ, वह राग है, आस्रव है, दुःखरूप है। एवं भविष्य में भी दुःख का कारण है – इसको न मानकर विकृत करके कहते हैं कि शुभभाव करते-करते धर्म होगा। परन्तु भाई! वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है। भाई! यहाँ स्पष्ट कहा है कि आस्रव आगामीकाल में आकुलता को उत्पन्न करनेवाले पुद्गलपरिणाम का हेतु होने से दुःखफल है।

'जीव समस्त पुद्गलपरिणाम का अहेतुक होने से अदुःखफल है।' अहाहा! ज्ञायक प्रभु आत्मा ज्ञाता-दृष्टा, निर्विकल्प, निराकुल, ज्ञान-

आनन्दस्वरूप भगवान है—वह समस्त पुद्गलपरिणाम का अहेतु है तीर्थंकर-प्रकृति के बन्ध में जीव हेतु नहीं है, उसका हेतु तो शुभभाव है इन्द्र, अहमिन्द्र, चक्रवर्ती आदि के भव आकुलता उत्पन्न होने में निमित्त हैं आत्मा की शान्ति-समाधि में नहीं। जीव समस्त पुद्गलपरिणाम का अहेतु होने से अदुःखफल है।

भाई ! वीतराग का मार्ग बहुत निर्मल, स्वच्छ है; परन्तु लोगों ने अपनी बुद्धि अनुसार कल्पित (उल्टा) अर्थ करके उसे विकृत कर दिया है। पुद्गलपरिणामरूप द्रव्यकर्म की जो १४८ कर्मप्रकृतियाँ हैं, उन कर्म-परिणामों का जीव अहेतु है। जीव के कारण कोई कर्म-प्रकृतियाँ बँधती ही नहीं हैं। जीव तो एक ज्ञायकस्वभाव है। वह किसी भी कम-प्रकृति के बन्ध का हेतु हो—ऐसा उसका स्वरूप ही नहीं है।

इस अधिकार की गाथा १०५ में कहा है कि "इस लोक में वास्तव में आत्मा स्वभाव से पौद्गलिक कर्म का निमित्तभूत न होने पर भी अनादि अज्ञान के कारण पौद्गलिक कर्म को निमित्तरूप होते हुए अज्ञानभाव में परिणमता होने से निमित्तभूत होने पर, पौद्गलिककर्म उत्पन्न होता है। इसलिए पौद्गलिक कर्म आत्मा ने किया—ऐसा निर्विकल्प, विज्ञानघन-स्वभाव से भ्रष्ट, विकल्पपरायण अज्ञानियों का विकल्प है, वह विकल्प उपचार ही है, परमार्थ नहीं।"

देखो ! जड़कर्म आत्मा ने किया—यह उपचार-कथन है। वस्तुतः तो अज्ञानी जीव अपने अज्ञान का कर्त्ता है, पुद्गलपरिणाम का कर्त्ता नहीं है। यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि आत्मा वस्तुतः स्वभाव की दृष्टि से देखने पर किसी भी प्रकृति के बन्ध का निमित्त नहीं है। ज्ञायकभावरूप चिन्मात्र वस्तु आत्मा निमित्त कैसे हो ? इसलिये यहाँ कहते हैं कि जीव समस्त पुद्गलपरिणाम का अहेतु होने से अदुःखफल है। अहाहा ! त्रिकाली शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभावी ध्रुव, ज्ञायकमूर्त्ति प्रभु आत्मा है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान-रमणता पुद्गलपरिणाम का हेतु नहीं है, इसलिये वह दुःखरूप नहीं है; बल्कि वर्त्तमान में भी एकान्त सुखरूप है तथा भविष्य में भी सुखफलरूप है।

अब कहते हैं "ऐसा आस्रवों का और जीव का भेदज्ञान होते ही (तत्काल ही) जिसमें कर्मविपाक शिथिल हो गया है—ऐसा वह आत्मा, जिसमें बादलसमूह की रचना खण्डित हो गयी है, ऐसी दिशा के विस्तार की भाँति अमर्यादित जिसका विस्तार है, ऐसा सहजरूप से विस्तार को

प्राप्त चित्शक्ति से ज्यों-ज्यों विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है, त्यों-त्यों आस्रवों से निवृत्त होता जाता है और ज्यों-ज्यों आस्रवों से निवृत्त होता जाता है, त्यों-त्यों विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है।"

यहाँ आस्रव व आत्मा का छह प्रकार से भेदज्ञान कराया है

(१) आस्रव घातक है, आत्मा की पर्याय बध्य है।

(२) आस्रव अध्रुव है, भगवान आत्मा ध्रुव है।

(३) आस्रव अनित्य है, भगवान आत्मा नित्य है।

(४) आस्रव अशरण है, भगवान आत्मा शरण है।

(५) आस्रव दुःखरूप है, भगवान आत्मा अदुःखरूप है।

(६) आस्रव पुण्य-पाप के बन्ध का हेतु होने से दुःखफलरूप है भगवानआत्मा ही पुण्य-पाप के बन्ध का अहेतु होने से अदुःखफलरूप है।

इसप्रकार भेदज्ञान होने पर अर्थात् चैतन्यस्वरूप भगवान ज्ञायक का भान होने पर, उसीसमय जिसका कर्मविपाक शिथिल पड़ गया है, वह आत्मा आस्रवों से – मिथ्यात्व से निवृत्त हो जाता है।

जैसे बादलसमूह की रचना खण्डित हो जाने पर सूर्य का प्रकाश दिशाओं में सर्वत्र फैल जाता है और दिशायें निर्मल हो जाती हैं; उसी प्रकार मिथ्यात्व से निवृत्त होने पर आत्मा की अमर्यादित विस्तारवाली सहज ज्ञानकला खिल जाती है। इन्द्रिय, कर्म व राग से ज्ञान को भिन्न करने पर उसका विकास होकर वह विज्ञानघन हो गया है तथा पुद्गलकर्म ढीला पड़कर अभावरूप हो गया है। अपनी सहज चित्शक्ति से अपने ज्ञान में स्थिर हो गया, दृढ़ता से जम गया। अहाहा! वस्तु तो विज्ञानघन है। भेदज्ञान के बल से अपनी पर्याय में जैसे-जैसे विज्ञानघन होता जाता है, वैसे-वैसे आत्मा आस्रवों से निवृत्त होता जाता है।

बाहर का ज्ञान कम-ज्यादा कैसा भी हो, उससे यहाँ कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ तो मूल वस्तु आत्मा जो विज्ञानघन स्वभावरूप है, उसमें एकाग्रता व स्थिरता करके पर्याय में भी जो विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है, उसकी बात है। राग से भिन्न होने पर ज्ञान में ज्ञान जमा कि कर्मबन्ध शिथिल हो गया व आस्रव नष्ट हो गया। अहाहा! विज्ञानघन-स्वभाव होता जाता है – ऐसा कहकर अन्तर्मुख पुरुषार्थ की बात की है। देखो! 'ज्यों-ज्यों कर्म घटता जाय, त्यों-त्यों विज्ञानघन होता जाय' – ऐसा नहीं कहा। 'ज्ञान में एकाग्र होने पर विज्ञानघन होता जाता है' – ऐसा कहा

है। जैसे-जैसे विज्ञानघन होता जाता है, वैसे-वैसे विकार का परिणाम घटता जाता है, आस्रवों से निवृत्त होता जाता है। दोनों का समकाल है।

प्रथम आस्रव से निवृत्ति हो और बाद में ज्ञान में स्थिर हो, अथवा प्रथम ज्ञान में स्थिर हो और बाद में आस्रव से निवृत्त हो – ऐसा आगे-पीछे का क्रम नहीं है, बल्कि दोनों का समकाल है।

जैसे-जैसे विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है, वैसे-वैसे आस्रवों से निवृत्त होता जाता है तथा जैसे-जैसे आस्रवों से निवृत्त होता जाता है, वैसे-वैसे विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है। इसप्रकार दोनों तरफ से बात की है।

'उतना विज्ञानघनस्वभाव होता है, जितना सम्यक्-प्रकार से आस्रवों से निवृत्त होता है और उतना आस्रवों से निवृत्त होता है, जितना सम्यक्-प्रकार से विज्ञानघनस्वभाव होता है। इसप्रकार ज्ञान की उत्पत्ति का और आस्रवों की निवृत्ति का समकालपना है। यहाँ सम्यक्-प्रकार से आस्रवों से निवर्तित होता है – ऐसा कहा है। इसका अर्थ है कि जितनी आस्रव की उत्पत्ति नहीं हो, उतना विज्ञानघनस्वभाव है तथा जितना विज्ञानघन-स्वभाव है, उतनी सम्यक्-प्रकार से आस्रवों से निवृत्ति है। दोनों का समकाल है। जिसको स्वभाव के भानपूर्वक भेदज्ञान नहीं है, वह आस्रवों से सम्यक्-प्रकार से निवर्तित नहीं होता तथा उसे सम्यक्-रूप से विज्ञानघनस्वभाव भी नहीं होता।'

जिसप्रकार अन्धकार के जाते ही प्रकाश होता है तथा प्रकाश के होते ही अन्धकार चला जाता है; उसीप्रकार जिससमय आस्रवों से निवृत्त होता है, उसीसमय आत्मा विज्ञानघनस्वभाव होता है तथा जिससमय विज्ञानघनस्वभाव होता है, उसीसमय आस्रवों से निवृत्त होता है। अहो ! कैसी अद्भुत टीका है। आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने अमृत बरसाया है। भगवान आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है; उसमें जैसे-जैसे स्वरूपस्थिरता होती है, वैसे-वैसे ही आस्रवों से निवृत्त होते हैं तथा जितना आस्रवों से निवृत्त होते हैं, उतनी स्वरूपस्थिरता होती है। ज्ञान व आस्रवों की निवृत्ति का समकाल है।

यहाँ व्रत, तप, भक्ति आदि करे तो आस्रवों से निवृत्त हो – ऐसा नहीं कहा; किन्तु इनसे भेदज्ञान करके निर्विकारी निज ज्ञायकस्वरूप में स्थिर हों तो आस्रवों से सम्यक्-प्रकार से निवृत्ति हो – ऐसा कहा है। भाई ! यह तेरे स्वघर में जाने की बात है। जितना परघर से लौटे, मुख मोड़े, उतना स्वघर में आता है। जितना स्वघर में आता है, उतना परघर से वापिस लौटता है। जितना स्वरूप में जमता है, उतना आस्रवों से

सम्यक्-प्रकार से हटता है; और जितना आस्रवों से हटता है, उतना ही स्वरूप में जमता है, विज्ञानघन होता है। अरस-परस (दोनों तरफ से) बताकर समकाल दर्शाया है।

गाथा ७४ के भावार्थ पर प्रवचन

"आस्रवों का और आत्मा का जैसा ऊपर कहा है, तदनुसार भेद जानते ही जिस-जिस-प्रकार से, जितने-जितने अंशों में आत्मा विज्ञानघन होता है उस-उस-प्रकार से उतने-उतने अंशों में वह आस्रवों से निवृत्त होता है। इसप्रकार ज्ञान का और आस्रवनिवृत्ति का एक काल है।"

गाथा ७२ में भी 'णादूण' शब्द आया है; वहाँ भी कहा है, और यहाँ भी कह रहे हैं कि—आस्रवों से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा को जानकर जितना ज्ञानानन्दस्वरूप में ठहरा, स्थिर हुआ; उतना आस्रवों से निवर्तित होता है और जितना आस्रवों से छूटता है, उतनी स्वरूपस्थिरता होती है। अहाहा! जितना धर्म प्रगट होता है, उतना अधर्म से निवृत्त होता है तथा जितना अधर्म से—आस्रव से निवृत्त होता है, उतना धर्म होता है, उतनी संवर-निर्जरा होती है।

"यह आस्रवों को दूर होने का और संवर होने का वर्णन गुणस्थानों की परिपाटीरूप से तत्त्वार्थसूत्र की टीका आदि सिद्धान्तशास्त्रों में है, वहाँ से जानना। यहाँ तो सामान्य प्रकरण है, इसलिये सामान्यतया कहा है।"

लोग ऐसा मानते हैं कि प्रत्याख्यान करो, सामायिक करो, प्रोषधोपवास करो, प्रतिक्रमण करो या त्याग करो इत्यादि—ऐसा-वैसा करो तो धर्म या संवर होगा; परन्तु उनका ऐसा मानना सही नहीं है, क्योंकि जबतक आत्मा व आस्रवों का भेद नहीं जाना, तबतक संवर कैसा? जिसका वीतराग-विज्ञान स्वभाव है—ऐसे आत्मा में ढले बिना आस्रव से निवृत्ति नहीं होती तथा वहाँ तक संवर प्रगट नहीं होता। अहाहा! पुण्य-पाप के विषयभावों से भेदज्ञान हुए बिना समता जिसका मूल है—ऐसी सामायिक कैसे हो? बापू! मन-वचन-काय की सरलतारूपी प्रवृत्ति से पुण्य बँधता है, किन्तु धर्म नहीं होता। यहाँ कहा है न कि शुभभाव दुःखरूप व दुःखफलरूप है, परन्तु धर्म नहीं है। धर्म तो स्व के आश्रय से स्वरूप में ठहरे, तब प्रगट होता है—ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है।

प्रश्न:—आत्मा विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है, इससे क्या तात्पर्य है?

उत्तर :– 'आत्मा विज्ञानघनस्वभाव होता ही है अर्थात् आत्मा ज्ञान में स्थिर होता जाता है। ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा स्वयं में स्थिर होता जाता है, ठहरता जाता है; उसे विज्ञानघन हुआ कहा जाता है। जहाँ तक मिथ्यात्व होता है, वहाँ तक भले ज्ञान का विकास बहुत हो, तथापि अज्ञान कहा जाता है। ग्यारह अंग व नौ पूर्व का ज्ञान हो, तथापि मिथ्यात्व नहीं गया हो तो वह सब अज्ञान है, विज्ञान नहीं। तिर्यञ्च जीव के ज्ञान का विकास भले ही थोड़ा हो, किन्तु यदि उसका ज्ञान अन्दर स्वभाव में स्थिर हुआ हो तो वह विज्ञान है। जितना-जितना वह ज्ञान अथवा विज्ञान अन्दर स्वभाव में जमता जाता है, स्थिर होता जाता है; उतना-उतना आस्रवों से निर्वृत्त होता जाता है तथा जिस-जिस प्रकार आस्रवों से निर्वृत्त होता जाता है, उस-उस प्रकार से विज्ञानघनस्वभाव जमता जाता है, अर्थात् आत्मा विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है।

ज्ञान, ज्ञान में स्थिर हो अर्थात् ज्ञानपर्याय, ज्ञानस्वभाव में जमे; वही विज्ञान है तथा वही मोक्षमार्ग है। आगे चलकर उसका फल केवलज्ञान के रूप में प्राप्त होगा; परन्तु जो स्वभाव में ठहरा ही नहीं, आस्रव से शुभाशुभभावों से भेदज्ञान किया ही नहीं, उसका सम्पूर्ण ज्ञान अज्ञान है। परलक्ष्यी शास्त्रज्ञान का विकास, पाँच समिति, तीन गुप्ति इत्यादि का ज्ञान, भेदज्ञान के अभाव में अज्ञान है, विज्ञान नहीं है; इसलिए शुभाशुभभाव से भिन्न निज ज्ञाता-दृष्टास्वरूप वस्तु का लक्ष्य करके, इसमें ही ठहरने पर विज्ञानघनस्वभाव प्रगट होता है, तभी कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति मिटती है।

अब इसी अर्थ का तथा आगे के कथन का सूचक काव्य कहते हैं :–

(शार्दूलविक्रीड़ित)

इत्येवं विरचय्य सम्प्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां,
स्वं विज्ञानघनस्वभावमभयादास्तिघ्नुवानः परम्।
अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात् क्लेशान्निवृत्तः स्वयं,
ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान् ॥४८॥

श्लोकार्थ :– [इति एवं] इसप्रकार पूर्वकथित विधान से, [सम्प्रति] अधुना (तत्काल) ही [परद्रव्यात्] परद्रव्य से [परां निवृत्तिं विरचय्य] उत्कृष्ट (सर्व प्रकार से) निवृत्ति करके, [विज्ञानघनस्वभावम् परम् स्वं अभयात् आस्तिघ्नुवानः] विज्ञानघनस्वभावरूप केवल अपने पर निर्भयता से आरूढ़ होता हुआ अर्थात् अपना आश्रय करता हुआ (अथवा अपने को निःशंकतया आस्तिक्यभाव से स्थिर करता हुआ) [अज्ञानोत्थितकर्तृकर्म-

कलनात् क्लेशात्] अज्ञान से उत्पन्न हुई कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति के अभ्यास से उत्पन्न क्लेशों से [निवृत्तः] निवृत्त हुआ, [स्वयं ज्ञानीभूतः] स्वयं ज्ञान-स्वरूप होता हुआ, [जगतः साक्षी] जगत का साक्षी (ज्ञाता-दृष्टा) [पुराणः पुमान्] पुराण पुरुष (आत्मा) [इतः चकास्ति] अब यहाँ से प्रकाशमान होता है।

कलश ४८ पर प्रवचन

आत्मा त्रिकाल ज्ञानानन्दस्वभावी है। राग का यह कर्ता और राग इसका कर्म – यह आत्मा का स्वरूप नहीं है। अहाहा ! आत्मा तो शुद्ध निर्मल चैतन्यघनस्वरूप एक वस्तु है अर्थात् पर्याय में जो पुण्य-पापरूप आस्रव के भाव हैं, उससे भिन्न होकर भेदज्ञान द्वारा निज शुद्ध चैतन्यमय तत्त्व का अनुभव करने पर स्वयं विज्ञानघनस्वरूप होता है। कहा है न कि सम्प्रति अर्थात् तुरन्त ही परद्रव्य से सर्व प्रकार से निर्वृत्ति करके विज्ञान-घनस्वभावरूप आत्मा के अवलम्बन के साथ निर्भयता से आरूढ़ होकर क्लेश से – राग से निर्वृत्त होता है। राग से निर्वृत्त होता है अर्थात् विज्ञानघन-स्वभावरूप होता है – यही धर्म है और धर्म प्राप्त करने का उपाय है।

शरीर-मन-वाणी जड़ हैं। शुद्ध चैतन्यमय वस्तु तो इससे भिन्न है ही, किन्तु पुण्य-पाप के आस्रवभाव से भी विज्ञानघनस्वरूप भगवान आत्मा भिन्न है; तथापि आत्मा पर्याय में दुःखी है, उसे सुख कैसे प्राप्त हो ? – इसकी यह बात है परद्रव्य व पुण्य-पाप के भावों की एकताबुद्धि से जीव दुःखी है। उस एकताबुद्धि को दूर कर भेदज्ञान द्वारा अपने विज्ञानघन-स्वभाव पर आरूढ़ होने पर अर्थात् शुद्ध चैतन्य का आश्रय करने से अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है, क्लेश की निवृत्ति होती है। धर्म प्राप्त करने व सुखी होने का यही एकमात्र उपाय है, अन्य नहीं।

शुभभावरूप व्यवहार, धर्म प्राप्त करने का यथार्थ उपाय नहीं है। इससे भेदज्ञान करके अन्तर आत्मा में एकत्व स्थापित करना ही यथार्थ उपाय है। जब तक 'मैं राग का कर्त्ता हूँ व राग मेरा कर्म है' – ऐसा मानते रहें और अज्ञानमय कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति का ही अभ्यास रखें; तब तक मिथ्यात्व है और मिथ्यात्वजन्य क्लेश है, दुःख है। 'मैं राग का कर्त्ता व राग मेरा कर्त्तव्य' – ऐसी मान्यता अज्ञान है, मूढ़ता है तथा इसका फल चौरासी लाख योनियों में जन्म-मरण करने का दुःख है, क्लेश है; इसलिए व्यवहार करते-करते धर्म होगा – ऐसी अज्ञानमय मान्यता से भिन्न पड़कर चिदानन्द-घन त्रिकाल ध्रुव वस्तु जो अन्दर में विद्यमान है, उसी का एकमात्र आश्रय

करके उसी में स्थित होना धर्म है; तथा वही जन्म-मरण के क्लेश निवारण करने का उपाय है। अरे ! लोगों को अनादि से इसका अभ्यास नहीं है, इसकारण कठिन लगता है; परन्तु भाई ! भेदज्ञान ही एकमात्र संसार-सागर से तरने का उपाय है।

कहा है न कि पूर्वकथित विधान से परद्रव्य से सर्वप्रकार से निवृत्ति करके अभी विज्ञानघनस्वभाव आत्मद्रव्य में आरूढ़ होता हुआ ज्ञानस्वरूप होकर जगत का साक्षी (ज्ञाता-दृष्टा) होता है।

देखो ! पुण्य-पाप के भाव भावकर्म; ज्ञानावरणीय आदि आठ द्रव्यकर्म व शरीर, मन, वाणी, इन्द्रिय इत्यादि नोकर्म — इन सबको परद्रव्य कहा है तथा चिदानन्दघनस्वरूप भगवान स्वयं स्वद्रव्य है। यहाँ कहते हैं कि सर्व प्रकार से परद्रव्य की रुचि छोड़कर तथा सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान ज्ञायक में दृष्टि लगाकर उसी में आरूढ़ — स्थित होने पर विज्ञानघनस्वभाव प्रकट होता है। लोगों को ऐसा लगता है कि एकान्त है, परन्तु भाई ! कोई भी राग परिणाम, चाहे वह दया-दान आदि का शुभ परिणाम ही क्यों न हो, दुःखरूप ही है तथा भविष्य में भी दुःखफलरूप है। भाई ! तू अनादि से परद्रव्य व राग में आरूढ़ था, अब परद्रव्य व राग से विमुक्त होकर निर्भय होकर — निशंक बनकर स्वद्रव्य में आरूढ़ हो जा !! ऐसा होने पर अज्ञान से उत्पन्न हुई कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति के अभ्यास से उत्पन्न हुआ क्लेश मिट जायेगा। कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति के अभ्यास से क्लेश होता था, वह स्वभाव में आरूढ़ होने पर मिट जाता है और स्वयं ज्ञानस्वरूप होता हुआ जगत का साक्षीपना प्रगट होता है।

आत्मा में कर्तृत्व नाम का गुण है; जब यह जीव स्वयं अपने निर्मल वीतरागी स्वभावरूप कर्म का कर्त्ता होकर राग से निर्वृत्त होता है; तब सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान प्रकट होता है, तभी वह जगत का साक्षी पुराण-पुरुष, ज्ञाता-दृष्टापने से प्रकाशमान होता है। उसीसमय भले ही रागादि भाव हों, तथापि उनका भी वह मात्र जानने-देखनेवाला साक्षी होता है, कर्त्ता नहीं। पुण्य-पाप के कृत्रिम विकारी भावों का कर्त्ता होना तो क्लेश है, दुःख है व दुःखफल है। वहाँ से दृष्टि हटाकर त्रिकाली शुद्ध ज्ञायक में दृष्टि स्थापित की व ज्ञाताभाव से परिणमन किया, तब तुरन्त ही आनन्द का स्वाद आता है; एवं जो राग रह जाता है, उसका भी वह मात्र साक्षी ही रहता है। अहो ! देखो, भेदज्ञान की महिमा।

तिर्यञ्च भी राग से भिन्न होकर (भेदज्ञान करके) सम्यग्दर्शन प्रगट कर लेता है और आत्मा के आनन्द का स्वाद ले लेता है। व्यवहार का

वर्णन शास्त्र में बहुत आता है, परन्तु यह सब तो मात्र ज्ञान करने के लिए प्रयोजनवान है — वह निश्चय का साधन नहीं है।

समयसार गाथा ११ के भावार्थ में पण्डित श्री जयचन्दजी ने तो साफ-साफ कहा है कि — "प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादि काल से ही है, इसका उपदेश भी बहुधा सर्व प्राणी परस्पर करते हैं तथा जिनवाणी में भी व्यवहार का उपदेश शुद्धनय का हस्तावलम्बनरूप जानकर बहुत किया है, परन्तु इसका फल संसार ही है। शुद्धनय का पक्ष तो कभी आया नहीं तथा इसका उपदेश भी विरल है, वह कहीं-कहीं पाया जाता है — इसकारण उपकारी श्रीगुरु ने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर इसका उपदेश प्रधानता से दिया है।"

मोक्षमार्गप्रकाशक में सातवें अधिकार के पृष्ठ २५१ में कहा है कि "व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य को, उनके भावों को व कारण कार्यादिक को, किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है, सो ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है, इसलिए उसका त्याग करना। तथा निश्चयनय उन्हीं को यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी में नहीं मिलाता है, सो ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है, इसलिए उसका श्रद्धान करना।"

समयसार में बन्ध अधिकार के कलश १७३ में आया है कि "सर्व-वस्तुओं में जो अध्यवसान होते हैं, वे सब अध्यवसान जिनेन्द्रभगवान ने पूर्वोक्त रीति से त्यागने योग्य कहे हैं, इसलिए हम यह मानते हैं कि — 'पर जिसका आश्रय है' — ऐसा सम्पूर्ण व्यवहार ही छुड़ाया है।"

देखो! व्यवहार-रत्नत्रय के विकल्प से लाभ (धर्म) होता है — ऐसा नहीं कहा। अहा! ऐसी सत्य बात ध्यान में आयी व प्रचार-प्रसार में भी आ गयी है; तथापि किसी को समझ में न आये, चित्त में न बैठे और विरोध करे तो क्या करें? सबकी अपनी-अपनी योग्यता स्वतन्त्र है। जिसकी योग्यता होगी, वह समझेगा।

अहाहा! 'राग मेरा कर्म व मैं राग का कर्त्ता' — ऐसे अज्ञानभाव को छोड़कर जो स्वरूप में एकाकार हुआ, वह ज्ञानस्वभावी होता हुआ जगत का साक्षी होता है। वह अपने विकल्प से लेकर समस्त जगत का साक्षी (जानने-देखनेवाला) होता है, कर्त्ता नहीं होता। इसप्रकार सम्पर्ण जगत का साक्षी पुराण-पुरुष आत्मा प्रकाशमान होता है।

समयसार गाथा ७५

कथमात्मा ज्ञानीभूतो लक्ष्यत इति चेत् :—

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥७५॥

कर्मणश्च परिणामं नोकर्मणश्च तथैव परिणामम् ।
न करोत्येनमात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ॥७५॥

यः खलु मोहरागद्वेषसुखदुःखादिरूपेणांतरुत्प्लवमानं कर्मणः परिणामं स्पर्शरसगंधवर्णशब्दबंधसंस्थानस्थौल्यसौक्ष्म्यादिरूपेण बहिरुत्प्लवमानं नोकर्मणः परिणामं च समस्तमपि परमार्थतः पुद्गलपरिणामपुद्गलयोरेव

अब पूछते हैं कि आत्मा ज्ञानस्वरूप अर्थात् ज्ञानी हो गया — यह कैसे पहिचाना जाता है? उसका चिह्न (लक्षण) कहिये? अतः उसके उत्तररूप गाथा कहते हैं :—

जो कर्म का परिणाम, अरु नोकर्म का परिणाम है ।
सो नहिं करे जो मात्र जाने, वह ही आत्मा ज्ञानी है ॥७५॥

गाथार्थ :— [यः] जो [आत्मा] आत्मा [एनम्] इस [कर्मणः परिणामं च] कर्म के परिणाम को [तथा एव च] तथा [नोकर्मणः परिणामं] नोकर्म के परिणाम को [न करोति] नहीं करता, किन्तु [जानाति] जानता है; [सः] वह [ज्ञानी] ज्ञानी [भवति] है ।

टीका :— निश्चय से मोह, राग, द्वेष, सुख, दुःख आदिरूप से अन्तरङ्ग में उत्पन्न होता हुआ — जो कर्म का परिणाम और स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द, बन्ध, संस्थान, स्थूलता, सूक्ष्मता, आदिरूप से बाहर उत्पन्न होता हुआ — जो नोकर्म का परिणाम — वे सब ही पुद्गलपरिणाम हैं। परमार्थ से जैसे घड़े के और मिट्टी के व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होने से कर्त्ता-कर्मपना है, उसीप्रकार पुद्गल-परिणाम के और पुद्गल के ही व्याप्य-व्यापकभाव का सद्भाव होने से कर्त्ता-कर्मपना है। पुद्गलद्रव्य स्वतंत्र व्यापक है, इसलिये पुद्गल-परिणाम का कर्त्ता है और पुद्गल-परिणाम उस व्यापक से स्वयं व्याप्त होने के कारण कर्म है; इसलिये पुद्गलद्रव्य के द्वारा कर्त्ता होकर कर्मरूप से किया जानेवाला जो समस्त कर्म-नोकर्मरूप

घटमृत्तिकयोरिव व्याप्यव्यापकभावसद्भावात्पुद्गलद्रव्येण कर्त्रा स्वतंत्रव्यापकेन स्वयं व्याप्यमानत्वात्कर्मत्वेन क्रियमाणं पुद्गलपरिणामात्मनोर्घटकुंभकारयोरिव व्याप्यव्यापकभावाभावात् कर्तृकर्मत्वासिद्धौ न नाम करोत्यात्मा, किं तु परमार्थतः पुद्गलपरिणामज्ञानपुद्गलयोर्घटकुंभकारवद्व्याप्यव्यापकभावाभावात् कर्तृकर्मत्वासिद्धावात्मपरिणामात्मनोर्घटमृत्तिकयोरिव व्याप्यव्यापकभावसद्भावादात्मद्रव्येण कर्त्रा स्वतंत्रव्यापकेन स्वयं व्याप्यमानत्वात्पुद्गलपरिणामज्ञानं कर्मत्वेन कुर्वन्तमात्मानं जानाति सोऽत्यंतविविक्तज्ञानीभूतो ज्ञानी स्यात्। न चैवं ज्ञातुः पुद्गलपरिणामो व्याप्यः पुद्गलात्मनोर्ज्ञेयज्ञायकसम्बन्धव्यवहारमात्रे सत्यपि पुद्गलपरिणामनिमित्तकस्य ज्ञानस्यैव ज्ञातुर्व्याप्यत्वात्।

पुद्गल-परिणाम है, उसे जो आत्मा पुद्गल-परिणाम को और आत्मा को घट और कुम्हार की भाँति व्याप्य-व्यापकभाव के अभाव के कारण कर्त्ता-कर्मपने की असिद्धि होने से – परमार्थ से करता नहीं है, परन्तु (मात्र) पुद्गल-परिणाम के ज्ञान को (आत्मा के) कर्मरूप से करता हुआ अपने आत्मा को जानता है, वह आत्मा (कर्म-नोकर्म से) अत्यन्त भिन्न ज्ञानस्वरूप होता हुआ ज्ञानी है। (पुद्गल-परिणाम का ज्ञान, आत्मा का कर्म किसप्रकार है? सो समझाते हैं :–) परमार्थ से पुद्गलपरिणाम के ज्ञान को और पुद्गल को घट और कुम्हार की भाँति व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने से कर्त्ता-कर्मपने की असिद्धि है; और जैसे घड़े और मिट्टी में व्याप्य-व्यापकभाव का सद्भाव होने से कर्ता-कर्मपना है। उसीप्रकार आत्मपरिणाम और आत्मा के व्याप्य-व्यापकभाव का सद्भाव होने से कर्ता-कर्मपना है। आत्मद्रव्य स्वतंत्र व्यापक होने से आत्म-परिणाम का अर्थात् पुद्गल-परिणाम के ज्ञान का कर्त्ता है और पुद्गल-परिणाम का ज्ञान उस व्यापक का स्वयं व्याप्य होने से कर्म है। इसप्रकार (ज्ञाता पुद्गल-परिणाम का ज्ञान करता है, इसलिये) ऐसा भी नहीं है कि पुद्गल-परिणाम ज्ञाता का व्याप्य है; क्योंकि पुद्गल और आत्मा के ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध का व्यवहार मात्र होने पर भी पुद्गल-परिणाम जिसका निमित्त है – ऐसा ज्ञान ही ज्ञाता का व्याप्य है। (इसलिये वह ज्ञान ही ज्ञाता का कर्म है।)

गाथा ७५ की उत्थानिका, गाथा एवं टीका पर प्रवचन

"निश्चय से मोह-राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि रूप से अन्तरंग में उत्पन्न होता हुआ – जो कर्म का परिणाम और स्पर्श-रस-गंध-वर्ण-शब्द बन्ध-

संस्थान-स्थूलता-सूक्ष्मता आदि रूप से बाहर उत्पन्न होता हुआ जो नोकर्म का परिणाम है, वह सब ही पुद्गल है।"

देखो ! मोह-राग-द्वेष, सुख-दुःख इत्यादि अन्तरंग में उत्पन्न होता हुआ कर्म का परिणाम है—इसमें जीव के विकारीभावरूप भावकर्म की बात है। द्रव्यकर्म के निमित्त से अन्तरंग में उत्पन्न राग-द्वेष-मोह व सुख-दुःख की कल्पना इत्यादि जीव के भाव, भावकर्म हैं, विकारी पर्याय हैं तथा स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण, शब्द-बन्ध-संस्थान-स्थूलता-सूक्ष्मता इत्यादि बाहर उत्पन्न हुए नोकर्म के परिणाम—पुद्गल के परिणाम हैं—ऐसा यहाँ कहा हैं।

ये पुण्य-पाप के व हर्ष-शोक के जो भाव अन्तरंग में उत्पन्न होते हैं, वे पुद्गलपरिणाम हैं। कर्म जड़ हैं व इनके निमित्त से हुए भाव भी कर्म के ही परिणाम हैं। विकारीभाव पुद्गल के परिणाम हैं, जीव के नहीं है। शरीर-मन-वाणी, स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण इत्यादिरूप जो नोकर्म के परिणाम हैं, वे सब पुद्गलपरिणाम हैं। अद्भुत बात है। भगवान की भक्ति का परिणाम, दया-दान-व्रतादि के विकल्प या पाँच महाव्रत के विकल्प जो अन्तरंग में उठते हैं, वे पुद्गलपरिणाम हैं—ऐसा जानकर ज्ञानी इनसे भेदज्ञान करके भिन्न हो जाता है—उसका साक्षी हो जाता है।

बापू ! यह तो धीरों की बात है। मन्दिर बनवाये तथा बड़-बड़े आयोजन करे, रथयात्रायें या शोभायात्रायें निकाले इत्यादि बहुत प्रकार से हो-हल्ला करे और इनमें धर्म माने तो भाई ! ऐसी तो वस्तुस्थिति नहीं है, इनसे धर्म नहीं होता। यहाँ तो बहुत ही गम्भीर बात चल रही है। अरे, जो अन्तरंग में उत्पन्न हुए शुभभावों से भी निवृत्त हो चुका है, वह बाहर की प्रवृत्तियों को अपना माने—ऐसी तो बात ही नहीं है ? बाहर के सब कार्य अपनी-अपनी उपादान की योग्यता के कारण, अपने-अपने स्वकाल में होते हैं। उन्हें दूसरा कौन करे ? (अन्यद्रव्य, अन्यद्रव्य का कार्य करे—ऐसा वस्तु का स्वरूप ही नहीं है)।

प्रश्न :—क्या यह सब निमित्त के बिना ही हो जाता है ?

उत्तर :—हाँ, ये सब कार्य निमित्त के बिना ही अपनी योग्यता से (स्वयं से) होते हैं। निमित्त तो इनको छूता भी नहीं है, अतः निमित्त बिना ही होते हैं। अरे, पर के कार्य को कौन कर सकता है ? कोई नहीं। संयोग की क्रिया जिस काल में होनी होती है, हो जाती है; उसे भी अन्य कोई नहीं करता। यहाँ तो इससे भी आगे की बात चल रही है कि 'मैं राग का कर्त्ता व रागभाव मेरा कर्म'—ऐसी कर्ता-कर्म की मिथ्याबुद्धि छोड़कर ज्ञानी ज्ञातापना प्रगट करता है।

भाई ! उपादान व निमित्त – दोनों एक साथ होते हैं – इतना तो बराबर है, किन्तु निमित्त ने कार्य किया – यह कथन यथार्थ नहीं है। समयसार गाथा ३७२ की टीका में कहा है कि 'ऐसी शंका नहीं करना चाहिए कि परद्रव्य जीव को रागादि उत्पन्न करते हैं, क्योंकि अन्य द्रव्य के द्वारा अन्य द्रव्य के गुणों को उत्पन्न करने की अयोग्यता है, क्योंकि सर्व द्रव्यों का स्वभाव से ही उत्पाद होता है। जैसे – मिट्टी अपने स्वभाव का उल्लंघन नहीं करती; इसलिए कुम्हार घड़े का उत्पादक है ही नहीं। मिट्टी कुम्हार के स्वभाव का स्पर्श न करती हुई अपने स्वभाव से ही कुम्भ-भावरूप से उत्पन्न होती है। मिट्टी घड़े की कर्त्ता है, कुम्हार ने घड़ा नहीं बनाया। कुम्हार घड़े बनाने में निमित्त भले हो, परन्तु घटरूप कार्य कुम्हाररूप निमित्त से नहीं हुआ है। रोटी स्वयं स्वतः उत्पन्न होती है, वह अग्नि, तवा, चकला या स्त्री से नहीं बनती। इसीप्रकार प्रत्येक कार्य में समझना चाहिये। यहाँ ऐसा कहते हैं कि अन्दर में उत्पन्न होते हुए दया-दान-भक्ति आदि के परिणाम कर्म के परिणाम हैं, पुद्गल के परिणाम हैं; जीवस्वरूप नहीं हैं।

अब कहते हैं कि 'परमार्थ से जैसे घड़ा व मिट्टी में व्याप्य-व्यापक भाव का सद्भाव होने से कर्त्ता-कर्मपना है, उसीप्रकार पुद्गल-परिणाम व पुद्गल में व्याप्य-व्यापक भाव का सद्भाव होने से कर्त्ता-कर्मपना है।' देखो ! मिट्टी व्यापक है व घड़ा उसका व्याप्य है। मिट्टी कर्त्ता है व घड़ा उसका कर्म है, घड़ा कुम्हार का कर्म नहीं है। घड़ा अपने स्वकाल में मिट्टी से होता है। वह मिट्टी के (स्व) भाव से होता है, कुम्हार के अभाव से होता है। भाई ! बात बहुत कड़क है, कठोर है, अटपटी-सी है; क्योंकि ऐसी बात कभी सुनी नहीं है, परन्तु सत्य यही है। देखो ! इस पुस्तक का जो यह (पन्ना) अंगुली से पलटा है न ? वह अँगुली से या अँगुली के कारण नहीं पलटा है। क्या गजब बात है ? जो अँगुली से पलटा है, वही अँगुली से नहीं पलटा है, इसका क्या मतलब ? मतलब यह है कि जो तुम्हें अँगुली से पलटा हुआ दिखता है, वह अँगुली से नहीं, अपनी योग्यता से अपने स्वकाल में पलटा है। इसीप्रकार रोटी, पानी, आदि पर घटित कर लेना चाहिए। अहाहा ! जो वीतरागभाव होता है, वह कर्म झड़ने के कारण नहीं। भले ही निमित्त हो, परन्तु निमित्त के कारण उपादान में कार्योत्पत्ति नहीं होती। जैनदर्शन बहुत ही सूक्ष्म है। इसमें बड़े-बड़े पण्डित भी भटक जाते हैं। घड़े व मिट्टी में व्याप्य-व्यापक

भाव का सद्भाव होने से घड़ा कर्म है और मिट्टी कर्त्ता है। घड़े का कर्त्ता कुम्हार नहीं है। अहाहा ! दुनिया से सर्वथा निराली बात है !!

प्रश्न :– तो क्या यह सब यथार्थ मानना पड़ेगा ?

उत्तर :– भाई ! जैसा है, वैसा निश्चित करके यथार्थ को यथार्थ तो मानना ही पड़ेगा। नहीं मानेगा तो क्या करेगा ? अरे, वस्तु की स्थिति ही ऐसी है। जैसे मिट्टी व घड़े में व्याप्य-व्यापक भाव का सद्भाव होने से कर्त्ता-कर्मपना है, उसीप्रकार पुद्गल-परिणाम व पुद्गल में भी व्याप्य-व्यापक भाव का सद्भाव होने से कर्त्ता-कर्मपना है। यह विकारी परिणाम जो शुभाशुभभावरूप है, वह पुद्गल का परिणाम है। पुद्गलद्रव्य ही पसरकर (व्यापक होकर) विकारभावरूप हुआ है। पुद्गल-परिणाम अर्थात् रागादि-भाव पुद्गल से हुए हैं, जीव से नहीं। वे पुद्गल के आश्रय से हुए हैं, अतः शास्त्र में पुद्गल-परिणाम कहे गये हैं।

आत्मा व जड़कर्मों का अनादि-सम्बन्ध है। कर्म की पर्याय अनादि से कर्मपने होती है; उसे जीव ने नहीं किया और जीव के परिणामों को कर्म ने नहीं किया। अनादि से एक क्षेत्र में रहते हुए भी एक-दूसरे का परस्पर कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है। जीव अपनी पर्याय करता है व कर्म अपनी पर्याय करता है। जीव कर्म की अवस्था को करे व कर्म का उदय जीव की राग अवस्था को करे – ऐसा नहीं है। इसप्रकार पहले दो द्रव्यों की पर्यायों का स्वतन्त्रपना सिद्ध करके पश्चात् द्रव्यदृष्टि कराने के लिए राग के परिणामों का कर्त्ता भी जीव नहीं है – ऐसा यहाँ कह रहे हैं। पुद्गल-परिणाम अर्थात् राग व पुद्गल के व्याप्य-व्यापक भाव होने से कर्त्ता-कर्म का सद्भाव है। पुद्गल द्रव्य कर्त्ता है व विकारीभाव पुद्गल का कर्म है, जीव उसका कर्त्ता नहीं है।

यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि जीव का कार्य ज्ञाता-दृष्टापना है। वस्तुदृष्टि कराना है न ? आत्मा चैतन्यमय विज्ञानघन स्वभावरूप वस्तु है, वह अपने निर्मल चैतन्य-परिणाम को करता है, परन्तु जो विकारी परिणाम होता है, वह इसका कर्त्तव्य नहीं है। इसकारण राग-परिणाम पुद्गल का कार्य है और पुद्गल उसका कर्त्ता है – ऐसा यहाँ कहा है। ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी आत्मा के परिणमन में जो राग होता है, वह पुद्गल का कार्य है। जीव उसका जाननेवाला है, कर्त्ता नहीं।

'पुद्गलद्रव्य स्वतन्त्र व्यापक है, इसलिए पुद्गल-परिणाम का कर्त्ता है और पुद्गलपरिणाम उस व्यापक से स्वयं व्याप्त होने के कारण कर्म है।'

दया, दान, पुण्य आदि के परिणाम व्याप्य हैं व द्रव्यपुद्गल स्वतंत्र व्यापक है। पुद्गल फैल कर रागादि परिणाम करता है। आत्मा वस्तु तो चैतन्य स्वभावी है। जीव में एक वैभाविक शक्ति है, किन्तु उससे विभाव नहीं होता है, यह विभाव पुद्गल का कार्य है, पुद्गलद्रव्य स्वतन्त्र व्यापक होकर पुद्गल का कार्य करता है।

ज्ञानावरणी कर्म से ज्ञान रुकता है – ऐसा जो गोम्मटसार में कहा है, वह तो निमित्त का ज्ञान करानेवाला कथन है। वैसे तो ज्ञान में जो घट-बढ़पना होता है, वह स्वतः स्वयं से होता है, कर्म से नहीं। इसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य की पर्याय की स्वतन्त्रता है। यहाँ त्रिकाली शुद्ध ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में जो निर्मल ज्ञान-परिणमन होता है, वह ज्ञाता का कार्य है; परन्तु जो रागादि भाव होते हैं, वे ज्ञाता के कार्य नहीं हैं। अतः उस राग का कर्त्ता पुद्गल है व राग उस पुद्गल का कर्म है – यहाँ ऐसा सिद्ध किया है।

परमार्थ से घड़ा व मिट्टी में व्याप्य-व्यापक भाव का सद्भाव होने से कर्त्ता-कर्मपना है। मिट्टी व्यापक होने से कर्त्ता व घड़ा व्याप्य होने से कर्म है। यहाँ दो कारणों से कार्य होता है – यह बात नहीं ली गई है। मिट्टी स्वयं कर्त्ता व घड़ा उसका कार्य है; कुम्हार तो निमित्त है, कर्त्ता नहीं है। उसीप्रकार पुद्गल-परिणाम अर्थात् शरीरादि, पुण्य-पाप के भाव, व्यवहार-रत्नत्रय के परिणाम आदि में और पुद्गल में व्याप्य-व्यापक भाव का सद्भाव होने से कर्त्ता-कर्मपना है।

यहाँ तो भेदज्ञान की बात है। शरीरादि से, पुण्य-पाप के भावों से एवं व्यवहार-रत्नत्रय के परिणाम से भगवान आत्मा भिन्न है। अतः आत्मा से भिन्नस्वभाववाले रागादि से आत्मा का अभिन्नपना नहीं है। रागादि का पुद्गल के साथ अभिन्नपना है। पुद्गल उसमें पसरकर – व्याप्त होकर रहता है। इसकारण सर्व रागादि पुद्गल के परिणाम हैं। देखो ! दो कर्त्ता से एक कार्य होता है – ऐसी बात यहाँ उड़ जाती है, समाप्त हो जाती है। प्रमाण का ज्ञान कराने के लिए कार्य के काल में दूसरी वस्तु निमित्तरूप में होती है – ऐसी बात शास्त्रों में आती है, परन्तु वह तो (बहिर्व्याप्ति बताने वाला) व्यवहार का कथन है। अरे ! वास्तविक निश्चय का विषय जिसको अन्तर में नहीं बैठा, उसे प्रमाण के विषय का यथार्थज्ञान नहीं हो सकता।

निश्चय से भगवान आत्मा राग से भिन्न है। राग का परिणाम जीव का कर्म नहीं है। जीव में जो राग का परिणाम होता है, उससमय राग-परिणाम को जाननेवाला जो ज्ञान है, उस ज्ञान के परिणाम का कर्त्ता

जीव है; और राग को जाननेवाला वह ज्ञान जीव का कर्म है। भाई ! बहुत सूक्ष्म बात है। बहुत धैर्य से समझने पर ही समझ में आ सकती है।

शिष्य का प्रश्न है कि सम्यग्दृष्टि की क्या पहचान है ? — इस प्रश्न का उत्तर यहाँ चल रहा है। राग व व्यवहार के विकल्प से भिन्न पड़कर अन्तर्मुख होने पर भगवान आत्मा का ज्ञान हुआ, स्वानुभव हुआ। वहाँ जो रागादिभाव होता है, वह जीव का कर्त्तव्य नहीं है। वह राग-परिणाम पुद्गल का कार्य है। पुद्गलद्रव्य स्वतन्त्ररूप से व्यापक होकर मलिन-परिणाम को उत्पन्न करता है।

अहाहा ! आत्मा अकेला चिदानन्दघन प्रभु है। वह राग के आकुलतास्वरूप दुःख के परिणाम से भिन्न है। धर्मी को सच्चिदानन्द-स्वरूप भगवान के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी सुखबुद्धि नहीं है, क्योंकि निर्मलानन्दस्वरूप भगवान आत्मा के अनुभव से 'सुख का निधान वह स्वयं ही है' — ऐसा उसने जाना है। अपने त्रिकाली निज चैतन्य निधान को जिसने जाना, उस सम्यग्दृष्टि — धर्मी जीव की पर्याय में राग या व्यवहार का परिणाम होता है, उसे वह ज्ञानी पुद्गल का कार्य जानता है, अपना कार्य नहीं मानता। भाई ! बात बहुत सूक्ष्म है। लोगों को ऐसा लगता है कि यह एकान्त है; किन्तु जो वस्तुस्वरूप है, उसका यह सम्यक्-निरूपण है। जो ऐसा मानते हैं कि व्यवहार से लाभ होता है, उनसे कहते हैं कि व्यवहार का राग तो पुद्गल का परिणाम है, इससे आनन्द का परिणाम उत्पन्न ही कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।

निश्चय से वस्तु के स्वभाव में जैसे पुद्गल नहीं है, वैसे ही राग भी नहीं है। दोनों ही पर हैं, इसकारण दोनों को ही आत्मा में से निकाल कर पृथक् कर दिया है।

अस्तिकाय की अपेक्षा से विकार की पर्याय भी अपने से, अपने में, अपने कारण होती है, पर से नहीं; परन्तु वहाँ तो द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों से अस्तिकाय सिद्ध करने की बात है और यहाँ तो द्रव्यदृष्टि प्रगट करके पर्यायदृष्टि छोड़ने की बात है। पंचास्तिकाय में द्रव्य-गुण-पर्याय — तीनों स्वयं से हैं, ऐसा कहा है। विकारी पर्याय भी अपने से व निर्मल पर्याय भी अपने से होती है, पर से नहीं। इसप्रकार पर्याय को वहाँ स्वतन्त्र सिद्ध किया है और यहाँ त्रिकाली शुद्ध एक द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि करना है तो विकारी परिणाम का कर्त्ता पुद्गल है, जीव उसका कर्त्ता नहीं है — ऐसा कहा है। जन्म-मरण को मेटनेवाले वीतराग परमेश्वर का मार्ग अद्भुत है, अलौकिक है। भाई ! एक बार तू इसे खूब शान्ति से सुन !!

अब कहते हैं कि जैसे घड़े व मिट्टी में व्याप्य-व्यापक भाव होने से कर्त्ता-कर्मपना है, उसीप्रकार विकारी परिणाम व पुद्गल में व्याप्य-व्यापक भाव होने से कर्त्ता-कर्मपना है। अहाहा ! शरीरादि अवस्था व अन्दर में उत्पन्न हुई पुण्य-पाप की अवस्था – इन सबको यहाँ पुद्गल का कार्य कहा है, क्योंकि निज चैतन्य स्वभाव को जहाँ राग से भिन्न जाना, अनुभव किया; वहाँ जो निर्मल परिणाम हुआ, वह जीव का व्याप्य व जीव उसमें स्वतन्त्र व्यापक है। उस काल में जो विकार का परिणाम होता है, वह जीव से भिन्न है। उसका व्यापक पुद्गल है तथा वह विकारी परिणाम पुद्गल का व्याप्य कर्म है। आत्मवस्तु विकार में व्यापे – ऐसा उसका स्वभाव नहीं है।

यह बात आज तक सुनने को मिली नहीं, समझ में आयी नहीं। इसलिये लौकिकजन बेचारे क्लेश करते हैं, चीखते-चिल्लाते हैं कि एकान्त है, परन्तु भाई ! यह सम्यक्-एकान्त है। ७५, ७६ व ७७ गाथा बहुत गम्भीर हैं, जिनशासन का रहस्योद्घाटन करनेवाली हैं। थोड़ी शान्ति व धैर्य से समझनी पड़ेगी। अरे प्रभो ! यह तो तेरे अन्तर का मार्ग है, पुद्गल द्रव्य स्वतन्त्र व्यापक होने से पुद्गल-परिणाम का कर्त्ता है तथा पुद्गल परिणाम उस व्यापक से स्वयं व्याप्त होने से कर्म है। पुद्गलद्रव्य स्वतन्त्र व्यापक होने से शुभाशुभभावरूप विकारी परिणाम का कर्त्ता है।

'स्वतन्त्रः कर्त्ता' अर्थात् कर्त्ता स्वतन्त्र होता है तथा **'कर्तुरिप्सिततमं कर्म'** – अर्थात् जो कर्त्ता को इष्ट होता है, उसे कर्म कहते हैं। ये कर्त्ता व कर्म की परिभाषायें है। शरीर-मन-वाणी आदि अवस्थाओं तथा पुण्य-पाप के भाव आदि अवस्थाओं का कर्त्ता पुद्गल है, आत्मा नहीं है। जो रागादि-भाव होता है, उसमें जड़-पुद्गल स्वतन्त्र कर्त्ता होकर पर की अपेक्षा बिना ही पुद्गल-परिणाम को करता है।

भाई ! अनन्त जन्म-मरण के दुःख का अन्त लानेवाली यह बात है। सुन्दर रूपवाला शरीर हो, पाँच-पचास लाख की सम्पत्ति हो, क्या इसी में सुख हो जाता है ? परन्तु भाई ! इसमें किञ्चित् भी प्रसन्न होने जैसी बात नहीं है। इस वैभव में प्रसन्न होने का भाव तो महान पाप है, रौद्र ध्यान है, नरक का कारण है। दुनिया को बाहर की मिठास है अर्थात् शरीर, इन्द्रियों व विषयों में सुखबुद्धि है, आत्मबुद्धि है; क्योंकि मिथ्यात्व का भाव है न ! इस मिथ्यात्व में अज्ञानी आपे से बाहर हो जाता है व बेकाबू हो जाता है। यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी को ऐसा मिथ्यात्व भाव नहीं है, साथ ही ज्ञान भी सम्यक् है – इसकारण जो चारित्रमोहवश परिणाम होते हैं, वे सब पुद्गल के परिणाम हैं – ऐसा वह जानता है। पुद्गल

स्वतन्त्रपने उसमें व्याप्त होकर उसका कर्त्ता है, जीव उसका कर्त्ता नहीं है। आत्मा से जुदी वस्तु का कर्त्ता जुदी वस्तु ही होती है। विकार आत्मा से जुदी चीज है, भिन्न वस्तु है तो उसका कर्त्ता भी ज्ञायक से भिन्न पुद्गल है।

"इसलिए पुद्गलद्रव्य के द्वारा कर्त्ता होकर कर्मरूप से किया जानेवाला समस्त कर्म-नोकर्मरूप पुद्गल-परिणाम है। पुद्गल-परिणाम को और आत्मा को घट और कुम्हार की भाँति व्याप्य-व्यापक भाव के अभाव के कारण कर्त्ता-कर्मपने की असिद्धि होने से परमार्थ से आत्मा कर्त्ता नहीं है, परन्तु वह मात्र पुद्गल-परिणाम के ज्ञान को कर्मरूप से करता हुआ अपने आत्मा को जानता है। इसप्रकार वह आत्मा (कर्म-नोकर्म से) अत्यन्त भिन्न ज्ञानस्वरूप होता हुआ ज्ञानी है।"

देखो ! जैसे घड़ा व कुम्हार में व्याप्य-व्यापक भाव का अभाव होने से कर्त्ता-कर्मपना नहीं है, उसीप्रकार आत्मा व विकारी परिणाम में व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव है, इसलिए कर्त्ता-कर्मपना नहीं है। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि परिणाम का कर्त्ता आत्मा नहीं है। पर की दया पालना आदिरूप पर के कार्य का तो आत्मा कर्त्ता है ही नहीं, परन्तु पर की दया पालने का जो विकल्प उठता है, उसका भी कर्त्ता आत्मा नहीं है।

प्रश्न :– 'दयावरं धम्मं' धर्म तो दयाप्रधान है – ऐसा आता है न ?

उत्तर :– हाँ, आता है; परन्तु दया किसे कहते हैं, इसकी लोक को खबर नहीं है। निश्चय से राग की उत्पत्ति के अभाव का नाम दया है, उसी का नाम अहिंसा है। आत्मा शुद्ध चैतन्यवस्तु है; उसके आश्रय से उसमें स्थिर होने पर वीतरागी पर्याय की उत्पत्ति हुई, उसे दया-धर्म कहते हैं।

यहाँ कहते हैं कि जैसे कुम्हार व घट में कर्त्ता-कर्म की असिद्धि है, उसीप्रकार आत्मा व पुद्गल-परिणामरूप विकारीकर्म इन दोनों में कर्त्ता-कर्मपना नहीं है। जैसे घट का कर्त्ता कुम्हार नहीं है, उसीतरह विकारी परिणाम का कर्त्ता आत्मा नहीं है। अहाहा ! 'भगवान आत्मा ज्ञानस्वभावी अखण्ड, एकरूपवस्तु है' – ऐसी जहाँ दृष्टि हुई व इसमें अन्तर्लीनता हुई, वहाँ आत्मा विकारी परिणाम का कर्त्ता नहीं होता; क्योंकि वह स्वभाव से तो निर्विकार निर्मल है तथा पर्याय में जो विकार है, उसको पुद्गल में डाल दिया है। इसप्रकार द्रव्य के स्वभाव की दृष्टि एवं राग के साथ कर्त्ता-कर्मपना समाप्त कर दिया।

अब मात्र पुद्गल-परिणाम के ज्ञान को आत्मा के कर्मरूप से करता हुआ अपनी आत्मा को जानता है। राग होता है, उस राग का जो ज्ञान होता

है, वह आत्मा का है – स्व का है। रागसम्बन्धी ज्ञान अर्थात् राग को जाननेवाली आत्मा की ज्ञानपर्याय – आत्मा का स्व-परप्रकाशक स्वभाव होने से – आत्मा का कर्म है तथा उस राग को जाननेवाली ज्ञानपर्याय का आत्मा कर्त्ता है। अहाहा ! ज्ञानी का रागसम्बन्धी जो ज्ञान है, उस ज्ञान-परिणाम को अपने कर्मरूप करता हुआ वह आत्मा को जानता है, राग को नहीं जानता। भाई ! यह अलौकिक बात है। आजकल तो बहुत गड़बड़ हो गयी है। पुद्गल-परिणाम का ज्ञान अर्थात् जिससमय जिसप्रकार का रागादि परिणाम होता है; उससमय उसका ज्ञान होने की, आत्मा की स्वयं की योग्यता होने से वह रागादि को जानता है। रागादि हुए हैं, इसलिए आत्मा रागादि को जानता है – ऐसा नहीं है; परन्तु उससमय जो स्व-पर को जानने की दशा स्वयं से हुई है। वह ज्ञान का परिणाम जीव का स्वयं का कर्म है तथा जीव उस कर्म का स्वतन्त्ररूप से कर्त्ता है। अहो ! अद्भुत बात है!!

भाई ! यह तो धैर्यशाली व्यक्तियों का काम है। जिनकी दृष्टि स्वभाव पर गई है, जिनकी नजर में निज चैतन्य भगवान तैरता है; उन्हें जो राग होता है, उसका ज्ञानी को ज्ञान होता है। उस रागसम्बन्धी ज्ञान के वे कर्त्ता हैं, राग के कर्त्ता नहीं हैं। पुद्गल-परिणाम अर्थात् दया, दान आदि के जो रागादिभाव हुए, उनका ज्ञान आत्मा को हुआ। उस काल में उस ज्ञान की दशा का स्वकाल ही ऐसा है कि वह स्व को जानता हुआ उन दया, दानादि भावों को भी जानता हुआ उत्पन्न होता है। उस ज्ञान-परिणाम का कर्त्ता आत्मा है और वह ज्ञान-परिणाम आत्मा का कर्म है।

पुद्गल-परिणाम को जानता हुआ ज्ञान, पुद्गल-परिणामों का नहीं है। जैसे पुद्गल-परिणाम हैं, उनका वैसा ही ज्ञान स्वयं से होता है; उसे ही यहाँ पुद्गल-परिणाम का ज्ञान कहा है।

भाई ! 'यह तो एकान्त है, निश्चय है' – ऐसा कहकर इस अलौकिक मार्ग की उपेक्षा करना ठीक नहीं है। भाई ! व्यवहार करते-करते भी मोक्ष होता है व निश्चय करते-करते भी मोक्ष होता है – ऐसा वस्तु का स्वरूप ही नहीं है; ऐसे कथन से भोली जनता भले प्रसन्न हो जावे, परन्तु भाई ! इसमें तेरा आत्मा सन्तुष्ट नहीं होगा, तेरा आत्मा नहीं रीझेगा। तुझे स्वयं तो बड़े भारी मिथ्यात्व का नुकसान होगा। दुनिया तो पहले से नुकसान ही में है। तू व्यवहार को परम्परा-कारण मानता है; परन्तु व्यवहार तो कारण ही नहीं है। जिसको यहाँ पुद्गल-परिणाम कहा है, वही व्यवहार परम्परा से मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है?

ज्ञानी को राग से भेदज्ञान होकर आत्मा का स्व-संवेदन ज्ञान हुआ है। उसके शुभभाव में अशुभ टला है। वह आगे चलकर स्वभाव का उग्र आश्रय लेकर राग को टालेगा। इस अपेक्षा से ज्ञानी के शुभभाव को व्यवहार से परम्परा-कारण कहा है, निमित्त देखकर ऐसा कहा है; किन्तु जब स्वभाव का उग्र आश्रय करके उसका भी अभाव करेगा, तब मोक्ष होगा।

अपना कार्य अपने से होता है। राग पर है; परन्तु जो राग का ज्ञान होता है, वह आत्मा का कार्य है, आत्मा उस ज्ञान का कर्त्ता है। राग का ज्ञान होता है, परन्तु ज्ञान में राग का अभाव है। बहुत सूक्ष्म बात है। ऐसा 'कर्त्ता-कर्म अधिकार' दिगम्बर दर्शन के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं है। जो राग का कर्त्ता स्वयं को मानता है, वह अज्ञानी विकारी भाव की चक्की में राग-द्वेष के पाटों के बीच में पड़ा है, भयकर दुःख से पिस रहा है, और भारी पीड़ित है।

यहाँ तो यह कहते हैं कि कुम्हार व घड़े की भाँति आत्मा और पुद्गल-परिणाममय रागादिभावों के परस्पर कर्त्ता-कर्मपने का अभाव है। अतः जिसने स्वभाव का आलम्बन लिया है, वह आत्मा पुद्गल-परिणाम के (रागादि के) ज्ञान को अपने कर्मरूप से करता हुआ स्व को जानता है तथा वह कर्म व नोकर्म से अत्यन्त भिन्न ज्ञानस्वरूप रहता हुआ ज्ञानी है। अहाहा ! ज्ञाता-दृष्टा के भाव को कर्मरूप से करता हुआ ज्ञानी अपने आत्मा को जानता है। यहाँ राग को जानने की बात नहीं की, बल्कि राग को जाननेवाली अपनी ज्ञानपर्याय को जानने की बात कही है; जो उससमय अपनी तत्समय की योग्यता से व राग के निमित्त से उत्पन्न हुई है। ज्ञानी उसको साक्षीपने जानता है। अपने सामर्थ्य से हुआ ज्ञान अपने स्वरूप में तन्मय रहकर साक्षीभाव से सबका ज्ञाता-दृष्टा मात्र रहता है।

बापू ! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर का मार्ग अलौकिक है। भगवान आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं, वे सर्व शक्तियाँ अत्यन्त निर्मल हैं। समयसार परिशिष्ट में ४७ शक्तियों का निरूपण है, वहाँ क्रमरूप-अक्रमरूप प्रवर्तित अनन्त धर्मों की बात की है। वहाँ अनन्त शक्तियाँ निर्मलरूप से उछलती हैं – ऐसा कहा है। वहाँ विकार की बात ही नहीं की है, क्योंकि विकार-परिणति शक्ति की पर्याय ही नहीं है। ४७ शक्तियों के वर्णन में द्रव्य शुद्ध, शक्ति शुद्ध तथा द्रव्यदृष्टि होने पर परिणमन भी शुद्ध ही होता है – ऐसा कहा है। वहाँ अशुद्धता की तो बात ही नहीं है।

इसप्रकार जो अनन्त शक्तियों का पिण्ड प्रभु चिन्मात्र निज आत्मा को जानता है, वह रागादि से अत्यन्त भिन्न ज्ञानस्वरूप रहता हुआ ज्ञानी

होता है, उसे ही धर्मात्मा या धर्मी कहते हैं। अब समझाते हैं कि पुद्गल-परिणाम का ज्ञान आत्मा का कर्म किस अपेक्षा से है। जो कुछ रागादि भाव या पुण्यादि के भाव होते हैं, उनका ज्ञान आत्मा में होता है। वह ज्ञान आत्मा का कर्म किस अपेक्षा से है – इस बात को विशेष स्पष्ट करते हैं। ज्ञान आत्मा का स्वयं का कार्य (कर्म) है, अतः राग का जो ज्ञान हुआ, वह तो आत्मा का कार्य है; परन्तु राग आत्मा का कार्य नहीं है। जिस परद्रव्य या परभाव का ज्ञान होता है, वह परद्रव्य या परभाव आत्मा का कर्म नहीं हो सकता, वल्कि उस परद्रव्य या परभाव का ज्ञान आत्मा का कर्म (कार्य) होता है और आत्मा उस ज्ञान का कर्त्ता होता है। जो राग का ज्ञान हुआ, वह राग का कार्य नहीं है अर्थात् राग है – ऐसा जो जाना, वहाँ जाननेवाली जो ज्ञान की पर्याय हुई, वह राग का कार्य नहीं है। उस जाननेवाली पर्याय में राग ज्ञात होता है, इसकारण राग उस ज्ञान का कार्य है – ऐसा भी नहीं है। भाई ! यह सब समझना पड़ेगा। इस जनम में यह निर्णय नहीं किया तो समझ लेना कि कुछ नहीं किया।

वाहर के पदार्थों की मिठास छोड़ दे, शुभराग की मिठास भी छोड़ दे; तब ही अन्दर से आनन्द की मिठास आयेगी। राग का लक्ष्य छोड़कर ज्ञानमात्र निज वस्तु को लक्ष्य में ले ! पर से पृथक् चैतन्य भगवान ही सर्वोच्च है। उस अपने चैतन्य भगवान निज ज्ञायक परमतत्त्व की सर्वोत्कृष्टता, सर्वोच्चता भासित न होना और अन्य पदार्थों की महिमा आना ही संसारभाव है, चारगति में भटकने का मूलकारण है, दुःख है।

"परमार्थ से आत्मा में हुए पुद्गल-परिणाम के ज्ञान और पुद्गल में, परस्पर घट व कुम्हार की भाँति व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने से कर्त्ता-कर्मपने की असिद्धि है और जैसे घड़े व मिट्टी के व्याप्य-व्यापक भाव का सद्भाव होने से कर्त्ता-कर्मपना है, उसीप्रकार आत्म-परिणाम और आत्मा के व्याप्य-व्यापक भाव का सद्भाव होने से कर्त्ता-कर्मपना है।"

परमार्थ से पुद्गल-परिणाम के ज्ञान में व पुद्गल में परस्पर घट व कुम्हार की तरह व्याप्य-व्यापक भाव का अभाव है। आत्मा को राग का ज्ञान अपने में रहकर स्व-परप्रकाशकपने वर्त्तते हुए रहता है। पुद्गल-परिणाम के ज्ञान में तथा पुद्गल (राग) में परस्पर व्याप्य-व्यापकपना नहीं है, अर्थात् राग व्यापक व राग का ज्ञान व्याप्य – ऐसा व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध नहीं है। इसकारण राग व ज्ञान में कर्त्ता-कर्मपने की असिद्धि है। पुद्गल-परिणामरूप राग कर्त्ता तथा ज्ञान-परिणाम कर्म – ऐसा नहीं है।

आत्म-परिणाम व आत्मा में परस्पर घड़े व मिट्टी की तरह व्याप्य-व्यापक भाव का सद्भाव होने से कर्त्ता-कर्मपना है। अहाहा ! स्वयं को जानता हुआ राग सम्बन्धी ज्ञान व्याप्य है व आत्मा व्यापक है। ज्ञान आत्मा का कर्म है व आत्मा उसका कर्त्ता है। आत्मा का परिणाम अर्थात् ज्ञाता-दृष्टारूप वीतरागी निर्मल-परिणाम व आत्मा – इन दोनों में व्याप्य-व्यापकपना है; इसलिए उनमें कर्त्ता-कर्मपना सिद्ध होता है। आत्मा कर्त्ता व दया, दान आदि विकल्पों का ज्ञान आत्मा का कर्म है, परन्तु राग कर्त्ता व राग का ज्ञान कर्म नहीं है। अहो ! गाथा खूब गंभीर है। आत्मा कर्त्ता व राग कर्म – ऐसा नहीं है, तथा राग कर्त्ता व राग का ज्ञान कर्म – ऐसा भी नहीं है।

भाई ! यह गाथा महान है। आत्मा के परिणाम व आत्मा के परस्पर कर्त्ता-कर्मपना है। "आत्मद्रव्य स्वतन्त्र व्यापक होने से आत्म-परिणाम का अर्थात् पुद्गल-परिणाम के ज्ञान का कर्त्ता है और पुद्गल-परिणाम का ज्ञान स्वयं व्यापक का व्याप्यरूप होने से कर्म है।"

देखो ! आत्मद्रव्य स्वतन्त्र व्यापक है। जिस जाति का राग है, उसी जाति का ज्ञान हुआ, उस ज्ञान में आत्मा स्वतन्त्र व्यापक है। राग के कारण राग सम्बन्धी ज्ञान नहीं हुआ, बल्कि आत्मा स्वतन्त्रपने व्यापक होने से पुद्गल-परिणाम के ज्ञान का कर्त्ता है। यहाँ ज्ञान के परिणाम में जो राग ज्ञात हुआ, उस ज्ञान के परिणाम में आत्मा स्वतन्त्र व्यापक है। अहाहा ! द्रव्य स्वतन्त्र व्यापक होकर राग का ज्ञान करता है।

प्रश्न :– आत्मद्रव्य स्वतन्त्र व्यापक है – इसका क्या तात्पर्य है ? यह राग का ज्ञान है, क्या इतनी भी अपेक्षा नहीं है ?

उत्तर :– आत्मद्रव्य स्वतन्त्र व्यापक है अर्थात् उस राग को जानते समय जो राग को जाननेरूप ज्ञान का परिणाम हुआ, वह ज्ञान-परिणाम आत्मा का व्याप्य–कर्म है तथा आत्मा स्वतन्त्ररूप से उस राग के ज्ञानरूप व्याप्य – कर्म का कर्त्ता है। राग का या व्यवहार का जो ज्ञान हुआ, उस ज्ञान के होने में राग की, व्यवहार की न तो कोई अपेक्षा है और न कोई पराधीनता या परतन्त्रता है कि राग हो तो राग का ज्ञान भी हो। आत्मा स्वतन्त्रपने कर्त्ता होकर ज्ञानरूप से स्वयं अपने स्वकाल में परिणमन करता है। ज्ञान का स्व-परप्रकाशक स्वभाव है, उस स्वभाव के कारण वह 'स्व' को व 'पर' को जानता हुआ ज्ञानरूप परिणमन करता है। आत्मा का पर-प्रकाशकपना उससमय उत्पन्न हुए रागरूप 'ज्ञेय' के कारण नहीं है।

इस समयसार शास्त्र की बात बहुत सूक्ष्म है ! परन्तु शास्त्र में जो बात है, वही तो कही जायगी। लौकिक जन बेचारे स्थूल बुद्धि के कारण समझ नहीं पाते, इस कारण यह कहकर उपेक्षा कर देते हैं कि यह तो निश्चय की बात है; परन्तु भाई ! निश्चय की बात अर्थात् सत्य बात – यथार्थ बात। भाई ! दुनिया माने या न माने, सत्य को संख्या की अपेक्षा नहीं है।

भगवान आत्मा स्व-परप्रकाशक ज्ञानशक्ति का पिण्ड है। वह स्वयं कर्त्ता होकर स्व-पर को प्रकाशित करता है। पर को प्रकाशित करने में भी आत्मा को पर की अपेक्षा नहीं है। राग का परिणाम या व्यवहार का परिणाम हुआ, इस कारण राग या व्यवहार का ज्ञान हुआ – ऐसी अपेक्षा या पराधीनता ज्ञान के परिणाम को नहीं है। अहाहा ! आत्मा स्वतन्त्रपने कर्त्ता होकर ज्ञान-परिणामरूप कार्य को करता है। भाई ! बहुत सूक्ष्म बात है। व्यवहार है, इसलिए निश्चय है – ऐसा नहीं है तथा व्यवहार है, इसकारण व्यवहार का ज्ञान होता है – ऐसा भी नहीं है।

जगत् ने ऐसा मान रखा है कि व्यवहार के आश्रय से व निमित्त के आश्रय से कल्याण होगा, परन्तु उनकी यह मान्यता ठीक नहीं है। आत्मा व्यवहार व निमित्त का स्वयं स्वतन्त्ररूप से कर्त्ता होकर ज्ञान करता है, तथा वह ज्ञान उसका कर्म है। भाई ! जो स्वतन्त्रपने करे, उसे कर्त्ता कहते हैं। लोकालोक है – क्या इसकारण लोकालोक का ज्ञान होता है ? नहीं, भाई ! ऐसा नहीं है। लोकालोक को जाननेरूप ज्ञान स्वतन्त्ररूप से स्वयं होता है। भगवान आत्मा सहज ज्ञानस्वभाव है, इसलिए ज्ञाता के परिणाम का कार्य स्वतः स्वतन्त्रपने होता है। पुद्गल-परिणाम का ज्ञान, व्यापक आत्मा के द्वारा स्वयं व्याप्य हुआ होने से आत्मा का स्वतन्त्र कर्म है।

परजीव की दया करना तो आत्मा का कार्य है ही नहीं, किन्तु परजीव की दया पालन करने का राग भी आत्मा का कार्य नहीं है। वस्तुतः दया, व्यवहार आदि के समय ज्ञान की पर्याय स्वयं को जानती हुई स्वयं से परिणमित होती है। राग है, देह की स्थिति है; परन्तु ये सब पर हैं। जिस काल में जिसप्रकार का राग हुआ, जिसप्रकार देह की स्थिति हुई; उस काल में उसीप्रकार से जाननेरूप ज्ञान की पर्याय स्वतन्त्ररूप से स्वयं होती है। अहो ! आचार्यदेव ने गजब की टीका की है।

बारहवीं गाथा में कहा है न ? कि व्यवहारनय उस काल में जाना हुआ प्रयोजनवान है। अहाहा ! जिसको अखण्ड चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा का भान हुआ है, त्रिकाली ध्रुव का आश्रय हुआ है; उसको पर्याय

में जो कुछ अपूर्णता है, अशुद्धता है – वह अपूर्णता व अशुद्धता उससमय ज्ञान में जानने मात्र प्रयोजनवान है। यहाँ भी यह बात स्पष्टरूप से कही जा रही है कि व्यवहार का जो ज्ञान है, उसे उस काल में स्वयं से स्वतन्त्रपने जानता है। राग का, व्यवहार का तथा देह का जो ज्ञान हुआ; वह ज्ञान आत्मा का कर्म है। अहाहा! वस्तु ज्ञानस्वभावी है, वह जानने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करता। जो स्वभाव से ही प्रज्ञा-ब्रह्म है, चैतन्य-ब्रह्म है क्या वह पुद्‌गल-परिणाम का कार्य कर सकता है? अर्थात् नहीं कर सकता।

यह गाथा जैनदर्शन का मर्मस्थल है। कहते हैं कि पुद्‌गल-परिणाम का ज्ञान व्यापक आत्मा से कर्त्ता से व्याप्त होने के कारण आत्मा का व्याप्य है, कर्म है, कार्य है। अहाहा! भगवान आत्मा चैतन्य प्रकाश की मूर्त्ति, चैतन्य के नूर का पूर प्रभु है। उस प्रभु को जिसने दृष्टि में लिया, उसे स्व-परप्रकाशक ज्ञान हुआ है। उस स्व-पर प्रकाशक ज्ञान में राग, व्यवहार, कर्म-नोकर्म इत्यादि का यथावसर जो ज्ञान हुआ, वह स्वयं से हुआ है। उस ज्ञान का आत्मा कर्त्ता है और वह ज्ञान स्वयं आत्मा से व्याप्त होने से आत्मा का कार्य है। अरे! जगत तो दया पालने को, भगवान की भक्ति करने को, शास्त्र स्वाध्याय आदि करने को धर्म कहते हैं; परन्तु ये सब तो व्यवहार की बातें हैं। ज्ञानी तो इन सबको साक्षीपने मात्र जानते हैं। तथा उस व्यवहार को जाननेवाला जो ज्ञान है, वह ज्ञाता का स्वयं का कर्म है। लोगों को ऐसा लगता है कि ये तो अकेले निश्चय-निश्चय की बातें करते हैं, परन्तु भाई! अकेला निश्चय ही वास्तविक है और वही भवसागर से निकलने का पन्थ है।

आत्मा ज्ञानस्वभावी वस्तु त्रिकाल सत्य है। इस त्रिकाली सत् के आश्रय से जो स्व-परप्रकाशक ज्ञान प्रगट हुआ, वह पर को भी स्वतन्त्रपने प्रकाशित करता है। स्व को जानते हुए, राग के काल में राग को भी अपने ज्ञान में स्वतन्त्रपने जानता है। टीका में आता है कि 'पुद्‌गल-परिणाम के ज्ञान को करते हुए वह अपने आत्मा को जानता है। पुद्‌गल-परिणाम के ज्ञान को करते समय राग को या देहादि को जानता है – ऐसा नहीं कहा, बल्कि उस काल में आत्मा को जानता है – ऐसा कहा है। स्व-परप्रकाशक रूप से परिणमित हुए उसने आत्मा को जाना है – यह बात है। सत्य तो यही है, भाई! वाद-विवाद करने से कभी सत्य नहीं बदल जाता।

अब कहते हैं कि – "और इसप्रकार (ज्ञाता पुद्‌गल-परिणाम का ज्ञान करता है, इसलिए) ऐसा भी नहीं है कि पुद्‌गल-परिणाम ज्ञाता का

व्याप्य हो, क्योंकि पुद्गल और आत्मा के ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध का व्यवहार मात्र होने पर भी पुद्गल-परिणाम जिसका निमित्त है — ऐसा ज्ञान ही ज्ञाता का व्याप्य है। (इसलिए वह ज्ञान ही ज्ञाता का कर्म है)।

देखो ! आत्मा पुद्गल-परिणाम का ज्ञान करता है, इसकारण पुद्गल-परिणाम अर्थात् दया, दान, व्रत आदि के परिणाम आत्मा के व्याप्य — कर्म नहीं हैं। पहले तो राग को पुद्गल-परिणाम कहा और अब यहाँ राग को पुद्गल कहा। दया, दान आदि भाव पुद्गल हैं तथा पुद्गल और आत्मा भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं — ऐसा कहा है। आत्मा व दया, दान आदि पुद्गल-परिणाम भिन्न हैं — यहाँ ऐसा कहा है। पर की दया पालने से, यात्रा करने से, भक्ति करने से धर्म होता है — यह बात तो यहाँ है ही नहीं। (निर्मलानन्द का नाथ चैतन्यघन प्रभु भगवान आत्मा में आरूढ़ होना ही सच्ची दया, सच्ची भक्ति व सच्ची यात्रा है भगवान आत्मा स्वयं तीर्थस्वरूप है, उसमें आरूढ़ होना ही सच्ची तीर्थयात्रा है।)

पुदगल व आत्मा के परस्पर ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध का व्यवहारमात्र है। अर्थात् राग ज्ञेय है व आत्मा ज्ञायक है। व्यवहार-रत्नत्रयादि के विकल्प पुद्गल हैं, परज्ञेय हैं तथा आत्मा उनका ज्ञायक है। पुद्गलरूप राग के परिणाम का ज्ञान तो अपने उपादान से हुआ है, राग का परिणाम तो उस ज्ञान में मात्र निमित्त है। जिस ज्ञान में राग निमित्त है — ऐसा ज्ञान ही ज्ञाता का व्याप्य — कर्म है। निमित्तरूप राग ज्ञाता का व्याप्य — कर्म नहीं है। अहो ! गाथा कैसी अलौकिक है, मानो बारह अंग का सार भर दिया है।

दया, दान, व्रत, भक्ति इत्यादि राग का ज्ञान होने में स्वयं ज्ञान ही उपादान है और दया, दान, व्रत भक्ति आदि के भाव उस ज्ञान में निमित्त हैं। निमित्त कहकर मात्र परवस्तु के अस्तित्व का ज्ञान कराया है। जिस विषय का ज्ञान होता है, उस विषय को उसके ज्ञान में निमित्त कहा जाता है। वस्तुतः निमित्त के कारण ज्ञान नहीं हुआ है। जहाँ निमित्त या राग को कारण कहा हो, वहाँ उपचारमात्र जानना। स्व-परप्रकाशक ज्ञान की परिणति स्वतंत्ररूप से जीवद्रव्य ने की है। यह ज्ञान-परिणति जीव का कर्म है। ज्ञान ही ज्ञायक का, आत्मा का व्याप्य — कर्म है। (राग आत्मा का व्याप्य नहीं है।) अहो ! गजब बात की है। इसमें निमित्त-उपादान और निश्चय-व्यवहार का सब स्पष्टीकरण आ जाता है। व्यवहार का जो ज्ञान हुआ, उसमें व्यवहार निमित्त होते हुए भी वह ज्ञाता का व्याप्य नहीं है, बल्कि वह ज्ञान ही ज्ञाता का व्याप्य है। भाई ! तत्वदृष्टि सूक्ष्म है।

मकानादि हम बनाते हैं – ऐसी मान्यता मिथ्यादर्शन है। मकान तो अपनी योग्यता से अपने स्वकाल में बनता है और राग भी अपनी योग्यता से अपने स्वकाल में होता है, आत्मा से नहीं होता। रागसम्बन्धी ज्ञान भी राग के कारण नहीं होता; उस रागसम्बन्धी ज्ञान का कारण ज्ञान की तत्समय की योग्यता ही है, राग नहीं। जिससमय उपादान अपने स्वभाव से जागृत होता है; उससमय के उस ज्ञान के परिणाम में उसी-उसी प्रकार का राग निमित्त होते हुए भी वह राग आत्मा का व्याप्य नहीं है, ज्ञान का परिणाम ही आत्मा का व्याप्य – कर्म है। व्यवहार-मोक्षमार्ग निमित्त है, निमित्त होते हुए भी व्यवहार-मोक्षमार्ग आत्मा का व्याप्य नहीं है।

व्यवहार का राग आता है, किन्तु वह पुद्गल का परिणाम है। ज्ञान में स्वयं को तथा व्यवहार को जानने का स्वभाव है; परन्तु यह ज्ञान का परिणाम आत्मा के शुद्ध-उपादान से हुआ है, इसमें व्यवहार का निमित्त होते हुए भी, ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध का व्यवहार होते हुए भी वह ज्ञाता का व्याप्य नहीं है। व्यवहार ज्ञेय व आत्मा ज्ञायक – मात्र इतना सम्बन्ध है, वह राग या व्यवहार आत्मा का कर्म नहीं है।

देखो ! सामने हीरा हो तो हीरे का ज्ञान होता है, कोयला हो तो कोयले का ज्ञान होता है, राग हो तो राग का ज्ञान होता है तथा द्वेष हो तो द्वेष का ज्ञान होता है; परन्तु यहाँ यह कहते हैं कि ये हीरा, कोयला या रागादि के कारण इनका ज्ञान हुआ हो – ऐसा नहीं है। आत्मा में जो इनका ज्ञान हुआ, उसमें ये सब निमित्त हैं, परन्तु इनसे ज्ञान नहीं हुआ है। पर निमित्त होता है, पर उनसे कार्य नहीं होता; कार्य तो उपादान में तत्समय की योग्यता से होता है। भाई ! ऐसी सत्य बात सुनने को मिली ही नहीं। देखो ! यह सामने समयसार है – इसका जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञान स्वयं से हुआ है और समयसार उसमें निमित्त है; तथापि समयसार शास्त्र आत्मा का व्याप्य – कर्म नहीं है। भाई ! वस्तु की स्थिति ही ऐसी है। आत्मा का भान होने पर जो-जो स्व-परप्रकाशक ज्ञान का परिणाम हुआ, आत्मा उसका स्वयं स्वतन्त्र व्यापक होकर कर्त्ता होता है। भाई ! भाव तो सूक्ष्म है, परन्तु भाषा सादी-सरल है। समझना चाहें तो समझ में आ सकती है। देखो ! एक बात तो यह है कि निमित्त मिलाया नहीं जा सकता तथा दूसरी बात यह है कि निमित्त होता है; परन्तु वह कार्य को उत्पन्न नहीं करता तथा जो ज्ञान हुआ, वह निमित्त का कार्य नहीं है। अहो ! ऐसा वस्तुस्वरूप बताकर आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने अमृत उड़ेला है।

ग्रन्थ के अन्त में आचार्यदेव तो ऐसा कहते हैं कि इस शास्त्र की टीका मैंने नहीं वनाई है। टीका लिखने का राग भी मेरा कार्य नहीं है। उस राग को जाननेरूप जो परिणमन हुआ, वह ज्ञान राग का कार्य (कर्म) नहीं है। रागसम्बन्धी जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञायक आत्मा का कार्य है। उस ज्ञानरूप कार्य में राग निमित्त है, परन्तु वह निमित्तरूप राग ज्ञाता का व्याप्य नहीं है। भगवान आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूपी वस्तु है, वह स्वयं अपनी सामर्थ्य से अपने कारण अपना व पर का ज्ञान करता है। रागरूप निमित्त के कारण राग का ज्ञान नहीं होता।

प्रश्न :– यह सामने जो वृक्ष है – इस वृक्ष का ज्ञान तो वृक्ष के कारण ही हुआ है न ?

उत्तर :– नहीं, ऐसा नहीं है। ज्ञान तो उस काल में स्वतन्त्रपने अपने से ही हुआ है। आत्मा स्व-परप्रकाशक स्वभावरूप से स्वतन्त्र परिणमित होता है, वह ज्ञान-परिणमन आत्मा का कार्य है। अन्य निमित्त हो तो भले हो, परन्तु वह आत्मा का कार्य नहीं है। ज्ञान ही आत्मा का कार्य हैं। व्यवहार-रत्नत्रय का राग आत्मा का व्याप्य – कर्म नहीं है। अतः वृक्ष के कारण वृक्ष का ज्ञान नहीं होता – यह सिद्ध हुआ।

अब इसी अर्थ का समर्थक कलशरूप काव्य कहते हैं :-

(शार्दूलविक्रीड़ित)

व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि
व्याप्यव्यापकभावसंभवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः।
इत्युद्दामविवेकघस्मरमहोभारेण भिंदंस्तमो
ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान् ।।४९।।

श्लोकार्थ :– [व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेत्] व्याप्यव्यापकता तत्स्वरूप में ही होती है, [अतदात्मनि अपि न एव] अतत्स्वरूप में नहीं ही होती और [व्याप्यव्यापकभावसम्भवम् ऋते] व्याप्य-व्यापकभाव के संभव के बिना [कर्तृकर्मस्थितिः का] कर्ता-कर्म की स्थिति कैसी? अर्थात् कर्ता-कर्म की स्थिति नहीं ही होती। [इति उद्दाम-विवेक-घस्मर-महोभारेण] ऐसे प्रबल विवेकरूप, और सबको ग्रासीभूत करने के स्वभाववाले ज्ञान-प्रकाश के भार से [तमः भिन्दन्] अज्ञानांधकार को भेदता हुआ [सः एषः पुमान्] यह आत्मा [ज्ञानीभूय] ज्ञानस्वरूप होकर, [तदा] उससमय [कर्तृत्वशून्यः लसितः] कर्तृत्वरहित हुआ शोभित होता है।

भावार्थ :– जो सर्व अवस्थाओं में व्याप्त होता है, सो तो व्यापक है और कोई एक अवस्था-विशेष, वह (उस व्यापक का) व्याप्य है। इसप्रकार द्रव्य तो व्यापक है और पर्याय व्याप्य है। द्रव्य-पर्याय अभेदरूप ही हैं। जो द्रव्य का आत्मा, स्वरूप अथवा सत्त्व है; वही पर्याय का आत्मा, स्वरूप अथवा सत्त्व है – ऐसा होने से द्रव्य, पर्याय में व्याप्त होता है और पर्याय, द्रव्य के द्वारा व्याप्त हो जाती है। ऐसी व्याप्य-व्यापकता तत्स्वरूप में ही (अभिन्न सत्तावाले पदार्थ में ही) होती है; अतत्स्वरूप में (जिनकी सत्ता भिन्न-भिन्न है – ऐसे पदार्थों में) नहीं ही होती। जहाँ व्याप्य-व्यापक भाव होता है, वहीं कर्त्ता-कर्म भाव होता है; व्याप्य-व्यापक भाव के बिना कर्त्ता-कर्म भाव नहीं होता – ऐसा जो जानता है, वह पुद्गल और आत्मा के कर्त्ता-कर्म भाव नहीं हैं – ऐसा जानता है। ऐसा जानने पर वह ज्ञानी होता है, कर्ता-कर्म भाव से रहित होता है और ज्ञाता-दृष्टा – जगत का साक्षीभूत होता है।

कलश ४९ पर प्रवचन

गाथा ७५ की टीका के समर्थन में ही यह कलशरूप काव्य कहा गया है। यहाँ कहते हैं कि व्याप्य-व्यापकपना तत्स्वरूप में ही होता है, अतत्स्वरूप में नहीं होता तथा व्याप्य-व्यापकभाव के बिना कर्त्ता-कर्म की स्थिति हो ही नहीं सकती, सम्भवित ही नहीं है।

देखो ! वस्तु का स्वभाव तो त्रिकाल व्यापक है और उसकी पर्याय व्याप्य है। ऐसा व्याप्य-व्यापकपना तत्स्वरूप में ही होता है, अतत्स्वरूप में नहीं। राग व शरीरादि परवस्तुएँ तत्स्वरूप नहीं हैं। अहाहा ! भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य प्रभु ज्ञान का पिण्ड है। इसका व्याप्य-व्यापकभाव तत्स्वरूप में ही होता है। अतः आत्मद्रव्य स्वयं व्यापक तथा उसकी निर्मल निर्विकारी दशा तत्स्वरूप होने से व्याप्य है। आत्मद्रव्य व्यापक व रागादि विकार – परवस्तु उसकी व्याप्य नहीं है; क्योंकि अतत्स्वरूप में आत्मा का व्याप्य-व्यापकपना सम्भवित ही नहीं है। भाई ! यह तो सर्वज्ञ परमात्मा अरहन्तदेव द्वारा कही हुई मूल बात है। व्यापक अर्थात् कर्त्ता और व्याप्य अर्थात् कर्म (कार्य) – ऐसा कर्त्ता-कर्मपना तत्स्वरूप में ही होता है। वास्तव में आत्मा व्यापक और निर्मल पर्याय इसका व्याप्य – यह भी उपचार है।

कलशटीका में तो पण्डित श्री राजमलजी पाण्डे ने इसी कलश के अर्थ में इसप्रकार कहा है कि "व्यापक अर्थात् परिणामी द्रव्य अपने

परिणाम का कर्त्ता होता है, व्याप्य अर्थात् वह परिणाम द्रव्य ने किया। जिसमें (एक सत्त्व में) ऐसा भेद किया जाय, तो होता है; नहीं किया जाय तो नहीं होता है। जीवद्रव्य के सत्त्व से पुद्गलद्रव्य का सत्त्व भिन्न है, अतः निश्चय से व्याप्य-व्यापकता नहीं है। भावार्थ यह है कि जैसे उपचार मात्र से द्रव्य अपने परिणाम का कर्त्ता है, वही परिणाम द्रव्य का किया हुआ है। वैसे अन्य द्रव्य का कर्त्ता अन्य द्रव्य तो उपचार से भी नहीं है, क्योंकि उनमें एक सत्त्व नहीं, भिन्न सत्त्व है।"

ज्ञाता आत्मा अपने स्व-परप्रकाशक परिणाम का कर्त्ता और वह परिणाम उस आत्मद्रव्य का कर्म है – यह भी उपचारमात्र है। निश्चय से तो पर्याय भी पर्याय से (स्वयं से) ही हुई है। द्रव्य से पर्याय हुई है – ऐसा जो कहा, यह तो उपचार किया है। निश्चय से तो निर्विकारी निर्मल परिणाम स्वयं सिद्ध हुआ है। आत्मा निर्मल परिणाम का कर्त्ता और निर्मल परिणाम आत्मा का कर्म – यह तो उपचारमात्र है, तथा आत्मा राग की क्रिया व जड़ की क्रिया का कर्त्ता तो उपचार से भी नहीं है। अहाहा! ऐसी बात अन्यत्र कहीं नहीं है। निर्मल परिणाम व्याप्य व आत्मद्रव्य व्यापक – यह उपचार से है, परमार्थ से नहीं; तथा शरीर, राग व व्यवहार का कर्त्ता तो आत्मा उपचार से भी नहीं है।

व्याप्य-व्यापकपना तत्स्वरूप में ही होता है अर्थात् कर्त्ता व कर्म अभिन्न होते हैं। आत्मवस्तु शुद्ध त्रिकाली ध्रुव ज्ञायक द्रव्य व्यापक (कर्त्ता) है तथा सम्यग्दर्शन आदि निर्मल परिणाम व्याप्य (कर्म) हैं। आत्मा कर्त्ता व उससे भिन्न पुण्य-पाप के भाव इसके कर्म – ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि पुण्य-पापादि के भाव अतत्स्वरूप हैं। अहाहा! भाई, जिनको व्यवहार-साधन कहा है – ऐसे व्यवहार-रत्नत्रयादि के भाव अतत्स्वरूप हैं; परन्तु इन्हें जो व्यवहार-साधन कहा है, वह तो व्यवहार का ज्ञान कराने के लिए मात्र उपचार का कथन है, वास्तव में तो ये साधन हैं ही नहीं।

आत्मा त्रिकाली शुद्ध ज्ञायकस्वभावी ध्रुव वस्तु है। शुद्ध ज्ञायक के लक्ष्य से निर्मल पर्याय उत्पन्न होती है, वह व्याप्य है और आत्मद्रव्य स्वयं व्यापक होकर उस निर्मलपर्यायरूप व्याप्य – कर्म को करता है। पुण्य-पाप आदि जो विभाव होते हैं, उनका क्षेत्र व भाव आत्मा से भिन्न होने से, वे निश्चय से अतत्स्वरूप हैं। इसकारण आत्मा का रागादि से व्याप्य-व्यापकपना नहीं है तथा व्याप्य-व्यापकभाव के बिना कर्त्ता-कर्म की स्थिति कैसे सम्भव हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती। व्याप्य-व्यापक भाव के

अभाव से राग का कर्त्ता आत्मा व राग आत्मा का कर्म – ऐसा हो ही नहीं सकता। देखो ! धर्म किस रीति से होता है – यह कह रहे हैं। जिसे निर्मल ज्ञानस्वभावी चिन्मात्र आत्मद्रव्य की दृष्टि हुई तथा अतत्स्वरूप राग – व्यवहार के विकल्पों से भेदज्ञान हुआ, वह स्वयं भगवान ज्ञायक व्यापक – कर्त्ता होकर अपनी व्याप्यरूप निर्मल मोक्षमार्ग की, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्ध रत्नत्रय की पर्याय को करता है और यही धर्म है। यह आत्मा का व्याप्य – कर्म है, परन्तु अतत्स्वरूप राग – व्यवहार, आत्मा का व्याप्य (कर्म) नहीं है।

अरे रे ! लोगों को आजकल व्यवहार के तथा निमित्त के प्रेम में – अनुराग में अपने शुद्ध ज्ञायक भगवान की रुचि, श्रद्धा, प्रतीति ही नहीं आती; अतः आत्मा का आश्रय किये बिना बेचारे चौरासी के अवतार में भारी दुःखी हो रहे हैं, मानो दुःख की चक्की में पिस रहे हैं। भाई ! शुद्ध चैतन्य स्वभावमय वस्तु स्वयं प्रभु है; परन्तु अपने इस चैतन्य प्रभु की महिमा दृष्टि में आये बिना अन्तर से विकार का माहात्म्य नहीं छूटता। यहाँ कहते हैं कि व्याप्य-व्यापकभाव के सम्भव बिना कर्त्ता-कर्म की स्थिति कैसी ? भगवान आत्मा कर्त्ता व दया, दान, व्रत, भक्ति आदि विभावभाव इसके कर्म – यह कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता। अहाहा ! दया, दान आदि व्यवहार के काम तो आत्मा तो कर ही नहीं सकता; परन्तु दया, दान आदि विकार के परिणाम भी आत्मा के कार्य नहीं हैं, क्योंकि विभावभाव आत्मा से अतत्स्वरूप हैं।

त्रिकाली ज्ञायकभाव शुद्ध चैतन्यघनवस्तु है, वह तत्स्वभावरूप है। उसका तत्स्वभावरूप परिणाम कार्य है, कर्म है। त्रिकाली ध्रुव वस्तु स्वयं व्यापक होकर अपने निर्मल परिणाम में व्याप्त होता है – यह तो व्यवहार है, परन्तु वह शुभाशुभ विकार में व्यापक होकर इन्हें करे, यह बात कहाँ से आई ? क्योंकि वहाँ व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव है।

प्रश्न :– यह भाषा बोलने का कार्य आत्मा करता है या नहीं ?

उत्तर :– यह प्रश्न वि०सं० १९९४ में शत्रुंजय क्षेत्र पर भी हुआ था। तब हमने कहा था कि भाषा का व्याप्य-व्यापकपना जड़ में है। आत्मा व्यापक होकर अतत्स्वभावरूप भाषा के परिणमन को नहीं करता। भाई ! यह कोरी पण्डिताई का विषय नहीं है। यह तो स्वरूपदृष्टि का विषय है। जिसे जन्म-मरण के दुःख से छूटना हो, उससे यहाँ कहते हैं कि ये दुःख के परिणाम भी आत्मा के व्याप्य (कर्म) नहीं हैं। भाई ! यह तो अतीन्द्रिय

आनन्द का नाथ, नित्यानन्दस्वरूप प्रभु है न ? यह व्यापक होकर – पसरकर – कर्त्ता होकर पवित्र आनन्द की पर्याय का कार्य करता है। दुःख की पर्याय तो इससे अतद्भावरूप है। वह दुःख की पर्याय इसका व्याप्य कार्य कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती।

आत्मा शुद्ध के रूप में ज्ञानानन्दस्वभावी वस्तु है। वह वस्तु व्यापक होकर खिले तो निर्मल वीतरागी आनन्द की पर्याय से खिलती है – ऐसा ही स्वभाव है। देखो ! कागज का पँखा फैले – पसरे तो कागज के रूप में ही फैलता है, क्या वह पत्थर के रूप में पसर सकता है – फैल सकता है ? अर्थात् नहीं फैल सकता। इसीप्रकार ज्ञायकस्वरूपी भगवान खिले – पसरे तो निर्मलज्ञानस्वभाव में ही खिलता है – पसरता है, रागरूप या दुःखरूप में नहीं खिलता। अहा ! भगवान आत्मा का व्याप्य वीतरागी पर्याय है। चतुर्थ आदि गुणस्थान में जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धरत्नत्रय की पर्याय प्रगट होती है, वही आत्मा का व्याप्य है, अन्य नहीं।

प्रश्न :– चतुर्थ आदि गुणस्थानों में राग भी तो होता है ?

उत्तर :– हाँ, चतुर्थ आदि गुणस्थानों में व्रत, पूजा, भक्ति, दया, दान इत्यादि के तथा विषयादि के शुभाशुभभाव भी होते हैं; परन्तु वे शुभाशुभ भाव आत्मा के व्याप्य – कर्म नहीं हैं। जो विभाव होता है, आत्मा उसे उस काल में जानता हुआ प्रवर्त्तता है। उसकी स्व-पर को जाननेवाली जो ज्ञान की पर्याय है, वह इसका व्याप्य – कर्म है। यद्यपि ज्ञान राग को जानता है – इसकारण ज्ञान आत्मा का व्याप्य नहीं हो जाता। भाई ! यह तो कर्त्तृत्व के अभिमान का भुर्त्ता बना दे। अर्थात् अभिमान को चूर-चूर कर दे, नष्ट कर दे – ऐसी बात है। इसे हृदय में बिठा ले। 'व्यवहार से निश्चय होता है' – यह तेरी मान्यता मिथ्या है, एकान्त है; क्योंकि कर्त्ता-कर्मपना तत्स्वभाव में ही होता है। अहाहा ! वीतरागी पर्याय कार्य व वीतरागी स्वभाव कारण है – यहाँ यह कहा है, परन्तु राग कारण व वीतरागता कार्य – ऐसा नहीं है। शास्त्रों में व्यवहार साधन की बात निमित्त का ज्ञान कराने के लिए व्यवहार से कहने में आती है; परन्तु भाई ! जहाँ जिस अपेक्षा से कथन हो, उसका यथार्थज्ञान करना चाहिए।

अब कहते हैं कि "ऐसा प्रबल विवेक तथा सर्व को ग्रासीभूत करने का जिसका स्वभाव है – ऐसे ज्ञानप्रकाश द्वारा अन्धकार को भेदता हुआ, यह आत्मा ज्ञानस्वरूप होकर, उससमय कर्त्तृत्वरहित होता हुआ शोभित होता है।"

अहाहा ! समयसार की अनेक गाथायें व अनेक कलश अद्भुत हैं, अलौकिक हैं। यहाँ कहते हैं कि तत्स्वभावरूप ज्ञायकभाव आत्मा कर्त्ता व उसकी निर्मल पर्याय उसका कर्म है; परन्तु अतत्स्वभाव रागादिभाव का कर्त्ता आत्मा नहीं है तथा वह विभाव भी आत्मा का कर्म नहीं है। अहो ! अन्तरंग में जिसे ऐसी दृष्टि प्रगट हुई, उसे प्रबल विवेकरूप (भेदज्ञानरूप) सम्यग्ज्ञान-सूर्य प्रगट हुआ है।

इस प्रबल विवेकरूप सम्यग्ज्ञान-सूर्य का स्वभाव सबको ग्रासीभूत करने का है, अर्थात् वह स्व को भी जानता है तथा जो राग होता है, उसे भी जानता है – ऐसा उसका स्वभाव है। अपने ज्ञान में सबको निगल जाय – ऐसी ज्ञानप्रकाश की सामर्थ्य है। देखो ! राग को करता तो है ही नहीं; किन्तु राग है, इसीलिए उस राग को जानता है – ऐसा भी नहीं है। ज्ञान का स्वयं का ऐसा स्वभाव है कि वह अपने में राग आदि सबको ग्रासीभूत कर लेता है। जिस काल में जिस जाति का राग व जैसी देह की स्थिति अपने-अपने कारण से होती है, उस काल में उन सबको छुए बिना ही ग्रासीभूत करने का अर्थात् जान लेने का ज्ञान का स्वभाव है।

व्यवहार के राग को ज्ञान जानता है, वह जानना तो आत्मा का – निज का कार्य है; परन्तु जिसे ज्ञान ने जाना, वह राग आत्मा का कार्य नहीं है। 'राग मेरा कार्य व मैं राग का कर्त्ता हूँ' – ऐसा मानना तो अज्ञान है। इस अज्ञान को भेदता हुआ तत्स्वरूप से – ज्ञानस्वरूप से स्वयं परिणमन करता हुआ ज्ञान, अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश करता है। भाई ! यह व्यवहार-रत्नत्रय का शुभराग मेरा कार्य तथा मैं उसका कर्त्ता अथवा व्यवहार-रत्नत्रय का शुभभाव कर्त्ता तथा जो ज्ञान-अवस्था प्रगट हुई, वह इसका कार्य – ऐसा अभिप्राय भी अज्ञान है। इस अज्ञान-अन्धकार को भेदता हुआ भगवान आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप होकर उस काल में कर्त्तृत्वरहित होता हुआ सुशोभित होता है।

कहा भी है कि जिस काल में राग है, उसीसमय राग को जाननेवाला ज्ञान कर्त्तृत्वरहित होकर शोभायमान होता है अर्थात् 'राग मेरा कार्य व मैं उसका कर्त्ता' – ऐसी अज्ञानदशा को भेदता हुआ आत्मा स्वयं कर्त्तृत्व रहित होकर ज्ञाता होकर शोभायमान होता है। देखो ! राग के कर्त्तृत्व से आत्मा शोभित नहीं होता, पुण्य के परिणाम करने से आत्मा की शोभा नहीं है। उनसे अपनी शोभा मानना तो मिथ्यात्व है। भाई ! वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। इस शास्त्र में तो जो प्रकरण है, उसका स्पष्टीकरण आता है; किन्तु मनुष्यों को व्यवहार की – अपनी मानी हुई स्थूल बातों

की पकड़ है; इसकारण सूक्ष्म वात को – सत्य वात को ग्रहण करना कठिन लगता है। भाई ! इसको समझने से ही दुःख से छुटकारा मिल सकता है, अन्य कोई उपाय नहीं है।

अहाहा ! आत्मा स्वयं शुद्ध चैतन्यस्वरूप ज्ञाता-दृष्टास्वभावी भगवान है। वह पहले राग का कर्त्ता होकर परिणमन करता था, वह उसकी असुन्दरता थी, अज्ञान था, दुःख था। अब वह राग के कर्त्तृत्व से रहित होकर ज्ञातास्वभाव से ज्ञान-आनन्दरूप परिणमन करता हुआ, अतीन्द्रिय आनन्द की लहर से शोभायमान होता है। स्वरूप के भान बिना पहले व्यवहार के – राग के कर्त्तापने परिणमन करता था, वह उसकी अज्ञान दशा थी, दुःखरूप दशा थी। अब प्रबल विवेकरूप सम्यग्ज्ञान का प्रकाश प्रगट होने पर अज्ञान-अन्धकार को भेदता हुआ, वह राग का अकर्त्ता होकर तथा ज्ञान व आनन्द की पर्याय का कर्त्ता होकर स्वयं शोभित होता है।

प्रश्न :– व्यवहार, साधन और निश्चय, साध्य – ऐसा कथन शास्त्र में आता है न ? उसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर :– अरे भाई ! वहाँ तो आरोप करके साधन का कथन किया है। व्यवहार का राग जो कि अतत्भावरूप है, वह तत्स्वभाव का – निश्चय का साधन कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता। यहाँ तो यह कहा है कि राग से भिन्न होकर ज्ञायकभाव में जो निर्मल वीतरागी परिणति प्रगट हुई, वह साधन है तथा उससमय जो राग है, उसे सहचर व निमित्त देखकर, उपचार से आरोप करके साधन कहा है। व्यवहार का सर्वत्र यही लक्षण है। वह एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य में मिलाकर एवं एक द्रव्य के भाव को दूसरे द्रव्य के भाव में मिलाकर कथन करता है तथा कारण में कार्य को मिलाकर कथन करता है – ऐसा व्यवहार का लक्षण है। मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें अधिकार में आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने निश्चय-व्यवहार का बहुत सरस स्पष्टीकरण किया है।

स्वयं की समझ में नहीं आता, इसलिए विरोध करता है; परन्तु इससे भी क्या ? क्योंकि द्रव्य अशुद्धतारूप परिणमन करने में भी स्वतन्त्र है। अनुभवप्रकाश में कहा है कि 'तेरी अशुद्धता भी बड़ी' अर्थात् जिसकी मान्यता में विपरीतता बैठी है, वह त्रिलोकीनाथ भगवान सर्वज्ञदेव की वाणी को सुनकर भी अपनी विपरीत मान्यता नहीं छोड़ता। इसप्रकार इसकी अशुद्धता भी बड़ी है।

यहाँ कहते हैं कि 'राग मेरा कार्य और मैं राग का कर्त्ता' – यह मान्यता अज्ञान है। इस विपरीत अभिप्राय को तो पहले सुधार ! वस्तुस्थिति

का पहले अपने ज्ञान में यथार्थ निर्णय लेकर राग का कर्तृत्व मेरा नहीं; परन्तु उसीसमय स्व और पर को जानता हुआ 'जो ज्ञान है, वह मेरा कार्य व मैं उसका कर्त्ता' – ऐसे निर्णयसहित जो ज्ञान-प्रकाश प्रगट हुआ, वह अज्ञान-अन्धकार को भेदता हुआ स्वयं को अकर्त्तापने से – ज्ञातापने से परिणमन करता हुआ, कर्तृत्वरहित होकर शोभित होता है। अहो ! ऐसी अद्भुत बात है। इसमें विवाद से पार नहीं पड़ सकती। इसे तो गम्भीरता से निष्पक्ष होकर शान्तिपूर्वक जिज्ञासा भाव से समझे, तभी समझ में आ सकती है।

कलश ४६ के भावार्थ पर प्रवचन

'जो सर्व अवस्थाओं में व्याप्त होता है, वह तो व्यापक है और कोई एक अवस्था-विशेष उस व्यापक का व्याप्य है। इसप्रकार द्रव्य तो व्यापक है और पर्याय व्याप्य है।' त्रिकाली वस्तु (द्रव्य) व्यापक है; क्योंकि वह प्रत्येक अवस्था में रहता है और उस व्यापक द्रव्य की वर्तमान अवस्था, व्याप्य है।

'द्रव्य-पर्याय अभेदरूप हैं' अर्थात् उनका परवस्तु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अपना द्रव्य व अपनी पर्याय पर से भिन्न है और स्वयं से अभेदरूप है। पर से भिन्न है – इस अपेक्षा द्रव्य-पर्याय अभिन्न हैं – ऐसा कहा है, फिर भी द्रव्य व पर्याय एक नहीं हो गये हैं। द्रव्य-पर्याय अभेद – रूप हैं अर्थात् पर के साथ या राग के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। निर्मल पर्याय व द्रव्य अभेद है अर्थात् निर्मल पर्याय व्यापक द्रव्य का व्याप्य-कर्म है। इस पर्याय का कर्त्ता द्रव्य है, यही अभेद का अर्थ है।

अरे भाई ! अपना आत्मद्रव्य अनन्त काल का है, उसकी दृष्टि करना साधारण बात नहीं है। इस जीव को पर्यायबुद्धि या रागबुद्धि अनादिकाल से है; उसे पलटकर द्रव्यबुद्धि होना कोई साधारण पुरुषार्थ की बात नहीं है, इसके लिए उग्र पुरुषार्थ की आवश्यकता है। भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ त्रिकाली ध्रुव द्रव्य है। जब पर्याय ऐसे द्रव्य के सन्मुख ढ़लकर उसका स्वीकार करे, तब द्रव्य-पर्याय अभेदरूप ही हैं। जो पर्याय द्रव्य के सन्मुख होती है, वह द्रव्य का स्वीकार करती है और तब ही उसे शान्ति का अनुभव होता है। आत्मा स्वयं व्यापक और उसकी निर्मल पर्याय व्याप्य – ऐसा जहाँ अभेदरूप परिणमन है, वहाँ शान्ति है; आत्मा व्यापक व पुण्य-पाप के भाव व्याप्य – ऐसा जो मानता है, उसे अशान्ति होती है; क्योंकि वस्तु का स्वरूप ऐसा नहीं है।

अब कहते हैं 'जो द्रव्य का आत्मा, स्वरूप अथवा सत्त्व है। वही पर्याय का आत्मा, स्वरूप अथवा सत्त्व है – ऐसा होने से द्रव्य, पर्याय में व्याप्त होता है और पर्याय, द्रव्य के द्वारा व्याप्त हो जाती है – ऐसी व्याप्य-व्यापकता तत्स्वरूप में ही (अभिन्न सत्तावाले पदार्थ में ही) होती है। अतत्स्वरूप में (जिनकी सत्ता भिन्न-भिन्न है – ऐसे पदार्थों में) नहीं होती।'

देखो ! क्या कहते हैं ? जो द्रव्य का स्वरूप है, वही पर्याय का स्वरूप है। पर्याय इसी की जाति की है न ? इसीलिए ऐसा कथन किया है; परन्तु इससे पर्याय व द्रव्य एक नहीं हो गये। पर्याय, पर्याय में रहकर द्रव्य को जानती है द्रव्य में मिलकर – एकमेक होकर नहीं जानती, परन्तु पर से भिन्नपना है – इस अपेक्षा से द्रव्य व पर्याय अभिन्न हैं – ऐसा कहा है; भाई ! अपेक्षा बराबर समझना चाहिये। इसप्रकार जो द्रव्य का सत्त्व या स्वरूप है, वही पर्याय का सत्त्व या स्वरूप है – ऐसा होने पर अर्थात् द्रव्य-पर्याय की अभिन्नता होने पर द्रव्य, पर्याय में व्याप्त होता है तथा पर्याय, द्रव्य से व्याप्त हो जाती है।

ऐसा व्याप्य-व्यापकपना तत्स्वरूप में ही होता है अर्थात् अभिन्न सत्तावाले पदार्थ में ही होता है, अतत्स्वरूप में या भिन्न-भिन्न सत्तावाले पदार्थों में नहीं होता। राग व आत्मा में व्याप्य-व्यापकता नहीं है, क्योंकि दोनों भिन्न वस्तुएँ हैं; परन्तु ज्ञायकस्वभावी आत्मा और उसकी निर्मल वीतरागी परिणति में व्याप्य-व्यापकपना है, क्योंकि वे दोनों अभिन्न हैं, तत्स्वभावी हैं। द्रव्य व्यापक व राग इसका व्याप्य – ऐसा नहीं है, बल्कि द्रव्य व्यापक व उसकी निर्मल पर्याय व्याप्य – ऐसा व्याप्य-व्यापकपना है। देखो ! पण्डित जयचन्द्रजी ने कितना स्पष्ट किया है। पहले के पण्डितों ने कैसा सरस काम किया है। कहते हैं कि पर्याय व द्रव्य की सत्ता भिन्न-भिन्न नहीं है। जैसी परद्रव्य की सत्ता भिन्न है, ऐसी द्रव्य व उसकी निर्मल पर्याय की सत्ता भिन्न-भिन्न नहीं है।

वैसे तो द्रव्य की व पर्याय की दोनों की सत्ता भिन्न-भिन्न है, किन्तु यह भिन्नता द्रव्य के अन्दर की अपेक्षा से है अर्थात् एक ही द्रव्य व पर्याय के अन्दर परस्पर भिन्नता है – इसी अपेक्षा से भिन्नता समझना। परद्रव्य की अपेक्षा से तो द्रव्य व पर्याय की सत्ता अभिन्न – एक ही है। वास्तव में तो त्रिकाली ध्रुव द्रव्य की सत्ता व क्षेत्र, उसकी निर्मल पर्याय की सत्ता व क्षेत्र से भिन्न है। यह तो एक द्रव्य के ही अन्दर परस्पर द्रव्य व पर्याय की

अपेक्षा से बात हुई, किन्तु यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि पर्याय व द्रव्य का क्षेत्र एक है, क्योंकि अभिन्न सत्तावाले पदार्थ में व्याप्य-व्यापकपना होता है। अतः पर की सत्ता से अपने द्रव्य-पर्याय की सत्ता भिन्न है तथा अपने द्रव्य-पर्याय – दोनों की सत्ता अभिन्न है।

जिन पदार्थों की सत्ता भिन्न हो, उन पदार्थों में तो व्याप्य-व्यापकता होती ही नहीं है और रागादि विभाव भिन्न सत्तावाले हैं, अतः इनके साथ भी आत्मा का व्याप्य-व्यापकपना नहीं है और इसीकारण आत्मा व रागादिभावों में परस्पर कर्त्ता-कर्मपना भी नहीं है।

जहाँ व्याप्य-व्यापकभाव होता है, वहीं कर्त्ता-कर्मभाव होता है; व्याप्य-व्यापकभाव के बिना कर्त्ता-कर्मभाव नहीं होता। ऐसा जो जान लेता है, वह पुद्गल व आत्मा के बीच कर्त्ता-कर्मभाव के अभाव को भी जान लता है। कलशटीका में ऐसा कहा है कि 'जीवद्रव्य के सत्त्व से पुद्गलद्रव्य का सत्त्व भिन्न है, निश्चय से व्याप्य-व्यापकता नहीं है।' पुद्गल द्रव्य व पुद्गल के निमित्त से हुई रागादि पर्यायें सब पुद्गल हैं – ऐसा जो जानता है, वह 'विकार व आत्मा के परस्पर कर्त्ता-कर्म भाव नहीं हैं' – ऐसा भी जानता है। जहाँ ऐसा जानता है कि मैं कर्म परिणाम का कर्त्ता नहीं हूँ, वहीं यह भी जानता है कि मैं रागादि विकार का भी कर्त्ता नहीं हूँ। ऐसा जानने पर वहाँ से लक्ष्य छूटकर आत्मा पर लक्ष्य जाता है। जहाँ पर का कर्त्तापना छूटा, वहीं राग का कर्त्तापना भी छूट जाता है।

अहो ! भरतक्षेत्र में केवलज्ञानी का विरह तो हुआ, परन्तु भाग्यवश इसका (समयसार का) विरह नहीं हुआ। इतने पर भी कोई कहते हैं कि आप तो सिर्फ समयसार ही बाँचते हो, अन्य शास्त्र क्यों नहीं पढ़ते ? परन्तु भाई ! यह समयसार भरतक्षेत्र का भगवान है। अरे ! तत्त्वज्ञान के विषय की मुख्यता द्रव्यानुयोग के शास्त्रों में है। सम्यग्दर्शन के विषय का निरूपण द्रव्यानुयोग के शास्त्रों में ही मुख्यतया है; इसलिये इसको विशेष बाँचते हैं। अन्य शास्त्र भी बाँचते हैं। कौन कहता है कि अन्य शास्त्र नहीं बाँचते ? अरे, हमने तो धवल भी बाँचा है। भक्तामर पर भी प्रवचन किए हैं। चारों अनुयोग पढ़े हैं, व्यक्तिगत तो अनेकों शास्त्र पढ़े हैं, शास्त्रसभा में भी ये सब पढ़े हैं।

यहाँ तो यह कहते हैं कि 'पुद्गल व आत्मा में कर्त्ता-कर्मभाव नहीं है' – ऐसा जानने पर ही जीव ज्ञानी होता है अर्थात् आत्मा राग का ज्ञाता है, कर्त्ता नहीं। इसप्रकार आत्मा कर्त्ता-कर्मभाव से रहित होकर,

ज्ञाता-दृष्टा बनकर जगत का साक्षीभूत हो जाता है, सबको जाननेवाला साक्षी हो जाता है। स्वयं में रहकर सबको जानता है, बस ! पर में जाकर पर को नहीं जानता। ऐसा वीतराग का कहा हुआ यह वीतराग मार्ग वीतरागस्वरूप ही है।

✓भाई ! जब यह देह छूट जायेगी, तब कोई सगे-सम्बन्धी काम नहीं आयेंगे। भाई ! तेरा कोई नहीं है। एक चैतन्यस्वभावमय ज्ञानानन्द-स्वभावी आत्मा ही तू है और वही तेरा है। ग्राम, मकान, देह, रागादि विकल्प हमारे हैं – ऐसा कहा जाता है; परन्तु इससे क्या ? क्या कहने मात्र से वे तेरे हो गये ? व्यवहार से कह जाते हैं, इससे अपने होने का भ्रम नहीं पालना। ये तेरे नहीं है, तेरे कार्य भी नहीं हैं तथा तू इनका कर्त्ता भी नहीं है। तू तो नित्यानन्दस्वरूप ज्ञाता-दृष्टास्वभावी आत्मा है व ज्ञाता-दृष्टा का निर्मल परिणमन ही तेरा कर्म या कार्य है। ऐसा ही वस्तुस्वरूप है; अतः यथार्थ जानना ही ज्ञानी का कर्म है।

ऐसौ सुविवेकजाके हिरदै प्रगट भयौ···

जैसो जो दरब ताको तैसो गुन-परजाय,
ताही सौं मिलत पै मिलै न काहु आन सौं।
जीव वस्तु चेतन करम जड़ जातिभेद,
अमिल मिलाप ज्यों नितम्ब जुरै काज सौं ।।
ऐसौ सुविवेक जाके हिरदै प्रगट भयौ,
ताको भ्रम गयो ज्यों तिमिर भागै भानु सौं।
सोई जीव करम कौ करता सौ दीसै पै,
अकरता कह्यौ है सुद्धता के परमान सौं ।।

– पण्डित बनारसीदास; नाटक, समयसार
(कर्त्ता-कर्म क्रियाद्वार, छन्द ५)

पुद्गलकर्म जानतो जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभावः किं भवति किं न भवतीति चेत् —

णा वि परिणमदि णा गिण्हदि उप्पज्जदि णा परदव्वपज्जाए ।
णाणी जाणंतो वि हु पोग्गलकम्मं अणेयविहं ॥७६॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये ।
ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्मानेकविधम् ॥७६॥

यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं पुद्गलपरिणामं कर्म पुद्गलद्रव्येण स्वयमंतर्व्यापकेन भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तं गृह्णता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन्नपि हि ज्ञानी स्वयमंतर्व्यापको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यांतेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च, ततः प्राप्यं विकार्यं

अब यह प्रश्न करता है कि पुद्गलकर्म को जाननेवाले जीव का पुद्गल के साथ कर्त्ता-कर्मभाव है या नहीं ? उसका उत्तर कहते हैं :—

बहुभाँति पुद्गलकर्म सब, ज्ञानी पुरुष जाना करे ।
परद्रव्य-पर्यायों न प्रणमे, नहिं ग्रहे, नहिं ऊपजे ॥७६॥

गाथार्थ :— [ज्ञानी] ज्ञानी [अनेकविधम्] अनेक प्रकार के [पुद्गलकर्म] पुद्गलकर्म को [जानन् अपि] जानता हुआ भी [खलु] निश्चय से [परद्रव्यपर्याये] परद्रव्य की पर्याय में [न अपि परिणमति] परिणमित नहीं होता, [न गृह्णाति] उसे ग्रहण नहीं करता [न उत्पद्यते] और उसरूप उत्पन्न नहीं होता ।

टीका :— प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य — ऐसा व्याप्य लक्षणवाला पुद्गल का परिणामस्वरूप कर्म (कर्त्ता का कार्य), उसमें पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य और अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण करता हुआ, उसरूप परिणमन करता हुआ, और उसरूप उत्पन्न होता हुआ, उस पुद्गलपरिणाम को करता है । इसप्रकार पुद्गलद्रव्य से किये जानेवाले पुद्गलपरिणाम को ज्ञानी जानता हुआ भी, जैसे मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, घड़े को ग्रहण करती

निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य पुद्गलकर्म जानतोऽपि ज्ञानिनः पुद्गलेन सह न कर्तृकर्मभावः ।

है, घड़े के रूप में परिणमित होती है और घड़े के रूप में उत्पन्न होती है; उसीप्रकार ज्ञानी स्वयं बाह्यस्थित (बाहर रहनेवाले) परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिणमित नहीं होता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता। इसलिये यद्यपि ज्ञानी पुद्गलकर्म को जानता है, तथापि प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य – ऐसा जो व्याप्य लक्षणवाला परद्रव्य परिणामस्वरूप कर्म है, उसे न करनेवाले ज्ञानी का पुद्गल के साथ कर्त्ताकर्मभाव नहीं है।

भावार्थ :– जीव पुद्गलकर्म को जानता है, तथापि उसे पुद्गल के साथ कर्त्ताकर्मपना नहीं है।

सामान्यतया कर्त्ता का कर्म तीन प्रकार का कहा जाता है – निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य। कर्त्ता के द्वारा जो पहले न हो – ऐसा नवीन कुछ उत्पन्न किया जाये, वह कर्त्ता का निर्वर्त्य कर्म है। कर्त्ता के द्वारा पदार्थ में विकार – परिवर्तन करके जो कुछ किया जाये, वह कर्त्ता का विकार्य कर्म है। कर्त्ता, जो नया उत्पन्न नहीं करता तथा विकार करके भी नहीं करता, मात्र जिसे प्राप्त करता है, वह कर्त्ता का प्राप्य कर्म है।

जीव पुद्गलकर्म को नवीन उत्पन्न नहीं कर सकता; क्योंकि चेतन, जड़ को कैसे उत्पन्न कर सकता है? इसलिये पुद्गलकर्म जीव का निर्वर्त्य कर्म नहीं है। जीव, पुद्गल में विकार करके उसे पुद्गलकर्मरूप परिणमन नहीं करा सकता; क्योंकि चेतन, जड़ को कैसे परिणमित कर सकता है? इसलिये पुद्गलकर्म जीव का विकार्य कर्म भी नहीं है। परमार्थ से जीव, पुद्गल को ग्रहण नहीं कर सकता; क्योंकि अमूर्तिक-पदार्थ मूर्तिक को कैसे ग्रहण कर सकता है? इसलिये पुद्गलकर्म जीव का प्राप्य कर्म भी नहीं है। इसप्रकार पद्गलकर्म जीव का कर्म नहीं है और जीव उसका कर्त्ता नहीं है। जीव का स्वभाव ज्ञाता है; इसलिये ज्ञानरूप परिणमन करता हुआ, स्वयं पुद्गल कर्म को जानता है; इसलिये पुद्गलकर्म को जाननेवाले – ऐसे जीव का पर के साथ कर्त्ताकर्मभाव कैसे हो सकता है? नहीं ही हो सकता।

गाथा ७६ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

अब पूछते हैं कि पुद्गलकर्म को जाननेवाले जीव का पुद्गल के साथ कर्त्ता-कर्मभाव है या नहीं? इसका उत्तर कहते हैं :—

"प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य – ऐसा व्याप्यलक्षणवाला पुद्गल का परिणामस्वरूप जो कर्म (कर्त्ता का कार्य) है, उसमें पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्त-र्व्यापक होकर, आदि-मध्य और अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण करता हुआ, उसरूप परिणमन करता हुआ और उससे ही उपजता हुआ, उस पुद्गल-परिणाम को करता है।"

देखो ! शिष्य का ऐसा प्रश्न है कि पुद्गल-परिणामरूप कर्म को अथवा रागादि कर्म को जाननेवाले ज्ञानी का रागादि के साथ कर्त्ता-कर्म भाव है या नहीं ? जैसा राग होता है, जैसी देह की स्थिति होती है, ज्ञानी उसको उसीरूप से जानता है, मात्र इतना सम्बन्ध है; परन्तु आत्मा का उनके साथ कर्त्ता-कर्मपना नहीं है। पुद्गल व रागादिक का कर्त्ता-कर्मपना पुद्गल में है। जो रागादि-अवस्था होती है, उसे ज्ञानी जानता है; परन्तु उसके साथ ज्ञानी को कर्त्ता-कर्मभाव नहीं है। पुद्गल-परिणामरूप कर्म के साथ पुद्गल का कर्त्ता-कर्मपना है।

एक समय की अवस्था के तीन प्रकार हैं – (१) प्राप्य (२) विकार्य (३) निर्वर्त्य। व्याप्य लक्षणवाले रागस्वरूप कर्म में पुद्गल अन्त-र्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण करता हुआ, रागरूप परिणमन करता हुआ, और उसीरूप उत्पन्न होता हुआ पुद्गल-परिणाम को करता है। दया, दान, व्रत आदि के शुभभाव में पुद्गल व्याप्त होकर उस परिणाम को करता है। व्यवहार-रत्नत्रय के या राग के आदि में पुद्गल, मध्य में पुद्गल व अन्त में पुद्गल है। राग के आदि-मध्य-अन्त में जीव नहीं है।

प्रश्न :– एक ओर तो यह कहा है कि राग के – मिथ्यात्व के परिणाम जीव के हैं तथा यहाँ यह कहते हैं कि ये रागादि-परिणाम पुद्गल के हैं, इसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर :– भाई ! यहाँ तो जिसको ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि हुई है, उस ज्ञानी की बात है। जिस काल में राग की, शरीर की, भाषा की या संयोग की जिसप्रकार अवस्था होती है, ज्ञानी उसे उसी रीति से जानता है। उन्हें जानता हुआ ज्ञानी उन रागादि का कर्त्ता नहीं होता, तथा वे परिणाम ज्ञानी के कर्म नहीं होते। राग में पुद्गल अन्तर्व्यापक रहता है। यद्यपि राग जीव की ही पर्याय है, तथापि यहाँ तो जिसे द्रव्यबुद्धि हुई है अथवा जो ज्ञाताभाव से परिणमा है, उस ज्ञानी की अपेक्षा यह कथन है। पर्याय में जो राग है, उसके आदि-मध्य-अन्त में पुद्गल है, आत्मा नहीं है। ज्ञानी को जो स्वभावदृष्टि हुई है, उसके आदि-मध्य-अन्त में आत्मा है।

सम्यग्दर्शन पर्याय के आदि-मध्य-अन्त में ज्ञायकस्वभावी भगवान आत्मा है, तथा राग के आदि-मध्य-अन्त में पुद्गल है। दोनों वस्तुओं को अर्थात् ज्ञान व राग को भिन्न किया है। कहते हैं कि 'रागरूप जो पुद्गल-परिणाम है, उसके आदि-मध्य-अन्त में पुद्गल है तथा उसका कर्त्ता पुद्गल है।'

ज्ञानी की कर्त्ता-कर्म की स्थिति क्या है ? तथा जड़-पुद्गल की दशा क्या है ? इस सम्बन्ध में बात चल रही है। व्यवहार-रत्नत्रय का जो शुभ-राग है, उसमें पुद्गलद्रव्य अन्तर्व्यापक होकर उसको करता है, वह जीव का व्याप्य-कर्म नहीं है। प्राप्य अर्थात् जिसे कर्त्ता प्राप्त करता है, ग्रहण करता है। विकार्य अर्थात् बदलना, परिवर्तन करना। निर्वर्त्य अर्थात् उपजना – इसप्रकार तीनों एक ही कार्य हैं। शुभराग पुद्गल का प्राप्य-कर्म है, क्योंकि उसे पुद्गल ने ही प्राप्त किया है तथा पुद्गल का विकार्य-कर्म है, क्योंकि पूर्व का राग ही बदलकर शुभरागरूप हुआ है। इसीप्रकार यह शुभराग पुद्गल का ही निर्वर्त्य-कर्म है, क्योंकि शुभराग जो नया उपजता है, उसरूप में पुद्गल ही उत्पन्न हुआ है। विकार के परिणाम या शुभरागादि के परिणाम के आदि-मध्य-अन्त में पुद्गल ही व्याप्त है। आदि में आत्मा हो और मध्य या अन्त में राग होता हो – ऐसा नहीं है। आदि-मध्य-अन्त में पुद्गल ही व्याप्त होकर राग को ग्रहण करता है, भगवान आत्मा उसे ग्रहण नहीं करता। वही विकार्य के रूप में बदलता है। वही रागपने उत्पन्न होता है – इसकारण वह राग ही पुद्गल का निर्वर्त्य-कर्म है। स्वभाव पर जिसकी दृष्टि पड़ी है, उसके प्राप्य, विकार्य व निर्वर्त्य-तीनों कर्म रागरूप नहीं हैं।

प्रश्न :– यदि राग का कर्त्ता पुद्गल है तो जीव उसे उत्पन्न होने से किसप्रकार रोक सकता है ?

उत्तर :– भाई ! राग को रोकने का सवाल ही कहाँ है ? ज्ञानी को तो जो राग होता है, वह उसे मात्र जानता है – ऐसा कहा है। जो राग होता है, वह पुद्गल का प्राप्य, विकार्य व निर्वर्त्य कर्म है तथा ज्ञानी उसे ज्ञान में जानता है, बस इतनी-सी बात है। शुभराग मेरा कार्य नहीं है, किन्तु इसको जाननेवाली ज्ञान की पर्याय मेरा कार्य है – ऐसा मानता हुआ ज्ञानी साक्षीभाव से परिणमन करता है। ज्ञानी को अपने त्रिकाली शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का अनुभव हुआ है, इसकारण उस ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव से राग को जानता है। बस ! वही जानने का परिणाम ज्ञानी का कार्य है, किन्तु राग उसका कार्य नहीं है। भाई ! बात थोड़ी सूक्ष्म है। 'जैसे मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर; आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर; घड़े को

ग्रहण करती है, घड़े के रूप में परिणमित होती है और घड़े के रूप में उत्पन्न होती है। पुद्गलद्रव्य से किये जानेवाले पुद्गल-परिणाम को जानता हुआ, उसप्रकार ज्ञानी स्वयं बाह्यस्थित (बाहर में रहनेवाले) परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिणमित नहीं होता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता।'

पुद्गल का परिणाम रूप कर्म राग है, उसके आदि-मध्य-अन्त में पुद्गल व्याप्त है। वह पुद्गल से उत्पन्न हुआ, पुद्गल ही से परिणमित हुआ है तथा पुद्गल को ही प्राप्त हुआ – ऐसे पुद्गल-परिणामस्वरूप कर्म को ज्ञानी जानता हुआ – उसे स्वयं ग्रहण नहीं करता, स्वयं उसरूप परिणमित भी नहीं होता तथा स्वयं उसरूप उत्पन्न भी नहीं होता। स्व-स्वरूप को जानने पर भी जिसप्रकार का राग विद्यमान रहता है, उसको जाननेरूप परिणाम ही ज्ञानी को होता है।

जैसे मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर घड़ेरूप होती है अर्थात् घड़े रूप प्राप्य को मिट्टी ग्रहण करती है, घड़े रूप परिणमित होती है, तथा घड़े रूप से उत्पन्न होती है; उसीप्रकार ज्ञानी स्वयं बाह्यस्थित पुण्य के भावरूप परद्रव्य के परिणामों को मात्र जानता है; उन्हें ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिणमित नहीं होता, उसरूप से उत्पन्न नहीं होता। आत्मा ज्ञानस्वभावी वस्तु है, वह रागादि परद्रव्य को जानने का काम तो करता है, किन्तु उसे ग्रहण नहीं करता। देखो! व्यवहार-रत्नत्रय के शुभभाव को यहाँ बाह्यस्थित परिणाम कहा है। उसे जो अपना मानता है, वह बहिरात्मा है। यहाँ कहते हैं कि जैसे मिट्टी घड़े में व्याप्त होकर उत्पन्न होती है, उसप्रकार धर्मी राग में व्याप्त होकर रागरूप नहीं होता, राग को ग्रहण नहीं करता तथा राग को उत्पन्न नहीं करता।

राग पुद्गल का परिणाम है। देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा के विकल्प, शास्त्र पढ़ने के विकल्प, पंचमहाव्रत पालन करने के विकल्प शुभराग हैं। इन विकल्पों को पुद्गल ग्रहण करता है, पुद्गल ही तद्रूप परिणमित होता है। चैतन्यस्वरूपी भगवान आत्मा राग को जानता है, परन्तु उसे ग्रहण नहीं करता, उसरूप उत्पन्न नहीं होता। अतः आत्मा उनका कर्त्ता नहीं है। देखो, धर्मी जीवों को धर्म कैसे होता है? इसकी यह चर्चा है। 'भगवान आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप है' – ऐसी दृष्टिसहित जहाँ आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ, पश्चात् धर्मी जीव पुद्गल-परिणामस्वरूप राग में

व्याप्त नहीं होता, उसे ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिणमित नहीं होता, उसरूप से उत्पन्न नहीं होता ।

देखो, जिससमय जो राग होना होता है, वही होता है । राग ग्रहण करने की अपेक्षा पुद्गल का प्राप्य-कर्म है, वह पलटकर हुआ है, इसलिए विकार्य-कर्म है और वही राग नया उत्पन्न होने से निर्वर्त्य-कर्म कहा जाता है । पर्याय तो एक ही है, उसका कथन तीन प्रकार से किया है । उस राग के आदि-मध्य-अन्त में पुद्गल व्याप्त होकर उस राग को करता है और धर्मी स्वयं में रहकर उस राग को जानता है, किन्तु उसमें (राग में) व्याप्त होकर, उसे करता नहीं है ।

लोग निश्चय-व्यवहार के नाम पर प्रश्न खड़ा करते हैं कि अकेले उपादान से कार्य कैसे हो सकता है ? अभ्यन्तर और बाह्य – दोनों कारणों के होने पर ही कार्य होता है, जबकि ऐसा बिलकुल नहीं है । क्या राग व ज्ञान मिलकर आत्मा का धर्मरूप कार्य हो सकता है ? नहीं हो सकता । आत्मा का कार्य या धर्म का कार्य जो कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप या शुद्ध रत्नत्रयस्वरूप है, उस कार्य को आत्मा अकेला स्वयं उसमें अन्तर्व्यापक होकर, उसके आदि-मध्य-अन्त में स्वयं व्याप्त होकर करता है ।

जैसे मिट्टी घड़े को ग्रहण करती है, वैसे धर्मी राग को ग्रहण नहीं करता, रागरूप परिणमन नहीं करता, रागरूप स्वयं उत्पन्न भी नहीं होता । धर्मी उस राग को उससमय स्वयं में रहकर मात्र जानता है । वीतराग का मार्ग तो ऐसा ही है । आत्मा स्वयं वीतरागस्वरूप है, अतः आत्मा का मार्ग भी यही है । वीतरागी परिणाम के आदि-मध्य-अन्त में आत्मा स्वयं व्याप्त होकर, उस वीतरागी दशा को ग्रहण करता है, स्वयं वीतरागी दशारूप परिणमित होता है, और स्वयं उसरूप में उत्पन्न होता है । वीतरागी दशा से भिन्न राग को आत्मा न तो ग्रहण करता है, न उसरूप परिणमित होता है और न उसरूप उत्पन्न ही होता है । आत्मा व्यवहार-रत्नत्रय के परिणाम को नहीं करता, बल्कि व्यवहार-रत्नत्रय का जो ज्ञान होता है; उस ज्ञान में ज्ञानी व्याप्त होता है । ज्ञानी का प्राप्य, विकार्य व निर्वर्त्य कर्म ज्ञान है, राग नहीं ।

प्रश्न :– यह बात तो आपने निश्चय से कही, किन्तु व्यवहार से क्या है ? यह भी बताओ न ?

उत्तर :– भाई ! व्यवहार, निश्चय का विरोधी नहीं है । निश्चय के साथ जो रागरूप व्यवहार होता है, उसका ज्ञान कराया है ।

प्रमाण के विषय में जहाँ व्यवहार का ज्ञान कराया है, वहाँ निश्चय को बात को दृष्टि में रखकर व्यवहार का ज्ञान कराया है। आत्मा राग के परिणाम को न तो करता है, न उसमें व्याप्त होता है तथा न उसे उत्पन्न करता है; किन्तु उस राग-परिणाम को जाननेरूप अपने ज्ञान-परिणाम को करता हुआ, उसी को ग्रहण करता है एवं उसमें ही व्याप्त होता है।

यह तो सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा प्रसिद्ध मार्ग है। भगवान आत्मा स्वयं ही सर्वज्ञस्वरूप है। अहाहा! सर्वज्ञ अर्थात् 'ज्ञ' स्वभाव, 'ज्ञ' शक्ति। 'ज्ञ' जिसका स्वरूप है – ऐसा भगवान आत्मा जिसकी दृष्टि में आया, वह धर्मी 'ज्ञ' स्वभाव में से उत्पन्न हुए स्व-परप्रकाशक ज्ञान-परिणाम के आदि-मध्य-अन्त में स्वयं व्याप्त होता है। राग को जाननेवाला आत्मा का ज्ञान-परिणाम राग के कारण नहीं होता, राग को जाननेवाले ज्ञान-परिणाम के आदि-मध्य-अन्त में आत्मा स्वयं व्याप्त होता है।

"इसलिये यद्यपि ज्ञानी पुद्गल कर्म को जानता है, तथापि प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य – ऐसा जो व्याप्य लक्षणवाला परद्रव्य परिणाम-स्वरूप कर्म है, उसे न करनेवाले ज्ञानी का पुद्गल के साथ कर्त्ता-कर्म भाव नहीं है।"

ज्ञान राग को जानता है, इसलिए ज्ञान कर्त्ता व राग कर्म – ऐसा नहीं है; तथा राग कर्त्ता व जाननेवाला ज्ञान-परिणाम इसका कर्म – ऐसा भी नहीं है। भाई! वस्तुस्थिति को प्रसिद्ध करनेवाली ये ७५ से ७९ तक की पाँच गाथायें अलौकिक हैं। अहाहा! त्रिकाली ध्रुव द्रव्य पर दृष्टि पड़ने पर, एवं राग व पर्याय की दृष्टि छूटने पर, भगवान आत्मा स्वयं प्रसिद्ध हो जाता है। अहाहा! मैं तो जानने-देखनेवाला ज्ञायक आत्मा हूँ। मैं राग का कर्त्ता व राग मेरा कर्म – ऐसे कर्त्ता-कर्म भावस्वरूप मैं नहीं हूँ।

ऐसी तत्त्व की बातें – वस्तुस्वरूप के रहस्यों का उद्घाटन करनेवाली बातें, बड़े भाग्य से ही सुनने को मिलती हैं। सुन भी ले तो समझना कठिन पड़ता है, व्यवहार के रसिकजनों को तो यह वीतरागी तत्त्व की सूक्ष्म बात पल्ले ही नहीं पड़ती; परन्तु भाई! व्यवहार अर्थात् निमित्त, राग, दुःख, आकुलता और अस्थिरता – ये सब व्यवहार के पर्यायवाची नाम हैं। शाश्वत स्थिर, सुखस्वरूप, निराकुल आत्मा; अस्थिरता एवं आकुलतामयी राग के परिणाम को जानने का काम करता है। उसे जाननेवाले ज्ञान के परिणाम के आदि-मध्य-अन्त में आत्मा स्वयं व्याप्त रहता है अर्थात् राग के कारण राग का ज्ञान नहीं होता; तथा ज्ञान राग में पसरकर राग को जाने – ऐसा

भी नहीं है। व्यवहार या शुभराग का परिणाम आकुलतामय है, दुःखरूप है, व्यवहार-रत्नत्रय का राग भी दुःखरूप है।

छहढाला में कहा है :–

'यह राग आग दहे सदा, तातें समामृत सेइये।'

राग दुःखस्वरूप है, उसे निश्चय का साधन कहना उपचार है, कथन-मात्र है, वस्तुस्वरूप नहीं है – ऐसा सुनकर कितने ही कहने लगते हैं कि यह तो एकान्त हो गया। भाई! जब भगवान आत्मा अपने स्वभाव में जाता है, तब सम्यक्-एकान्त होता है और उसी समय जब राग का परज्ञेयरूप से ज्ञात होता है, तब सम्यक्-अनेकान्त कहा जाता है।

राग व चैतन्यस्वभाव – दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं; ऐसे भेदज्ञान के अभाव में, हे भाई! तू अनादिकाल से चौरासी लाख योनियों में भटका है, अब तो भेदज्ञान कर! यहाँ कहते हैं कि व्यवहार-रत्नत्रय का राग क्षणिक है, चैतन्यस्वभाव से विरुद्ध है, विभाव है। इस विभाव के आदि-मध्य-अन्त में पुद्गल व्यापता है, आत्मा नहीं। देखो! यद्यपि शुभराग चैतन्य की – जीव की ही विभाव पर्याय है, पर की नहीं है; परन्तु यह राग-पर्याय त्रिकाली चैतन्यस्वभाव की जाति की नहीं है, इसलिए स्वभाव की दृष्टि से इसे अचेतन मानकर पुद्गल-परिणाम कहा है।

प्रश्न :– शास्त्र में यह भी तो आता है कि आत्मा निश्चय-व्यवहार दोनों मोक्षमार्ग साधता है, इसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर :– हाँ, जिनवाणी में तो अनेक अपेक्षाओं से अनेक प्रकार के कथन आते हैं। जहाँ जो अपेक्षा हो, उसका उसी अपेक्षा से अर्थ करना चाहिये। यहाँ वस्तुस्वरूप का निश्चयदृष्टि से यथार्थ ज्ञान कराने का प्रयोजन है। निश्चय-मोक्षमार्ग ही आत्मा का कार्य है, उसी में आत्मा व्याप्त होता है। राग में आत्मा व्याप्त नहीं होता, परन्तु उस निश्चय-मोक्षमार्ग की अवस्था में जिस जाति का शुभराग या व्यवहार सहचर होता है, उसे व्यवहार-मोक्षमार्ग कहा जाता है; तथा निश्चय का आरोप व्यवहार पर करके व्यवहार को साधक कहा जाता है। वास्तव में तो राग से भिन्न होने पर प्रज्ञा का अनुभव ही साधक है। स्वरूप का साधक तो अनुभव ही है। मोक्ष अधिकार में प्रज्ञा-छैनी को साधक कहा है। त्रिकाली शुद्धद्रव्य अनुभव का विषय है और उसका अनुभव (प्रज्ञा-छैनी) ही निश्चय से स्वरूप का साधक है। उसी के साथ वर्तते हुए शुभराग को सहचर देखकर, उस पर निश्चय का आरोप करके उपचार से शुभरागरूप व्यवहार को

साधक कह दिया जाता है । जो इसी को यथार्थ मान ले तो उसकी दृष्टि विपरीत है।

कितने ही जीव पाँच महाव्रत को मोक्षमार्ग का साधन मानते हैं, इनसे निश्चय प्रगट होता है – ऐसा मानते हैं; परन्तु किसे और किस भूमिका में साधन है ? इसका कुछ विचार नहीं है । जिसको अकेले व्यवहार की क्रिया है और अनुभव का ठिकाना ही नहीं है; उसको तो मिथ्यात्व भाव है, मूढ़ता का भाव है । जो मिथ्यात्व में पड़ा है, उसे व्यवहार कैसा ? भाई ! राग से भिन्न होकर, भेदज्ञान करके, 'आत्मा निर्मलानन्दस्वरूप प्रभु है' – ऐसा जिसने अनुभव किया है – उसे निश्चय हुआ है तथा उसके सहचारी राग पर निश्चय का आरोप करके उसे उपचार से परम्परा साधन कहा है । जो वास्तव में तो साधन नहीं है; किन्तु निश्चय का निमित्त व सहकारी देखकर जिसे साधन कहा जाय, उसका नाम व्यवहार है । भाई! प्रज्ञा छैनी कहो या स्वानुभव कहो, यह एक ही निश्चय-साधन है । ये तो अन्तरङ्ग अनुभव की बातें हैं । यदि कोई पण्डिताई के अभिमान से दग्ध होकर सत्य का अपलाप करे तो करे, तथापि सत्य तो सत्य ही रहेगा ।

वास्तविक निश्चय साधन प्रगट हुए बिना व्यवहार पर साधनपने का आरोप भी नहीं आता । व्यवहार साधन तो है ही नहीं, निश्चय के बिना उस पर साधन का आरोप भी नहीं किया जा सकता ।

अरे ! वर्तमान में सर्वज्ञ भगवान का विरह है, इसलिए लोगों ने सत्य मार्ग को अस्त-व्यस्त-ध्वस्त कर दिया है; परन्तु भाई ! ऐसा मत करो ! ऐसा करने से दुःखी होना पड़ेगा । सम्यग्दर्शन बिना, स्वानुभव बिना राग को साधन मानने से तुझे दुःख होगा, तेरा अहित होगा । आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य की गाथाओं का दोहन किया है, मूल गाथा में जो गम्भीर भाव भरा था, उसे टीका द्वारा दोहन करके बाहर निकाला है । उसी भाव को यहाँ कहते हैं कि हे भाई ! जब शुभभाव ही साधन नहीं है तो शरीर तो पृथक् परद्रव्य है – वह धर्म का साधन कैसे हो सकता है ?

प्रश्न :– 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' अर्थात् शरीर ही धर्म का प्रथम साधन है – ऐसा जो कथन आता है, उसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर :– यह तो व्यवहार का कथन है । जो उसे ही यथार्थ मान लेते हैं, वे तो उपदेश सुनने के भी पात्र नहीं हैं ।

व्यवहार से निश्चय होता है – इसका अर्थ यह है कि व्यवहार से निश्चय का ज्ञान होता है । (जैसे धूम से अग्नि का ज्ञान होता है, धूम

अग्नि को उत्पन्न नहीं करता; तथापि धूम को साधन कहा जाता है।) जिस तरह धूम अग्नि को जानने का साधन है। उसीप्रकार व्यवहार, निश्चय के अस्तित्व का ज्ञायक साधन है, किन्तु व्यवहार से निश्चय प्राप्त नहीं होता, उत्पन्न नहीं होता। व्यवहार के लक्ष्य से निश्चय में पहुँचा नहीं जा सकता। व्यवहार, निश्चय को बताता है – ऐसा आठवीं गाथा में भी आया है। भेद, अभेद का ज्ञान कराता है; किन्तु भेद के लक्ष्य से अभद में जाया नहीं जाता। व्यवहार, निश्चय को बताता है अथवा व्यवहार का उपदेश करनेवाला श्रोताओं को निश्चय में ले जाना चाहता है, तथा श्रोता भी जब भेद से लक्ष्य हटाकर अन्दर में अभेद, अखण्ड, एक आत्मा का लक्ष्य करता है; तब उसे वह उपदेशादि का व्यवहार साधन है – ऐसा उपचार से आरोप करके कहा जाता है।

यहाँ कहते हैं कि धर्मी जीव पुद्गलकर्म को अर्थात् राग के भाव को जानने का कार्य स्वतन्त्ररूप से करता है। यद्यपि आत्मा राग को जानने का कार्य करता है; तथापि प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यरूप से व्याप्य लक्षणवाले परद्रव्यस्वरूप कर्म को नहीं करते हुए ज्ञानी का पुद्गल के साथ कर्त्ता-कर्मभाव नहीं है। राग को जानते हुए राग, कर्म व आत्मा, कर्त्ता अथवा राग, कर्त्ता व जानने का परिणाम, कर्म – ऐसा सम्बन्ध ज्ञानी के नहीं है। भाई! यह बात ही परम सत्य है तथा इसके सिवा इस सम्बन्ध में शेष सब कथन शत-प्रतिशत असत्य हैं। इसमें किन्तु-परन्तु, ननु-नच की कोई गुंजाइश नहीं है। वस्तु की स्थिति ही ऐसी है। ज्ञानी राग को जानता है, तथापि राग के साथ ज्ञानी का कर्त्ता-कर्म भाव नहीं है।

गाथा ७६ के भावार्थ पर प्रवचन

"जीव पुद्गल-कर्म को जानता है, तथापि उसे पुद्गल के साथ कर्त्ता-कर्मपना नहीं है। सामान्यतया कर्त्ता का कर्म तीन प्रकार का कहा जाता है – निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य। कर्त्ता के द्वारा जो पहले न हो – ऐसा कुछ नवीन उत्पन्न किया जाये, वह कर्त्ता का निर्वर्त्य-कर्म है। पदार्थ में परिवर्तन करके जो कुछ किया जाय, वह कर्त्ता का विकार्य-कर्म है तथा कर्त्ता जिसे मात्र प्राप्त करता है, वह कर्त्ता का प्राप्य-कर्म है।"

यहाँ भावार्थ में पहले निर्वर्त्य कर्म कहा, जबकि टीका में पहले प्राप्य-कर्म लिया है। यह मात्र कथन करने की अपनी-अपनी शैली है, अभिप्राय में कोई अन्तर नहीं है। जो राग होता है, वह पुद्गल का प्राप्य-कर्म है और

उसी समय उस राग को जाननेवाला जो ज्ञान-परिणाम होता है, वह आत्मा का प्राप्य-कर्म है। पूर्व की दशा पलटकर जो राग होता है, वह पुद्गल का विकार्य-कर्म है तथा आत्मा का जानने का परिणाम जो पहले अन्यरूप था, वह पलटकर उस राग को जाननेरूप हुआ, अतः वह आत्मा का विकार्य-कर्म है। जो राग नवीन उत्पन्न हुआ, वह पुद्गल का निर्वर्त्य-कर्म है तथा उस राग को जाननेवाला जो आत्मा का नवीन ज्ञान-परिणाम हुआ, वह आत्मा का निर्वर्त्य-कर्म है।

राग के भाव को यहाँ पुद्गल का प्राप्य-कर्म कहा है, इसका अर्थ यह नहीं है कि जड़कर्मरूप निमित्त से रागरूप कार्य होता है। अरे भाई ! पुद्गल-कर्म में विकार का निमित्त है। ये विकार और निमित्त – दोनों ही परवस्तु हैं – इस कारण विकार को पर में शामिल किया है। भाई ! जो यह विकार उत्पन्न होता है, वह वस्तु के स्वभाव में नहीं है; इसीकारण विभाव को पर में शामिल करके, निमित्त की मुख्यता से राग को पुद्गल का कर्म कहा है, तथा त्रिकाली ध्रुव स्वभाव को स्वयं का कहा है। इसप्रकार स्वभाव व विभाव – दोनों को पृथक् किया है।

अब कहते हैं कि 'जीव पुद्गल-कर्म को नवीन उत्पन्न नहीं कर सकता; क्योंकि चेतन, जड़ को कैसे उत्पन्न कर सकता है। यहाँ कहने में केवल पुद्गल-कर्म कहा है, परन्तु उसमें राग भी सम्मिलित हो जाता है। पुद्गल के कार्य को अर्थात् राग को जीव उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि चेतन जड़ को कैसे उत्पन्न कर सकता है। अहाहा ! शुद्ध चैतन्य का पिण्ड प्रभु आत्मा के पुद्गल-परिणामरूप अचेतन राग को कैसे उत्पन्न कर सकता है। अरे ! लोगों का अभ्यास नहीं है, इसलिए समझने में कठिन पड़ता है।

कितने ही लोग तो व्यवहार की रुचि में ही मग्न हैं। पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति और तेरह प्रकार का चारित्र पालते हैं; घर-परिवार छोड़ दिया है, अतः ऐसा मानते हैं कि हमने बहुत बड़ा त्याग किया है; परन्तु भाई ! वास्तव में तूने क्या छोड़ा है ? यदि राग की एकता नहीं छोड़ी तो तूने कुछ भी नहीं छोड़ा। पर को छोड़ना तो असद्भूतव्यवहारनय का कथन है और वह भी जिसकी राग की एकता छूट गई है, उसने पर को छोड़ा – ऐसा असद्भूतव्यवहारनय से कहा जाता है। वास्तव में तो आत्मा में पर का ग्रहण-त्याग है ही नहीं। आत्मा में 'त्याग-उपादानशून्यत्व' नाम की एक शक्ति है, जिसके कारण आत्मा पर के ग्रहण-त्याग से शून्य है। रजकणों को ग्रहण करना या छोड़ना, आत्मा के स्वभाव में ही नहीं है।

जब राग की एकता टूटती है, स्वरूप के लक्ष्य से राग से भिन्नता होती है; तब 'राग छोड़ा' – ऐसा कहा जाता है। यह भी व्यवहार का ही कथन है तथा राग के निमित्तों को छोड़ना तो असद्भूतव्यवहार का कथन है। गाथा ३४ की टीका में आता है कि आत्मा को परभाव के त्याग का कर्त्तापना कहना नाममात्र है। परमार्थ से आत्मा राग के त्याग का कर्त्ता भी नहीं है। आत्मा में राग है ही कहाँ जो आत्मा राग को छोड़े। राग तो पुद्गल का परिणाम है। जब आत्मा में ज्ञाता-दृष्टा का परिणाम प्रगट होता है, तब राग उत्पन्न ही नहीं होता और तब ही व्यवहारनय से यह कहा जाता है कि 'राग को छोड़ो' – ऐसी स्थिति में पर को ग्रहण करने या छोड़ने का प्रश्न ही कहाँ रहा ?

मैं अमुक-अमुक इतनी भक्ष्य वस्तुएँ ग्रहण करता हूँ, अन्य अमुक अभक्ष्य वस्तुएँ ग्रहण नहीं करता; अमुक वस्त्र-पात्र ग्रहण करता हूँ, अमुक नहीं करता; नमक-दूध-दही-घी इत्यादि नहीं लेता हूँ या लेता हूँ – इत्यादि परवस्तुओं का ग्रहण-त्याग आत्मा में नहीं है। पर के लक्ष्य से जो तत्सम्बन्धी राग होता था, वह स्वभाव के लक्ष्य से छूट गया; तब अमुक वस्तु का त्याग किया – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। भाई ! कथन में तो इससे अधिक और क्या आयेगा ? कथन में तो ऐसा ही आता है कि व्रत पालना, अतिचार टालना आदि; परन्तु ये सब व्यवहारनय के कथन हैं – ऐसा समझना चाहिए।

जीव, पुद्गल-कर्म को नया उत्पन्न नहीं कर सकता। आत्मा ज्ञान-स्वभावी प्रभु है। यह राग को उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि चेतन, जड़ को कैसे उत्पन्न कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता। छठवीं गाथा में आता है कि आत्मा न प्रमत्त है, न अप्रमत्त है; क्योंकि वह शुभाशुभभाव-रूप नहीं होता। शुभाशुभभाव जड़ हैं, अचेतन हैं और भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्त्ति है। यदि आत्मा शुभाशुभभावरूप हो तो जड़ हो जाय, परन्तु वह ज्ञायकभाव से जड़भावरूप कभी नहीं होता। व्यवहार-रत्नत्रय का भाव अचेतन है – उसे आत्मा उत्पन्न नहीं कर सकता।

व्यवहार-रत्नत्रय का भाव चैतन्य से विरुद्ध होने से अचेतन है, वह चैतन्यभाव का साधन कैसे हो सकता है, अर्थात् नहीं हो सकता। वस्तु से विरुद्धभाव वस्तु का साधन नहीं होता। निश्चय-रत्नत्रय के साथ इस जाति के विकल्प की मर्यादा वर्तती है, इसलिए निमित्त व सहचर देखकर उसका आरोप करके साधन कहा है। वस्तुतः है तो

बन्ध का कारण – दुःखरूपभाव, परन्तु सहचर देखकर आरोप से व्यवहार-रत्नत्रय कहा गया है।

जैसे एक मन की गुड़ की पारी (ढेली) को बारदाने (बोरी) सहित तोला जाता है और वह बारदाना भी गुड़ के भाव बिकता है, किन्तु बारदाना (बोरी) तो गुड़ नहीं है। उसीप्रकार निश्चय रत्नत्रय के साथ जो राग होता है, उसे व्यवहार-रत्नत्रय कहा जाता है; किन्तु वह सच्चा रत्नत्रय नहीं है। भाई ! वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसा ही यथार्थ निर्णय करना पड़ेगा। यहाँ यह कहते हैं कि 'पुद्गल-कर्म जीव का निर्वर्त्य-कर्म नहीं है, अर्थात् राग जीव का उत्पन्न किया गया कार्य नहीं है।

अब यह कहते हैं कि "जीव पुद्गल में विकार करके यानि परिवर्तन करके – पलटकर उसे पुद्गल-कर्मरूप से परिणमित नहीं करा सकता; क्योंकि चेतन, जड़ को कैसे परिणमा सकता है? इसलिए पुद्गल-कर्म, जीव का विकार्य-कर्म भी नहीं है। परमार्थ से जीव, पुद्गल को ग्रहण नहीं कर सकता; क्योंकि अमूर्तिक पदार्थ मूर्तिक को कैसे ग्रहण कर सकता है? इसलिए पुद्गल-कर्म जीव का प्राप्य-कर्म भी नहीं है।"

यहाँ पुद्गल-कर्म की बात है, उसमें राग भी आ जाता है। पहले निर्वर्त्य-कर्म की बात कही, तत्पश्चात् विकार्य-कर्म तथा अन्त में प्राप्य-कर्म की बात कही है।

इसप्रकार पुद्गल-कर्म जीव का कर्म और जीव उसका कर्त्ता नहीं है। जीव का ज्ञाता स्वभाव होने से, वह ज्ञानरूप से परिणमन करता हुआ, स्वयं पुद्गल-कर्म को जानता है। यदि ज्ञाता विकास करता है, विकसित होता है तो अपने ज्ञानभाव से परिणमित या विकसित होता है। ज्ञान-स्वरूपी आत्मा रागरूप कैसे हो सकता है? वह स्वयं ज्ञाता होने से ज्ञानरूप से परिणमन करता हुआ, पुद्गल-कर्म को जानता है; जो राग की क्रिया होती है, उसे स्वयं में रहकर स्वयं से जानता है। अतः उसे जानता है – यह कहना व्यवहार हुआ; निश्चय से तो स्वयं को ही जानता है, अनुभवता है। स्व-पर प्रकाशक स्वभाव होने से पर – पुद्गल ज्ञान में ज्ञेयरूप से जाने जाते हैं; इसलिए पुद्गल को जाननेवाले जीव को पर के साथ कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं हो सकता।

(भाई ! यह भव अनन्त भवों का अभाव करने के लिए मिला है। जिसे जन्म-मरण से छूटना है, उसको अपने हित की यह बात समझना ही पड़ेगी। इसप्रकार यह ७६वीं गाथा पूर्ण हुई।)

—०—

स्वपरिणामं जानतो जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभावः किं भवति किं न भवतीति चेत् –

णा वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए ।
णाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अणेयविहं ॥७७॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये ।
ज्ञानी जानन्नपि खलु स्वकपरिणाममनेकविधम् ॥७७॥

यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणमात्मपरिणामं कर्म आत्मना स्वयमंतर्व्यापकेन भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तं गृह्णता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन्नपि हि ज्ञानी स्वयमंतर्व्यापको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यांतेषु

अब प्रश्न करता है कि अपने परिणाम को जाननेवाले जीव का पुद्गल के साथ कर्त्ता-कर्मभाव है या नहीं ? उसका उत्तर कहते हैं :–

बहुभाँति निज परिणाम सब, ज्ञानी पुरुष जाना करे ।
परद्रव्यपर्यायों न परिणमें, नहिं ग्रहे नहिं ऊपजे ॥७७॥

गाथार्थ :– [ज्ञानी] ज्ञानी [अनेकविधम्] अनेक प्रकार के [स्वकपरिणामम्] अपने परिणाम को [जानन् अपि] जानता हुआ भी [खलु] निश्चय से [परद्रव्यपर्याये] परद्रव्य की पर्याय में [न अपि परिणमति] परिणमित नहीं होता, [न गृह्णाति] उसे ग्रहण नहीं करता और [न उत्पद्यते] उसरूप उत्पन्न भी नहीं होता ।

टीका :– प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य – ऐसा व्याप्य लक्षणवाला आत्मा का परिणामस्वरूप जो कर्म (कर्त्ता का कार्य) उसमें आत्मा स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य और अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण करता हुआ, उसरूप परिणमन करता हुआ और उसरूप उत्पन्न होता हुआ, उस आत्मपरिणाम को करता है । इसप्रकार आत्मा के द्वारा किये जानेवाले आत्मपरिणाम को ज्ञानी जानता हुआ भी, जैसे मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य और अन्त में व्याप्त होकर, घड़े को ग्रहण करती है, घड़े के रूप में परिणमित होती है और घड़े के रूप में उत्पन्न होती है; उसीप्रकार ज्ञानी स्वयं बाह्यस्थित – ऐसे परद्रव्य के

व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च, ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य स्वपरिणामं जानतोऽपि ज्ञानिनः पुद्गलेन सह न कर्तृकर्मभावः ।

परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिणमित नहीं होता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता । इसलिए यद्यपि ज्ञानी अपने परिणाम को जानता है; तथापि प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य – ऐसा जो व्याप्य लक्षणवाला परद्रव्य के परिणाम-स्वरूप कर्म है, उसे न करनेवाले – ऐसे उस ज्ञानी का पुद्गल के साथ कर्त्ता-कर्मभाव नहीं है ।

भावार्थ :– जैसा ७६वीं गाथा में कहा है, तदनुसार यहाँ भी जान लेना । वहाँ 'पुद्गल-कर्म को जानता हुआ ज्ञानी' – ऐसा कहा था, उसके स्थान पर यहाँ 'अपने परिणाम जानता हुआ ज्ञानी' – ऐसा कहा है, इतना मात्र अन्तर है ।

गाथा ७७ की उत्थानिका एवं गाथा पर प्रवचन

गाथा ७६ में यह स्पष्टीकरण किया गया है कि राग को जाननेवाले जीव का, राग के साथ कर्त्ता-कर्मभाव नहीं है । यहाँ इस गाथा में यह प्रश्न है कि अपने परिणाम को जाननेवाले जीव का, राग के साथ एवं पुद्गल के साथ कर्त्ता-कर्मभाव है या नहीं ? आत्मा अपने परिणाम को जानने का कार्य तो करता है, परन्तु साथ में पर का कार्य भी करता है या नहीं ? यह विचार करना है ।

लोक में कहावत है न ? 'जो एक गाय का गोपाल, वह पाँच गाय का गोपाल' – एक गाय के साथ दूसरी गाय चराने के लिए उसे दूसरी लाठी थोड़े ही लेनी पड़ती है । इसी तरह आत्मा अपने परिणाम को जानने का कार्य तो करता ही है, साथ में पर या राग का कार्य भी करता है या नहीं ? उसका राग के साथ कर्त्ता-कर्मसम्बन्ध है या नहीं ?

शिष्य के उपरोक्त प्रश्न का उत्तर इस गाथा ७७ में कहा गया है । देखो ! यह वस्तुस्थिति का वर्णन है । धर्मी कैसा होता है और अज्ञानी कैसा होता है ? इसकी यहाँ चर्चा है ।

गाथा ७७ की टीका एवं भावार्थ पर प्रवचन

धर्मी को शुद्ध चैतन्य आत्मा की दृष्टि होती है, उसके ज्ञान में स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य होने से वह ज्ञानभाव से परिणमन करता हुआ स्व-पर को यथार्थ जानता है । टीका में कहते हैं :–

"प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य – ऐसा व्याप्य लक्षणवाला आत्मा के परिणामस्वरूप जो कर्म (कर्त्ता का कार्य) है, उसमें आत्मा स्वयं अन्तर्व्यापक होकर आदि-मध्य व अन्त में व्याप्त होकर, उसको ग्रहण करता हुआ, उसरूप परिणमित होता हुआ और उसरूप उत्पन्न होता हुआ, आत्म-परिणाम को करता है।"

ज्ञानी को ज्ञान का जो परिणाम हुआ, उस काल में वही परिणाम होना था – ऐसा निश्चित है। आत्मा का जाननेवाला, देखनेवाला, श्रद्धान करनेवाला जो परिणाम है, वह आत्मा का प्राप्य-कर्म है, क्योंकि आत्मा स्वयं उसमें पहुँचकर उसरूप होता है और उस काल में वही परिणाम होना था – जो हुआ है; अतः उसे तत्काल का ध्रुव भी कहते हैं। तथा आत्मा के इसी परिणाम को विकार्य-कर्म कहते हैं, क्योंकि वह पलटकर हुआ है और वही पर्याय या परिणाम नवीन उत्पन्न होने की अपेक्षा आत्मा का निर्वर्त्य-कर्म कहा जाता है – ऐसे व्याप्य लक्षणवाले (ज्ञान-श्रद्धानरूप कर्म) में आत्मा स्वयं अन्तर्व्यापक होकर उस परिणाम को करता है।

आत्मद्रव्य की निर्मल-पर्याय आत्मा का व्याप्य लक्षणवाला कार्य है। तत्समय यही कार्य होना है – ऐसा जो आत्मा का परिणामस्वरूप कर्म अथवा ज्ञाता-दृष्टा का परिणामस्वरूप (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिणामस्वरूप) कर्म है, उसमें आत्मा स्वयं अन्तर्व्यापक होकर आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होता है। देखो! दृष्टिवन्त को ज्ञाता-दृष्टा का जो परिणाम हुआ, उसके आदि में आत्मा है, मध्य में आत्मा है और अन्त में भी आत्मा है। वह राग को जानता है, इसलिए उसके आदि-मध्य व अन्त में राग हो – ऐसा नहीं है। राग का ज्ञान करने में आत्मा को राग की अपेक्षा नहीं है; अर्थात् राग हो, तभी राग का ज्ञान हो – ऐसा कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं है। तथा अपने आत्म-परिणाम को ग्रहण करते हुए – जानते हुए, आत्मा का राग के साथ कर्त्ता-कर्मपना भी नहीं है, किन्तु आत्मा स्वयं अन्तर्व्यापक होकर जानने के परिणाम को करता है। संस्कृत की टीका में 'स्वयं' शब्द पड़ा है। आत्मा स्वयं अपने आत्म-परिणाम को करता है।

प्रश्न :– आत्मा तो कुछ करता नहीं है न?

उत्तर :– हाँ, नहीं करता; किन्तु वह बात इससमय यहाँ नहीं लेना। इस प्रकरण में तो आत्मा को पर से व राग से भिन्न तथा स्व से (निर्मल पर्याय से) अभिन्न सिद्ध करना है। अतः द्रव्य व उसकी निर्मल पर्याय को यहाँ अभेद बताया है। कहा है न कि आत्मा स्वयं अन्तर्व्यापक

होकर अपने आत्म-परिणाम को करता है। अहा ! जो निर्मल पर्याय हुई, वह आत्मा का कार्य है। अपना ज्ञाता-दृष्टारूप जो निर्मल-परिणाम हुआ, उसके आदि-मध्य व अन्त में आत्मा स्वयं व्याप्त होता है। उस निर्मल-परिणाम को आत्मा स्वयं करता है, यहाँ तो यह सिद्ध करना है। स्वभाव के आश्रय से जो निर्मल पर्याय हुई, उस परिणाम को ग्रहण करता हुआ अथवा प्राप्त करता हुआ और उसरूप परिणमन करता हुआ, तथा उसरूप उत्पन्न होता हुआ स्वयं आत्मा; उस परिणाम को करता है।

यह वात वहुत ऊँची है, परन्तु मूल वात है। जिसका लक्ष्य त्रिकाली शुद्धद्रव्य पर है – उसको जो परिणाम हुआ, उस परिणाम के आदि-मध्य व अन्त में आत्मा है। उस परिणाम को आत्मा ग्रहण करता है। जिसको धर्म की प्राप्ति हुई है, उसको शुभभाव आता है; परन्तु आत्मा उसको मात्र जानता है, उस जानने में भी शुभभाव का हेतुत्व नहीं है, वल्कि आत्मा अपने स्व-परप्रकाशक ज्ञान-परिणाम के आदि में स्वयं ही है। पर को जानने के लिए पर की अपेक्षा नहीं है।

प्रश्न :– क्या जिनवाणी को सुनना शुभभाव नहीं है ?

उत्तर :– हाँ, शुभभाव है, अशुभ से वचने के लिए ज्ञानी को ऐसा शुभभाव भी आता है, किन्तु यहाँ तो यह कह रहे हैं कि शुभभाव के काल में भी आत्मा (ज्ञानी) स्व-परप्रकाशक रूप से – ज्ञानभाव से परिणमन करता हुआ उस ज्ञान-परिणाम का कर्त्ता है, राग या शुभभाव का कर्त्ता नहीं है। शुभभाव या राग को जानने का जो परिणाम हुआ है, आत्मा उस भाव का कर्त्ता है। यह वस्तुस्थिति है।

भाई ! जवतक ऐसी वस्तुस्थिति का निर्णय नहीं करे, तवतक धर्म का प्रारम्भ कैसे हो ? आत्मा स्वयं श्रद्धा-ज्ञान-रमणता रूप आत्म-परिणामों को ग्रहण करता हुआ, तद्रूप परिणमन करता हुआ तथा तद्रूप उत्पन्न होता हुआ, अपने परिणामों को करता है। वहाँ ग्रहण करना आत्मा का प्राप्य-कर्म है, परिणमन करना विकार्य-कर्म है तथा उपजना निर्वर्त्य-कर्म है।

यहाँ तो पर से भिन्न करने की वात है। यहाँ यह वात सिद्ध नहीं करना है कि पर्याय, द्रव्य से भिन्न है और पर्याय की कर्त्ता पर्याय है। वास्तव में वात तो यह ही सत्य है कि पर्याय ही पर्याय की कर्त्ता है, द्रव्य पर्याय का कर्त्ता नहीं है; परन्तु यहाँ तो यह सिद्ध करने का प्रयोजन है कि आत्मा पररूप से परिणमन नहीं करता, स्वरूप से ही परिणमन करता है।

स्वरूप से परिणमन करनेवाले आत्मा को अपने परिणमन का कर्त्ता कहा है। भाई! यह स्वभावदृष्टि करने की बात है। अशुभ से बचने के लिए भले ही शुभभाव हो; शुभ को छोड़कर अशुभ में चले जाने के लिए यह कथन नहीं हैं, बल्कि शुभ की रुचि छोड़कर स्वभाव की रुचि करने की यह बात चल रही है। जब सर्वथा शुद्धोपयोग हो जाता है, तब तो शुभ छूट ही जाता है। शुभोपयोग की दशा धर्म की दशा नहीं है। जो ज्ञाता-दृष्टा रूप परिणाम हैं, वह धर्म की दशा है और उसके आदि-मध्य-अन्त में आत्मा है। आत्मा कर्त्ता होकर जानने का परिणाम करता है, उसीरूप परिणमन करता है, उसीरूप उत्पन्न होता है।

अब कहते हैं कि "इसप्रकार आत्मा के द्वारा किये जानेवाले आत्म-परिणाम को ज्ञानी जानता है, तथा जैसे मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर आदि-मध्य व अन्त में व्याप्त होकर घड़े को ग्रहण करती है, घड़े के रूप में परिणमित होती है और घड़े के रूप में उत्पन्न होती है। उसप्रकार ज्ञानी स्वयं वाह्यस्थित – ऐसे परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर उसे ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिणमित नहीं होता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता।"

देखो! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व शान्ति का जो परिणमित हुआ – उसको ग्रहण करता हुआ, उसरूप परिणमित होता हुआ तथा उसी रूप उत्पन्न होता हुआ, ज्ञानी अपने परिणाम को करता है; किन्तु ज्ञानी व्यवहार के व राग के परिणाम को नहीं करता। अपने परिणाम को जाननेवाले ज्ञानी का पर के साथ कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है। आत्मा में व्यवहार का शुभराग है, इसलिए आत्मा में तद्रूप यानि शुभराग को जानने रूप ज्ञान-परिणाम हुआ है – ऐसी पराधीनता ज्ञान में नहीं है; तथा आत्मा व्यवहार को जानता है, इसकारण वह व्यवहार का कर्त्ता है – ऐसा भी नहीं है। आत्मा के आश्रय से हुए ज्ञान-परिणाम का कर्त्ता, ग्रहण करनेवाला, एवं परिणमन करनेवाला आत्मा है।

देखो! प्रश्न यह था कि अपने निर्मल-परिणाम को जानता हुआ, आत्मा राग के कार्य का कर्त्ता है कि नहीं? आत्मा जानने का कार्य तो करता है, किन्तु राग का कर्त्ता होकर, साथ में राग का कार्य करता है कि नहीं? जो ग्वाला एक गाय को चरा सकता है, वह पाँच गायों को क्यों नहीं चरा सकता है? उसीप्रकार आत्मा ज्ञान के साथ राग का कर्त्ता भी रहे तो क्या बाधा है?

उत्तर :– भाई ! ऐसा नहीं है। 'वत्थुसहावो धम्मो' – वस्तु का स्वभाव धर्म है। आत्मा स्वयं वस्तु है, अतः उसका स्वभाव ज्ञान-दर्शन-आनन्दमय है। जहाँ ऐसे ज्ञान-दर्शन-आनन्दमय स्वभाव की दृष्टि हुई, वहीं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल-परिणाम हो जाता है। अपने उस निर्मल-परिणाम को करते हुए एवं उसी को जानते हुए ज्ञानी का पर के साथ कर्त्ता-कर्मभाव नहीं है।

जैसे मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर, घड़े को करती है। घड़ा होने के आदि-मध्य व अन्त में मिट्टी है। यद्यपि निमित्तरूप से कुम्हार के हाथों का स्पर्श भी होता है, तथापि कुम्हार घड़ा बनाने के आदि-मध्य-अन्त में नहीं है। कुम्हार मिट्टी की तरह घड़े में पसरकर, व्याप्त होकर घड़े-रूप नहीं होता। घड़ेरूप कार्य में कुम्हार पसरता नहीं है, तन्मय नहीं होता; किन्तु मिट्टी स्वयं घड़े में व्याप्त होकर घड़े को करती है।

घड़ा मिट्टी का प्राप्य-कर्म है, अतः वह उससमय का ध्रुव है। विकार्य व्यय है तथा निर्वर्त्य उत्पाद है। जिससमय जो पर्याय होनी थी, वह हुई; इसलिए उसे ध्रुव कहा है। है तो पर्याय, किन्तु इसका स्व-समय में होना निश्चित है – इस अपेक्षा ध्रुव कहा। यहाँ एक समय की पर्याय में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-तीनों घटाये हैं। अहो ! आचार्य की अजब शैली है। कहते हैं कि माटी स्वयं में अन्तर्व्यापक होकर घड़े को ग्रहण करती है। घड़े की पर्याय उस माटी की, उससमय की ध्रुव है, प्राप्य है। अहाहा ! उससमय वहीं पर्याय होनी थी। देखो न ! सब क्रमबद्ध है, यहाँ यह सिद्ध किया है। 'कुम्हार घड़े का कर्त्ता है' – यह बात तो यहाँ है ही नहीं।

जैसे मिट्टी घड़े में अन्तर्व्यापक होकर घड़े को ग्रहण करती है, घड़े के रूप में परिणमित होती है, घड़े के रूप में उत्पन्न होती है; उसप्रकार पूर्ण आनन्द का नाथ प्रभु आत्मा बाह्य-स्थित परद्रव्य के परिणाम में अथवा व्यवहार-रत्नत्रय के शुभराग में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिणमित नहीं होता, उसरूप उत्पन्न नहीं होता। शुभराग के आदि में आत्मा नहीं है, मध्य में आत्मा नहीं है, अन्त में आत्मा नहीं है। राग के आदि-मध्य-अन्त में पुद्गल है। धर्मी जीव जैसे वीतरागी शुद्ध-रत्नत्रय के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर, उसके आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर उसे ग्रहण करता है, उस-प्रकार व्यवहाररूप शुभभाव में अन्तर्व्यापक होकर, उसके आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर उसे ग्रहण नहीं करता है। राग तो पुद्गल का

प्राप्य-कर्म है। पुद्गल उसे ग्रहण करता है, पुद्गल उसरूप परिणमन करता है तथा पुद्गल ही तद्रूप से उत्पन्न होता है।

भाई ! यदि हम ध्यान देवें तो यह बात आसानी से समझ में आ सकती है। यह कोई साधारण बात नहीं है, सत् के शरण में पहुँचने की बात है; इसलिए ध्यान देना ही चाहिए। दुनिया माने या न माने – इससे क्या ? सत् तो त्रिकाल सत् ही रहेगा। आत्मा अनन्त शक्ति का धाम चैतन्यस्वभावी भगवान है। इस त्रिकाली ध्रुव प्रभु को ग्रहण करता हुआ, इसी का आश्रय लेता हुआ; जो शक्तिरूप है, वही व्यक्तिरूप से प्रगट होता है। उस प्रगट हुए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल-परिणाम के आदि-मध्य व अन्त में आत्मा रहता है, किन्तु राग के आदि-मध्य व अन्त में आत्मा नहीं रहता इसकारण आत्मा राग-परिणाम का कर्त्ता नहीं है। व्यवहार-रत्नत्रय का परिणाम बाह्य-स्थित परद्रव्य का परिणाम है – उसे आत्मा ग्रहण नहीं करता। इसकारण ज्ञानी शुभराग का कर्त्ता नहीं है।

प्रश्न :– पण्डितप्रवर श्री टोडरमलजी ने रहस्यपूर्ण चिट्ठी में सविकल्प से निर्विकल्पता की बात कही है, उसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर :– भाई ! उसका अर्थ तो यह है कि सविकल्पता को छोड़कर निर्विकल्पता होती है। वहाँ यह ज्ञान कराया है कि पहले के विकल्प को तोड़कर निर्विकल्प हुआ है, इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि अमुक जाति का विकल्प आवे तो उसके कारण से ही निर्विकल्पता होगी। निर्विकल्पता को अपने पूर्व विकल्प के सहयोग की अपेक्षा या पराधीनता नहीं है, कारणता भी नहीं है; बल्कि विकल्प का लक्ष्य छोड़े तो सहज ही निर्विकल्पता होती है, अथवा जब निर्विकल्प होता है तो सहज ही विकल्प छूट जाते हैं। लौकिक जनों को शुभभाव को छोड़ने की बात ही अच्छी नहीं लगती, परन्तु क्या करें ? शुभभाव तो निगोदिया जीवों को भी निरन्तर होता रहता है। क्षण में शुभ, क्षण में अशुभ – इसप्रकार निरन्तर शुभाशुभ की धारा बहती है; अतः यह कोई उपलब्धि नहीं है, नवीन बात नहीं है।

प्रश्न :– प्रवचनसार की गाथा २४५ में यह कहा है कि शुभोपयोगी भी श्रमण होते हैं, उसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर :– वहाँ धर्मपरिणत मुनियों की बात कही है। शुद्धोपयोगी निरास्रव है और जब तक शुभोपयोग हो वहाँ तक आस्रव है। धर्मपरिणत मुनि के तीन चौकड़ी कषाय नहीं है, तब तो वे मुनि हैं। उनको शुभोपयोग होते हुए भी मुनि कहा जाता है, किन्तु वहाँ अकेले शुभभाववाले

(द्रव्यलिङ्गी) मुनि की बात नहीं है। अकेला शुभभाव तो अज्ञानियों ने अनन्त बार किया है। शुभभाव हो तो भले हो, किन्तु वह शुभभाव धर्म या धर्म का कारण नहीं है। जो वीतरागतारूप धर्म को नहीं जानता, उसे धर्म कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।

अब कहते हैं कि "इसलिए यद्यपि ज्ञानी अपने परिणाम को जानता है; तथापि प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य – ऐसा जो व्याप्य लक्षणवाला परद्रव्य के परिणामस्वरूप कर्म है, उसे न करनेवाले – ऐसे उस ज्ञानी का पुद्गल के साथ कर्त्ता-कर्मभाव नहीं है।"

ज्ञानी अपने परिणाम को जानता है। जानने का काम करता है, इसलिए साथ ही राग का कार्य भी कर ही लेता होगा – ऐसा सोचना ठीक नहीं है। ज्ञानी अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्ध-रत्नत्रय के मोक्षमार्ग के परिणामों को करता है; तथापि प्राप्य, विकार्य व निर्वर्त्यरूप व्याप्य लक्षणवाले परद्रव्य के परिणामस्वरूप कर्मों को ज्ञानी नहीं करता। इस कारण ज्ञानी का पुद्गल के साथ कर्त्ता-कर्मभाव नहीं है।

देखो ! दो हिस्से किये हैं। एक ओर स्वभाव और दूसरी ओर विभाव। भाई ! यह भेदज्ञान करने की बात है। विभाव के साथ जीव की एकताबुद्धि है – यही महामिथ्यात्व की गाँठ है। विभाव में तादात्म्य जैसा अध्यास है, यही मिथ्यात्व है। इस विभाव और शुद्ध चैतन्यस्वभाव की भिन्नता करना – दोनों में भेदज्ञान करना वस्तु के स्वभावरूप सम्यग्दर्शन है।

भाई ! नववें ग्रैवेयक तक जाने योग्य शुभभाव भी अनन्त बार किये हैं, तथापि धर्म नहीं हुआ। वस्त्र छोड़ने मात्र से धर्म नहीं हो जाता। जब 'स्व' में उग्र पुरुषार्थ जागृत हो, स्वभाव का उग्र आश्रय हो, तब चारित्र प्रगट होता है। व्यवहार की क्रिया पालने से चारित्र प्रगट नहीं होता। चारित्र तो आत्मा का गुण है। वीतरागी शक्ति है। इसका आश्रय लेकर विशेष एकाग्र हो, तब उसे चारित्रदशा प्रगट होती है। ऐसे चारित्रवन्त को जो पंच महाव्रत के परिणाम प्रगट होते हैं, उसे व्यवहार-चारित्र कहते हैं। अज्ञानी के तो यथार्थ व्यवहार होता ही नहीं है। समयसार गाथा ४१३ में द्रव्यलिंग में ममत्व करनेवाले श्रमण के तीन बोल कहे हैं कि "वे अज्ञानी अनादिरूढ़, व्यवहारमूढ़ प्रौढ़ विवेकवाले निश्चय पर अनारूढ़ रहते हुए परमार्थ सत्य भगवान समयसार को नहीं जानते।" जिसे आत्मदर्शन नहीं हुआ है और व्यवहार को पालता है, उसे अनादिरूढ़ और व्यवहारमूढ़ कहा है। जिसने जाननेवाले को नहीं जाना, उसका तो व्यवहार ही नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि यद्यपि ज्ञानी अपने परिणाम को जानता है, तथापि प्राप्य, विकार्य व निर्वर्त्य – ऐसे जो व्याप्य लक्षणवाले परद्रव्य के परिणाम-स्वरूप कर्मों को नहीं करता। अतः ज्ञानी का पुद्गल के साथ कर्त्ता-कर्मपना नहीं है।

जो गाथा ७६ में कहा था, उसी के अनुसार यहाँ भी भावार्थ समझना। वहाँ गाथा ७६ में 'पुद्गलकर्म को जानता हुआ ज्ञानी' – ऐसा कहा था, उसके स्थान पर यहाँ 'अपने परिणाम को जानता हुआ ज्ञानी' – ऐसा कहा है। बस, दोनों गाथाओं में इतना ही अन्तर है।

इसप्रकार ७७वीं गाथा पूर्ण हुई।

कोऊ बुधिवन्त नर निरखै......

कोऊ बुधिवन्त नर निरखै सरीर-घर,
भेदग्यान दृष्टिसौं विचारै वस्तु-वासतौ।
अतीत अनागत वरतमान मोहरस,
भीग्यौ चिदानन्द लखै बन्ध में विलासतौ॥
बन्ध कौ विदारि महा मोह कौ सुभाउ डारि,
आतमा कौ ध्यान करै देखै परगासतौ।
करम-कलंक-पंकरहित प्रगटरूप,
अचल अबाधित विलोकै देव सासतौ॥

सुद्धनयातम आतम की,
अनुभूति विज्ञान-विभूति है सोई।
वस्तु विचारत एक पदारथ,
नाम के भेद कहावत दोई॥
यौं सरवंग सदा लखि आपुहि,
आतम-ध्यान करै जब कोई।
मेटि असुद्ध विभावदसा तब,
सुद्ध सरूप की प्रापति होई॥

– नाटक समयसार, जीवद्वार छन्द १३-१४

पुद्गलकर्मफलं जानतो जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभावः किं भवति किं न भवतीति चेत् –

णवि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए ।
णाणी जाणंतो वि हु पोग्गलकम्मप्फलमणंतं ।।७८।।

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये ।
ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्मफलमनंतम् ।।७८।।

यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं सुखदुःखादिरूपं पुद्गलकर्मफलं कर्म पुद्गलद्रव्येण स्वयमंतर्व्यापकेन भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तद् गृह्णता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन्नपि हि ज्ञानी स्वयमंतर्व्यापको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिका-

---

अब प्रश्न करता है कि पुद्गलकर्म के फल को जाननेवाले – ऐसे जीव का पुद्गल के साथ कर्त्ता-कर्मभाव है या नहीं ? उसका उत्तर कहते हैं :–

पुद्गलकर्म का फल अनन्ता, ज्ञानी जन जाना करे ।
परद्रव्यपर्यायों न प्रणमें, नहिं ग्रहे, नहिं ऊपजे ।।७८।।

गाथार्थ :– [ज्ञानी] ज्ञानी [पुद्गलकर्मफलम्] पुद्गलकर्म का फल [अनंतम्] जो कि अनन्त है, उसे [जानन् अपि] जानता हुआ भी [खलु] परमार्थ से [परद्रव्यपर्याये] परद्रव्य की पर्यायरूप [न अपि परिणमति] परिणमित नहीं होता, [न गृह्णाति] उसे ग्रहण नहीं करता और [न उत्पद्यते] न उसरूप उत्पन्न होता है ।

टीका :– प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य – ऐसा व्याप्य लक्षणवाला सुखदुःखादिरूप पुद्गल-कर्मफलस्वरूप जो कर्म (कर्त्ता का कार्य), उसमें पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य और अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण करता हुआ, उसरूप परिणमन करता हुआ और उसरूप उत्पन्न होता हुआ, उस सुख-दुःखादिरूप पुद्गल-कर्मफल को करता है । इसप्रकार पुद्गलद्रव्य के द्वारा किये जानेवाले सुखदुःखादिरूप पुद्गल-कर्मफल को ज्ञानी जानता हुआ भी, जैसे मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, घड़े को ग्रहण करती है, घड़े के

कलशमिवादिमध्यांतेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च। ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य सुखदुःखादिरूपं पुद्गलकर्मफलं जानतोऽपि ज्ञानिनः पुद्गलेन सह न कर्तृकर्मभावः।

रूप में परिणमित होती है और घड़े के रूप में उत्पन्न होती है; उसीप्रकार ज्ञानी स्वयं बाह्य-स्थित (बाहरवाले) ऐसे परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिणमित नहीं होता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता। इसलिये यद्यपि ज्ञानी सुख-दुःखादिरूप पुद्गलकर्म के फल को जानता है तथापि प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य — ऐसा जो व्याप्य लक्षणवाला परद्रव्य-परिणाम स्वरूप कर्म है, उसे न करनेवाले — ऐसे उस ज्ञानी का पुद्गल के साथ कर्त्ता-कर्मभाव नहीं है।

भावार्थ :— जैसा कि ७६वीं गाथा में कहा गया था, तदनुसार यहाँ भी जान लेना। वहाँ 'पुद्गल-कर्म को जाननेवाला ज्ञानी' कहा था और यहाँ उसके बदले में 'पुद्गलकर्म के फल को जाननेवाला ज्ञानी' — ऐसा कहा है, इतना विशेष है।

गाथा ७८ की उत्थानिका एवं गाथा पर प्रवचन

अब शिष्य प्रश्न करता है कि पुद्गलकर्म के फल को जाननेवाले जीव का पुद्गल के साथ कर्त्ता-कर्मभाव है या नहीं? गाथा ७६ में पुद्गल-कर्म अथवा राग को जाननेवाले ज्ञानी की बात कही थी। यहाँ इस गाथा ७८ में पुद्गल-कर्म के फल, हर्ष-शोकादि के भाव को जाननेवाले ज्ञानी का पुद्गल के साथ कर्त्ता-कर्मभाव है या नहीं? — यह बात करते हैं।

देखो ! हर्ष-शोक के भाव, पुद्गल-कर्म के फल हैं और अतीन्द्रिय आनन्द आत्मा का फल है। प्रवचनसार ग्रन्थ में भी यह बात आती है कि शुद्धोपयोगरूप कर्म का फल आनन्द है अर्थात् निर्मल श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धोपयोग ज्ञानी का कर्म है और इसका फल आनन्द है; तथा राग-द्वेष के परिणाम पुद्गल के कर्म हैं और उसका फल दुःख है।

यहाँ शिष्य पूछता है कि सुख-दुःखादि के भावों को जाननेवाले ज्ञानी का पुद्गल के साथ कर्त्ता-कर्मभाव है या नहीं? ज्ञानी हर्ष-शोकादि को जानता तो है, किन्तु इन्हें भोगता है या नहीं? शिष्य के इस प्रश्न का उत्तर इस गाथा में दिया गया है।

देखो ! गाथा ७६, ७७ व ७८ इन तीनों मूल गाथाओं में 'परदव्व-पज्जाए' वाक्य आया है, इसका अर्थ यह है कि – दया-दान आदि के विकल्प तथा हर्ष-शोकादि के परिणाम सभी परद्रव्य को पर्यायें हैं।

गाथा ७८ की टीका एवं भावार्थ पर प्रवचन

"प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य – ऐसा व्याप्य लक्षणवाला सुख-दुःखादि-रूप पुद्गलकर्मफलस्वरूप जो कर्म (कर्त्ता का कार्य) – उसमें पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य और अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण करता हुआ, उसरूप परिणमन करता हुआ और उसरूप उत्पन्न होता हुआ, उस सुख-दुःखादिरूप पुद्गल-कर्मफल को करता है।"

हर्ष-शोकादि के परिणाम पुद्गल के प्राप्य-कर्म हैं, क्योंकि इन्हें पुद्गल प्राप्त करता है, आत्मा प्राप्त नहीं करता। यह प्राप्य-कर्म ध्रुव है, क्योंकि जो परिणाम होनेवाला था, वही हुआ है। देखो ! यहाँ द्रव्यदृष्टि और स्वभाव की अपेक्षा से यह बात है। जब ज्ञानप्रधान शैली से कथन होता है, तब इन सुख-दुःखादि के परिणामों का भोक्ता जीव को कहा जाता है, तथा राग-द्वेष, सुख-दुःख की अवस्था जीव की है – ऐसा कथन आता है। जीव स्वयं उसरूप से परिणमन करता है और उसका कर्त्तापना जीव का है – ऐसा ज्ञाननय जानता है। त्रिकाली स्वभाव की अपेक्षा से विकारी परिणाम जीव के नहीं हैं, परन्तु पर्याय का ज्ञान कराने की अपेक्षा से विकारी परिणाम जीव की पर्याय में स्वयं से हुए हैं। इसप्रकार जहाँ जिस अपेक्षा से कथन हो, वहाँ उसी अपेक्षा से समझना चाहिए।

प्राप्य अर्थात् ध्रुव; हर्ष-शोक के परिणाम तत्समय में जो होने थे, वही हुए हैं। इस अपेक्षा प्राप्य-कर्म को ध्रुव कहते हैं। विकार्य अर्थात् परिणमन करना – परिणमन की अपेक्षा इसे व्यय कहते हैं। निर्वर्त्य अर्थात् उपजना – उत्पन्न होने से यह उत्पादरूप कर्म है – ऐसे व्याप्य लक्षण-वाले सुख-दुःख, हर्ष-शोक, रति-अरति आदि परिणाम पुद्गल-कर्म के फल-स्वरूप हैं तथा भगवान आत्मा का फल आनन्दस्वरूप है। नित्यानन्दस्वरूप प्रभु आत्मा के शुद्धोपयोगरूप कर्म का फल आनन्द है। पर्याय में जो अतीन्द्रिय आनन्द का फल आता है, वह आत्मा का परिणाम है तथा सुख-दुःख विभाव-परिणाम आत्मा का परिणाम नहीं है, वह तो पुद्गल का परिणाम है। हर्ष-शोकादि के परिणाम पुद्गल-कर्म के फल हैं।

प्रश्न :– विकारी परिणाम को पुद्गल का परिणाम कैसे कहते हो ?

उत्तर :– भाई ! विकार वस्तु के स्वरूप में नहीं है। वस्तु में अर्थात् आत्मा में ऐसा कोई गुण या शक्ति ही नहीं है, जो विकार को उत्पन्न कर सके। इस कारण उसे पुद्गल का परिणाम कहकर 'पर' मानकर भिन्न किया है, तथा चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा को उससे भिन्न कर दिया है। चैतन्यस्वरूप के द्रव्य-गुण-पर्याय को विकार से भिन्न करके भेदज्ञान कराया है। चैतन्य के द्रव्य-गुण से तो विकार भिन्न है ही; परन्तु पर्याय से भी विकार को भिन्न करने के लिए उसे पुद्गल का परिणाम कहा है। भाई ! एकान्त छोड़कर जो अपेक्षा हो, उस अपेक्षा से यथार्थ समझना चाहिए।

पुद्गल-कर्मफलरूप जो कार्य हुआ, उसमें पुद्गलद्रव्य अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, उन हर्ष-शोकादिरूप पुद्गल-कर्मफल को करता है; अतः हर्ष-शोकादि का कर्त्ता पुद्गल है, आत्मा नहीं। आत्मा में हर्ष-शोकादि करने की कोई शक्ति ही नहीं है। आनन्द का नाथ भगवान आत्मा हर्ष-शोकादिरूप कैसे परिणमें ? आत्मा का स्वभाव तो आनन्दरूप परिणमन करने का है तथा धर्म भी आनन्दस्वरूप ही है। यह आनन्द का परिणाम जीव का प्राप्य, विकार्य व निर्वर्त्यरूप कर्म है तथा हर्ष-शोकादि विकार का परिणाम पुद्गल का कर्म है।

आचार्यदेव कहते हैं कि हर्ष-शोकादि के परिणामों में पुद्गलद्रव्य अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर उनको करता है। हर्ष-शोक की पर्याय उत्पन्न होने में जीव की कमजोरी कारण नहीं है। जीव अपनी निर्बलता से विपरीतरूप परिणमा, अतः हर्ष-शोकादि विभाव रूप होने में जीव का कुछ न कुछ अंश तो होगा ही ? – यह बात यहाँ नहीं है। जब स्वभाव में विभाव है ही नहीं, तो हर्ष-शोकादि विभाव में आत्मा के स्वभाव का अंश कहाँ से आ जायेगा ? – यह बात जरा सूक्ष्म है, मध्यस्थ होकर, अपना पक्ष छोड़कर समझने का प्रयत्न करें तो समझ में आ सकती है। अहो ! आचार्य भगवन्तों ने कमाल का काम किया है। दिगम्बर आचार्य 'धर्म के स्तम्भ' थे, उन्होंने इस धर्म की स्थिति को यथावत् संभाल कर रखा है।

यहाँ कहते हैं कि पुण्य-पाप के भावों के फल हर्ष-शोकादि के परिणाम पुद्गल के कार्य हैं, जीव के नहीं; स्वद्रव्यस्वरूप भगवान आत्मा के कार्य नहीं हैं। पुद्गल ही उनके आदि-मध्य व अन्त में अन्तर्व्यापक होकर, उन्हें ग्रहण करता है या उनमें पहुँचता है। पुद्गल-कर्म ही उस-

रूप से परिणमन करता है, उस रूप से उत्पन्न होता हुआ, उन सुख-दुःखादि रूप पुद्गल-कर्म के फल को करता है।

देखो ! 'ज्ञानी पुद्गलकर्मफल को जानता है ? – यह कहना भी व्यवहार है, क्योंकि ज्ञानी को तत्सम्बन्धी (पुद्गलसम्बन्धी) ज्ञान होता है, अतः कह दिया जाता है कि ज्ञानी पुद्गल-कर्मफल को जानता है, वास्तव में तो ज्ञानी स्वयं को ही जानता है। जैसी सुख-दुःख की कल्पना हुई, वैसा ही ज्ञान ने जाना, इस कारण 'सुख-दुःख का ज्ञान' कहा जाता है; परन्तु ज्ञान तो आत्मा का ही है। जैसा हर्ष-शोक का भाव है, वैसा ही ज्ञान होता है। इस कारण कहा है कि ज्ञानी पुद्गल-कर्म को जानता है, किन्तु जैसे मिट्टी घड़े में अन्तर्व्यापक होकर घड़े को ग्रहण करती है, वैसे ही ज्ञानी स्वयं बाह्यस्थित परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर, उसको ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिणमित नहीं होता, उसरूप उत्पन्न नहीं होता। पुद्गल-कर्म के उदय पर लक्ष्य जाने से जो सुख-दुःख का परिणाम होता है, वह पुद्गल का परिणाम है। भगवान आत्मा की यह बात ही नहीं है, क्योंकि यह तो ज्ञानी की व्याख्या है न ? धर्मी जीव की दृष्टि त्रिकाली स्वभाव पर होने से निर्विकारी दशा – इसका प्राप्य, विकार्य व निर्वर्त्य कर्म है, विकार इसका कर्म नहीं है। ज्ञानी विकार का कर्त्ता नहीं है।

निर्मल ज्ञान व आनन्द भगवान आत्मा की पर्याय है, सुख-दुःख का परिणाम तो बाह्यस्थित पुद्गल का परिणाम है। उसको ज्ञानी जानते हुए भी उसमें अन्तर्व्यापक होकर, उसे ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिणमित नहीं होता; क्योंकि भगवान आत्मा स्वयं ज्ञाता-दृष्टा के भावस्वरूप है।

ऐसी सूक्ष्म बात पकड़ में नहीं आती, इसलिए कितने ही व्यक्ति शुभभाव करने का आग्रह रखते हैं और शुभभाव में ही धर्म मानकर संतुष्ट रहते हैं; परन्तु शुभभाव आत्मा का धर्म नहीं है। शुभभाव से धर्म नहीं होता, शुभभाव धर्म का कारण भी नहीं।

कितने ही ऐसा कहते हैं कि शुभभाव व्यवहार से धर्म तो है, इसे धर्म मानने का निषेध क्यों करते हो – इससे अधर्म क्यों कहते हो ? इस कथन में थोड़ा सुधार करो ? परन्तु भाई ! इसमें क्या सुधार हो सकता है ? शुभभाव तो कर्म का प्राप्य है, पुद्गल का परिणाम है – उससे जीव के परिणाम को लाभ कैसे हो सकता है ? पुद्गल के परिणाम से आत्मा में सम्यग्दर्शनरूप कार्य नहीं हो सकता; क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के वीतरागी परिणाम के आदि-मध्य-अन्त में भगवान आत्मा अन्तर्व्यापक

होकर, उसे ग्रहण करता है। वह निर्मल-परिणाम जीव का प्राप्य, विकार्य तथा निर्वर्त्य-कर्म है। सम्यग्दर्शनरूप निर्मलपरिणाम के आदि, मध्य व अन्त में आत्मा है, शुभभाव नहीं है।

शुभभाव तो पहले अनन्तबार हुआ है, सामान्य शुभभाव की तो बात ही क्या ? नववें ग्रैवेयक जाय – ऐसा शुभभाव भी अनन्तबार किया; तथापि वह शुभभाव की धर्म का कारण नहीं बन सका। भाई ! धर्म की वीतरागी पर्याय का कारण तो स्वयं शुद्ध त्रिकाली आत्मद्रव्य है। शुभभाव को मोक्षमार्ग या मोक्ष का साधन मानना तो आत्मघाती परिणाम होने से बड़ी भारी हिंसा है। यहाँ स्पष्ट कहा है न ? ज्ञानी स्वयं बाह्यस्थित परद्रव्य के परिणाम में, हर्ष-शोक के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर उन्हें ग्रहण नहीं करता; मात्र जानता है। वास्तव में तो स्वयं में रहकर, उससमय जो स्व-परप्रकाशक ज्ञान का परिणाम होता है, उस प्राप्यरूप या ध्रुवरूप ज्ञान-परिणाम को जानता है। राग-द्वेष या सुख-दुःख के जैसे भाव उससमय ध्रुवरूप से – निश्चितरूप से होते हैं, उन्हें पुद्गल प्राप्त करता है। उसीप्रकार भगवान आत्मा उसी समय ध्रुवरूप से – निश्चित रूप से होनेवाले स्व-परप्रकाशक ज्ञान-परिणाम को प्राप्त करता हुआ, उसरूप परिणमन करता हुआ तथा उसी रूप से उत्पन्न होता हुआ, अपने कर्म को या वीतरागी परिणाम को करता है। आत्मा का स्व-परप्रकाशक स्वभाव होने से हर्ष-शोक, सुख-दुःख का पुद्गल-परिणाम भी जानने में आता है, परन्तु ये हर्ष-शोकादि के विकारी परिणाम (पर्याय) पुद्गल-कर्म के फल हैं, वे आत्मा के फल नहीं हैं।

अरे ! जन्म-मरण से छूटने का उपाय तो यही है। भाई ! समझ में न आये और कठिन लगे तो इससे कोई मार्ग नहीं बदल सकता।

प्रश्न :– क्या ज्ञानी को पर्याय में दुःख है ही नहीं ?

उत्तर :– भाई ! तुम्हारा यह प्रश्न प्रासंगिक नहीं है; यहाँ तो वस्तु के स्वभाव की अपेक्षा से यह बात चल रही है, दृष्टि व दृष्टि के विषय का यह कथन है और तुम्हारा प्रश्न ज्ञाननय का है। ज्ञान की अपेक्षा उससमय जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान तो त्रिकाली को भी जानता है और वर्त्तमान में जो दुःख की परिणति है, उसे भी जानता है कि मुझमें ये दुःख की परिणति है, वह उस दुःख को भोगता भी है।

भाई ! यह स्याद्वाद वाणी है। राग को भोगता है – ऐसा एक भोक्तानय है और राग को करता है – ऐसा एक कर्त्तानय भी है। जैसे

रंगरेज रंग का कर्त्ता है, उसी तरह भगवान आत्मा जितना रागरूप परिणमता है, उतना वह राग का कर्त्ता है। राग करने लायक है – यह नहीं कहा, परन्तु भूमिकानुसार रागरूप परिणमता है; इसलिए कर्त्ता कहा जाता है।

देखो तो सही, सन्तों की आत्मलीला। ज्ञानप्रधान कथन में ऐसा कहते हैं कि आत्मा जानता है वेदन करता है, अथवा कर्त्ता-भोक्ता भी है और दृष्टिप्रधान कथन में ऐसा कहते हैं कि राग का परिणाम पुद्गल का कार्य है, जीव का नहीं है; क्योंकि दृष्टि सदैव पूर्णानन्द के नाथ प्रभु आत्मा के स्वभाव को ही पकड़ती है अर्थात् दृष्टि की अपेक्षा आत्मा के परिणाम में विकार व सुख-दुःख हो ही नहीं सकता। इस अपेक्षा से विकारी परिणाम या हर्ष-शोकरूप कर्म को पुद्गल में सम्मिलित करके आत्मा को मात्र 'ज्ञायक' जानने-देखनेवाला ज्ञाता-दृष्टा कहा है; किन्तु इससे सर्वथा ऐसा नहीं मान लेना कि ज्ञानी के सुख-दुःख है ही नहीं।

देखो ! टीकाकार अमृतचन्द्रदेव ने स्वयं तीसरे कलश में कहा है कि मेरी परिणति अभी संज्वलन कषाय (रागादि) की व्याप्ति से कलुषित है। अभी वर्त्तमान में मेरी पर्याय में कलुषता है, तथापि इस टीका के काल में मेरी दृष्टि का जोर निर्मल चैतन्यस्वभाव पर है, इसकारण मुझे अवश्य ही परम विशुद्धि की प्राप्ति होगी। अहो ! आचार्यदेव की कोई गजब गम्भीर शैली है।

पंचास्तिकाय में तो आचार्यदेव ने ऐसा सिद्ध किया है कि परिणति में जो विकार है, वह इस (पर्याय) का ही कर्त्तव्य है, पर्याय का स्वतन्त्र कार्य है। जिस हद तक राग होता है, उस हद तक राग पर्याय स्वयं अपनी कर्त्ता है एवं स्वयं अपना कर्म, करण तथा अधिकरण है। द्रव्य-गुण राग के कारण नहीं हैं। वहाँ पर्याय का अस्तित्व सिद्ध करना है न? इसलिए कहते हैं कि सुख-दुःख के परिणाम स्वयं षट्कारकरूप से परिणमन करके स्वयं स्वतन्त्रपने होते हैं, परन्तु यहाँ द्रव्यदृष्टि की मुख्यता से बात चल रही है। जब पर्यायदृष्टि छूट जाती है और द्रव्यदृष्टि होती है तो ज्ञानी को सुख-दुःख के परिणमन का वेदन नहीं रहा तथा इसी समय साथ में ज्ञान जानता है कि जितना सुख-दुःख का परिणान है, उतना मेरा कर्तृत्व व भोक्तृत्व है। अहाहा ! ज्ञानियों की अद्भुत लीला है।

अरे प्रभु ! तुम कहाँ हो ? – ऐसा प्रश्न उपस्थित होने पर द्रव्यदृष्टि से तो यह कहते हैं कि मैं तो अपने जाननेरूप ज्ञान-परिणाम में हूँ। जितना

राग का परिणमन होता है, वह पुद्गल का परिणाम है। मैं तो उसका भी ज्ञायक ही हूँ तथा जब पर्याय से देखता हूँ तो राग व राग के फलस्वरूप सुख-दुःख का वेदन व कर्तृत्व मुझमें है – ऐसा मैं जानता हूँ। इसप्रकार ज्ञानी को दोनों अपेक्षाओं का यथार्थ ज्ञान होता है।

दृष्टि और दृष्टि के विषय में तो विकारी परिणमन का कर्त्तव्य और वेदन है ही नहीं। भाई ! भगवान आत्मा अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड है, इसमें विकार को उत्पन्न करने का एक भी गुण नहीं है। इस अपेक्षा से गुणी को ग्रहण करने पर भगवान आत्मा में राग का कर्त्तव्य तथा सुख का वेदन नहीं है। दृष्टि का विषय तो मात्र अभेद है, दृष्टि के विषय में भेद व पर्याय नहीं है। दृष्टि स्वयं निर्विकल्प है तथा उसका विषय भी अभेद निर्विकल्प है। इसके विषय में सभी गुण पवित्र ही हैं। अहाहा ! ऐसे पवित्र ध्येयवाली दृष्टि ऐसा मानती है कि ये राग दया-दान-व्रतादि व सुख-दुःखादि के जो परिणाम हुए हैं, वे सब पुद्गल के कार्य हैं, मैं तो केवल उनका जाननेवाला साक्षी हूँ, मैं इनका करनेवाला या भोगनेवाला नहीं हूँ; परन्तु दृष्टि के साथ जो ज्ञान (प्रमाण-ज्ञान) है, वह उस काल में त्रिकाली शुद्ध आत्मा को तो जानता ही है तथा वर्त्तमान में हो रहे राग व सुख-दुःख के वेदन की दशा को भी जानता है, अथवा राग का वेदन पर्याय में है – ऐसा भी जानता है।

देखो ! वस्तु व वस्तु के स्वभाव का जो परिणमन है, सुख-दुःख परिणाम उससे बाह्यस्थित हैं, अन्तर में या अन्तर की परिणति में नहीं हैं। धर्मी जीव बाह्यस्थित – ऐसे परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर उन्हें ग्रहण नहीं करता अर्थात् रागादि-रूप परद्रव्य के परिणाम धर्मी जीवों से हुए हैं – ऐसा नहीं है। शुद्धस्वभाव से रागादि व सुख-दुखादि विकारी परिणाम कैसे हो सकते हैं ? पर्याय में अपनी योग्यता से जो सुख-दुःख के परिणाम होते हैं, उनको जाननेवाला ज्ञान ऐसा जानता है कि पर्याय में सुख-दुःख का वेदन है।

भाई ! भगवान का मार्ग अनेकान्तस्वरूप है। अहाहा ! मार्ग तो ऐसा ही है। अनेकान्त=अनेक+अन्त; अर्थात् अनेक परस्पर विरोधी धर्म। (जैसे वस्तु में अस्ति-नास्ति, एक-अनेक, भेद-अभेद, सत्-असत्, नित्य-अनित्य आदि तथा स्वभाव-विभाव, गुण-पर्यायादि अनेक धर्म हैं। इनका कथन जिनवाणी में नाना अपेक्षाओं से होता है।) स्वभाव की दृष्टि से या स्वभाव की अपेक्षा से राग का परिणाम जीव का नहीं है तथा पर्याय की दृष्टि (अपेक्षा) से देखने पर वे ही रागादि परिणाम जीव के हैं।

भाई ! वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। भगवान ने कुछ किया या बनाया नहीं है। भगवान ने तो मात्र जैसा है, वैसा जाना है और वैसा ही कहा है।

अब कहते हैं कि "यद्यपि ज्ञानी सुख-दुःखादिरूप पुद्गलकर्म के फल को जानता है; तथापि प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य—ऐसा जो व्याप्य लक्षणवाला परद्रव्य के परिणामस्वरूप कर्म है, उसे न करनेवाले—ऐसे उस ज्ञानी का पुद्गल के साथ कर्त्ता-कर्मभाव नहीं है।"

हर्ष-शोक के भाव को ज्ञानी करता नहीं है—ऐसा कहते हैं। उसे जानता भले हो, क्योंकि वह अपनी ज्ञान-पर्याय के आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होने से ज्ञाता है, अतः जाने भले; परन्तु इन हर्ष-शोक के भावों को करे और भोगे—ऐसा ज्ञानी का स्वरूप नहीं है।

जैसा ७६वीं गाथा में कहा था, उसी के अनुसार यहाँ भी भावार्थ जान लेना। वहाँ 'पुद्गल-कर्म को जानता हुआ ज्ञानी'—ऐसा कहा था और यहाँ उसके बदले में 'पुद्गल-कर्म के फल को जानता हुआ ज्ञानी'—ऐसा कहा है, इतना मात्र अन्तर है। इसप्रकार ७८वीं गाथा पूर्ण हुई।

जे दिन तुम विवेक बिन······

जे दिन तुम विवेक विन खोये ।।टेक।।

मोह वारुणी पी अनादि तैं, परपद में चिर सोये।
सुखकरण्ड चित्पिण्ड आपपद, गुन अनन्त नहिं जोये ।। १ ।।

होय वहिर्मुख ठानि राग रुख, कर्मबीज बहु बोये।
तसु फल सुख-दुःख सामग्री लखि, चित में हरखे रोये ।। २ ।।

धवल ध्यान शुचि सलिलपूर तैं, आस्रव मल नहिं धोये।
परद्रव्यनि की चाह न रोकी, विविध परिग्रह ढोये ।। ३ ।।

अब निज में निज जान नियत तहाँ, निज परिनाम समोये।
यह शिवमारग समरससागर, 'भागचन्द' हित तोये ।। ४ ।।

—आध्यात्मिक कविवर भागचन्द

जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं चाजनतः पुद्गलद्रव्यस्य सह जीवेन कर्तृकर्मभावः किं भवति किं न भवतीति चेत् –

णा वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए ।
पोग्गलदव्वं पि तहा परिणमदि सएहिं भावेहिं ।।७९।।

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये ।
पुद्गलद्रव्यमपि तथा परिणमति स्वकैर्भावैः ।।७९।।

यतो जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं चाप्यजानत्पुद्गलद्रव्यं स्वयमंतर्व्यापकं भूत्वा परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यांतेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च, किं तु प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं स्वभावं कर्म स्वयमंतर्व्यापकं

अब प्रश्न है कि जीव के परिणाम को, अपने परिणाम को और अपने परिणाम के फल को नहीं जाननेवाले पुद्गलद्रव्य का जीव के साथ कर्ताकर्म भाव है या नहीं ? इसका उत्तर कहते हैं :–

इस भाँति पुद्गलद्रव्य भी, निज भाव से ही परिणमे ।
परद्रव्यपर्यायों न परिणमे, नहिं ग्रहे, नहिं ऊपजे ।।७९।।

गाथार्थ :– [तथा] इसप्रकार [पुद्गलद्रव्यम् अपि] पुद्गलद्रव्य भी [परद्रव्यपर्याये] परद्रव्य के पर्यायरूप [न अपि परिणमति] परिणमित नहीं होता, [न गृह्णाति] उसे ग्रहण नहीं करता और [न उत्पद्यते] उसरूप उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि वह [स्वकैः भावैः] अपने ही भावों से (भावरूप से) [परिणमति] परिणमन करता है ।

टीका :– जैसे मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, घड़े को ग्रहण करती है, घड़ेरूप परिणमित होती है और घड़ेरूप उत्पन्न होती है; उसीप्रकार जीव के परिणाम को, अपने परिणाम को और अपने परिणाम के फल को न जानता हुआ – ऐसा पुद्गलद्रव्य स्वयं परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य और अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिणमित नहीं होता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता; परन्तु प्राप्य, विकार्य और

भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तमेव गृह्णाति तथैव परिणमति तथैवोत्पद्यते च। ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं चाजानतः पुद्गलद्रव्यस्य जीवेन सह न कर्तृकर्मभावः।

निर्वर्त्य – ऐसे जो व्याप्य लक्षणवाले अपने स्वभावरूप कर्म (कर्त्ता के कार्य) में (वह पुद्गलद्रव्य) स्वयं अन्तर्व्यापक होकर आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, उसी को ग्रहण करता है, उसीरूप परिणमित होता है और उसीरूप उत्पन्न होता है; इसलिये जीव के परिणाम को, अपने परिणाम को और अपने परिणाम के फल को न जानता हुआ – ऐसा पुद्गलद्रव्य प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य का ऐसा जो व्यापक लक्षणवाला परद्रव्यपरिणाम-स्वरूप कर्म है, उसे नहीं करता होने से, उस पुद्गलद्रव्य का जीव के साथ कर्त्ता-कर्मभाव नहीं है।

भावार्थ :– कोई ऐसा समझे कि पुद्गल जड़ है और किसी को नहीं जानता – उसका तो जीव के साथ कर्त्ता-कर्मपना होगा, परन्तु ऐसा भी नहीं है। पुद्गलद्रव्य जीव को उत्पन्न नहीं कर सकता, परिणमित नहीं कर सकता तथा ग्रहण नहीं कर सकता; इसलिये उसका जीव के साथ कर्त्ता-कर्मभाव नहीं है। परमार्थ से किसी भी द्रव्य का किसी अन्य द्रव्य के साथ कर्त्ता-कर्मभाव नहीं है।

गाथा ७९ की उत्थानिका एवं गाथा पर प्रवचन

यहाँ सर्वप्रथम शिष्य का प्रश्न यह है कि जीव के परिणाम को नहीं जाननेवाले तथा अपने परिणाम को और अपने परिणाम के फल को भी नहीं जाननेवाले, पुद्गलद्रव्य का जीव के साथ कर्त्ता-कर्मभाव है या नहीं ? यहाँ प्रश्न में 'जीव के परिणाम' से वीतरागी निर्मल परिणाम 'अपने परिणाम' से रागादि परिणाम तथा 'अपने परिणामों के फल' से सुख-दुःख के परिणाम ग्रहण किये हैं। इन सब परिणामों को नहीं जाननेवाले पुद्गलद्रव्य का जीव के साथ कर्त्ता-कर्मभाव है या नहीं ? – ऐसा प्रश्न है।

देखो ! जीव को स्वभाव की दृष्टि होने पर जो स्वभाव का निर्मल परिणाम हुआ, उसे पुद्गल नहीं जानता; उसीप्रकार रागादिभावस्वरूप पुद्गल-परिणामों को भी पुद्गल नहीं जानता, तथा पुद्गल-परिणाम के फल सुख-दुःखादि को भी पुद्गल नहीं जानता। इसप्रकार आत्मा के परिणाम, पुद्गल के परिणाम तथा पुद्गलपरिणाम के फल को पुद्गल

नहीं जानता, क्योंकि वे जड़ हैं। अतः ऐसे पुद्गलद्रव्य का जीव के साथ कर्त्ता-कर्मभाव है या नहीं ?

इसके पूर्व गाथा ७६, ७७ एवं ७८ में ऐसा कह आये हैं कि (१) पुद्गल-कर्म को जाननेवाले आत्मा का पुद्गल के साथ कर्त्ता-कर्मभाव है या नहीं ? (२) अपने निर्मलपरिणाम को जाननेवाले जीव का पुद्गल के साथ कर्त्ता-कर्मभाव है या नहीं ? (३) पुद्गल-कर्म के फल को जानने वाले जीव का पुद्गल के साथ कर्त्ता-कर्मभाव है या नहीं ?

अब इस गाथा में इन तीनों से अलग चौथी बात करते हैं कि — जीव के परिणाम को, अपने परिणाम को तथा अपने परिणाम के फल को नहीं जाननेवाले — पुद्गल का जीव के साथ कर्त्ता-कर्मभाव है या नहीं ? राग कर्त्ता व आत्मा उसका कार्य — ऐसा क़र्त्ता-कर्म भाव है या नहीं ? — यह समझने की जिज्ञासावाले शिष्य को यहाँ समझाया जा रहा है।

देखो ! यहाँ इस गाथा में जो 'परदव्वपज्जाए' वाक्य आया है, उसका अर्थ पहले की (७६,७७ व ७८) गाथाओं में आये, ऐसे ही वाक्य से भिन्न है। पूर्व गाथाओं में उक्त वाक्य का अर्थ हर्ष-शोकादि की पर्याय — विकारी पर्याय था और यहाँ उसी वाक्य का अर्थ आत्मा की निर्मल पर्याय है, क्योंकि पुद्गल की अपेक्षा आत्मा परद्रव्य है।

गाथा ७९ की टीका पर प्रवचन

टीका में कहते हैं 'जैसे मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, घड़े को ग्रहण करती है, घड़ेरूप परिणमित होती है और घड़ेरूप उत्पन्न होती है।' इसलिए मिट्टी कर्त्ता है और घड़ा उस मिट्टी का कर्म है, कुम्हार का कर्म नहीं है। कितने ही लोग ऐसा कहते हैं कि दो कर्त्ता होने पर ही कार्य-निष्पादन की सामग्री पूर्ण होती है। जैसे घड़े के दो कर्त्ता हैं — एक मिट्टी व दूसरा कुम्हार। इन दो कर्त्ता द्वारा घड़ारूपी कार्य होता है, किन्तु यहाँ इसका निषेध किया है। घड़ारूपी कार्य मिट्टी से ही हुआ है, कुम्हार को कर्त्ता कहना तो निमित्त की अपेक्षा आरोपित कथन है, वास्तव में तो निमित्त पर का (परद्रव्य के कार्य का) कर्त्ता होता ही नहीं है।

जैसे घड़े का कर्त्ता कुम्हार नहीं हो सकता, उसीप्रकार शरीर की, भाषा की तथा खाने-पीने की क्रिया का क़र्त्ता आत्मा नहीं है। हाँ, जो क्रिया जिस काल में, जिसप्रकार की होती है; ज्ञानी उस क्रिया को, उसकाल में,

उस ही प्रकार से अपने ज्ञान के परिणाम द्वारा जानता है; किन्तु उस कार्य का वह कर्त्ता नहीं है। देखो! यह पुस्तक ऊँची हुई, यह भाषा बोली गई – इत्यादि जीव के कार्य नहीं है। जीव चश्मे से देखता-जानता नहीं है। जीव अपने ज्ञान से जानता है। जीव स्वयं अपनी ज्ञान पर्याय से जानता है।

अनादि से उल्टा अभ्यास है, इसलिये लोगों को यह बात समझने में कठिन लगती है। अहाहा! उपादान व निमित्त – दोनों स्वतन्त्र हैं। ज्ञान स्वयं ज्ञान से जानता है, चश्मा व आँख से नहीं।

अन्य मत में तो इन्द्रियों को प्रमाण के अन्तर्गत माना है। एक मत 'इन्द्रिय व पदार्थ के सन्निकर्ष को प्रमाण कहता है; किन्तु जिसमें ज्ञान नहीं, वह प्रमाण कैसा? मात्र आत्मा का ज्ञान स्व-परप्रकाशक है, अतः वही प्रमाण-ज्ञान है। अरे! लोगों को कुछ खबर नहीं है। जो वस्तु अपने आप में स्वयंसिद्ध स्वतन्त्र है, उसे अज्ञानी पराधीन मान बैठे हैं। अरे भाई! यह तो महा विपरीतदृष्टि है। लोग कहते हैं कि चश्मा बिना नहीं दीखता, किन्तु भाई! चश्मा तो क्या, आँखें बन्द करो तो भी दीखता है। आँखें बन्द हो या खुली – वह तो जड़ की क्रिया है। क्या आत्मा उसे करता है? नहीं, बिल्कुल नहीं।

यहाँ कहते हैं कि मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर घड़े को ग्रहण करती है। ग्रहण की अपेक्षा वह घट-पर्याय मिट्टी का प्राप्य-कर्म है। मिट्टी की पिण्ड-अवस्था पलटकर घड़ेरूप परिणमित होती है, इसलिए परिणमन-अपेक्षा वही घट पर्याय मिट्टी का विकार्य-कर्म है। तथा मिट्टी घड़ेरूप से उत्पन्न होती है, अतः उत्पत्ति-अपेक्षा वही पर्याय मिट्टी का निर्वर्त्य कर्म है। अहाहा! जिसप्रकार मिट्टी का घटरूप होना, परिणमना व उत्पन्न होना – अकेले मिट्टी का कार्य है, उसीप्रकार 'जीव के परिणाम को, अपने परिणाम को और अपने परिणाम के फल को न जाननेवाला पुद्गलद्रव्य स्वयं परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य व अन्त में व्याप्त होकर उसे ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिणमित नहीं होता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता।'

देखो! यहाँ जीव के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागी परिणाम को पुद्गलद्रव्य की अपेक्षा परद्रव्य का परिणाम कहा है और राग-द्वेष व हर्ष-शोक के परिणामों को पुद्गलद्रव्य का परिणाम कहा है। इन सब परिणामों को पुद्गल जानता नहीं है, क्योंकि वह जड़ है। ऐसा जड़-स्वभावी पुद्गलद्रव्य, जीव के ज्ञाता-दृष्टारूप शुद्धरत्नत्रय के परिणामों

में अन्तर्व्यापक होकर आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर उन्हें ग्रहण नहीं करता, उनमें पहुँचता नहीं है। अहाहा ! रागादिरूप या हर्ष-शोकरूप परिणामवाला पुद्गलद्रव्य जीव के शुद्ध ज्ञाता-दृष्टारूप परिणाम को ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिणमित नहीं होता।

ज्ञाता-दृष्टारूप परिणाम जीव का प्राप्य-कर्म है—उसे पुद्गल प्राप्त नहीं करता, वह तो अपने हर्ष-शोकरूप व रागादिरूप परिणामों को प्राप्त करता है। यद्यपि पुद्गल अपने व पर के परिणामों को जानता नहीं है, तथापि अपने परिणामों को प्राप्त करता है और परद्रव्य के—जीव के परिणामों को प्राप्त नहीं करता।

पाँच अजीव द्रव्य जानते नहीं हैं, तथापि जिससमय जिसका जो परिणाम होता है, वह उससमय उसे प्राप्त करता है; अतः वह उसका प्राप्य-कर्म है। पुद्गल की जो अवस्था होती है, वह पुद्गल का प्राप्य-कर्म है। जो अवस्था अपने स्वकाल में हुई, उसे परमाणुओं ने प्राप्त किया है, परमाणु उसमें पहुँचकर तद्रूप हुए हैं, आत्मा का ज्ञान वहाँ पहुँचकर उसरूप नहीं हुआ है। उसीप्रकार पुद्गलद्रव्य अर्थात् रागादि विकारी परिणाम (शुभभाव) स्वयं अन्तर्व्यापक होकर जीव के शुद्ध वीतरागी परिणाम को प्राप्त नहीं होते; उसरूप परिणमित नहीं होते।

बापू ! दिगम्बर सन्तों का कहा हुआ जो वीतराग पन्थ है, वही एकमात्र हितरूप और आराध्य है, इसके सिवा दूसरा कोई शरण नहीं है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है :—

सर्वज्ञनो धर्म सुशरण जानी, आराध्य ! आराध्य !! प्रभाव आनी।
अनाथ एकान्त सनाथ थारो, अेना विना कोई न बाह्य स्हारो॥

भाई ! ऐसा सर्वज्ञ भगवान का मार्ग है, उसकी शरण ले। उसके बिना अन्य कुछ भी शरण नहीं है।

भाई ! पौद्गलिक राग-परिणाम पुद्गल-कर्म के फलरूप हर्ष-शोक के परिणामों को नहीं जानता और नहीं जाननेवाला पुद्गलद्रव्य अपने से भिन्न परद्रव्य के अर्थात् आत्मा के ज्ञाता-दृष्टारूप परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर उसे ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिणमित नहीं होता तथा उसरूप उत्पन्न नहीं होता। 'परन्तु प्राप्य, विकार्य व निर्वर्त्य—ऐसे व्याप्य लक्षण वाले अपने स्वभावरूप कर्म में, वह पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, उसे ही ग्रहण करता है, उसीरूप परिणमन करता है तथा उसीरूप उत्पन्न होता है।'

कर्त्ता के रूप में पुद्गल स्वयं अपने कार्य रागादि व हर्ष-शोक के परिणामों में अन्तर्व्यापक होकर आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर उसे ग्रहण करता है, उसरूप परिणमन करता है तथा उसरूप उत्पन्न होता है; परन्तु वह पुद्गल आत्मा के कार्यरूप निर्मल वीतरागी परिणाम को ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिणमित नहीं होता और न ही उसरूप उत्पन्न होता है।

'इसलिये जीव के परिणाम को, अपने परिणाम को तथा अपने परिणाम के फल को नहीं जाननेवाला पुद्गलद्रव्य प्राप्य, विकार्य व निर्वर्त्य रूप व्याप्य लक्षणवाले परद्रव्य के परिणाम (कर्म) का कर्त्ता नहीं होने से पुद्गलद्रव्य का जीव के साथ कर्त्ता-कर्मभाव नहीं है।'

देखो ! यहाँ यह निष्कर्ष निकाला है कि परद्रव्यरूप जीव के ज्ञाता-दृष्टास्वरूप वीतरागी परिणामों को पुद्गलद्रव्य नहीं करता, इसलिए पुद्गलद्रव्य का जीव के साथ कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है। व्यवहार-रत्नत्रय का, राग या हर्ष-शोक का शुभ-परिणाम ज्ञाता के वीतरागी परिणामों का कर्त्ता तथा ज्ञाता का वीतरागी परिणाम, उस व्यवहार-रत्नत्रय के रागादि परिणामरूप कर्त्ता का कर्म नहीं है। अहाहा ! व्यवहार-रत्नत्रय का परिणाम निश्चय से ज्ञाता के वीतरागी परिणाम का कर्त्ता नहीं है, क्योंकि व्यवहार-रत्नत्रय का परिणाम पुद्गल का परिणाम है। वह पुद्गल का परिणाम स्वयं को, स्वयं के परिणाम के फल को तथा ज्ञाता-दृष्टा के वीतरागी परिणाम को नहीं जानता।

यद्यपि ऐसे नहीं जाननेवाले व्यवहार-रत्नत्रय की मौजूदगी में जीव का ज्ञाता-दृष्टारूप वीतरागी परिणाम उत्पन्न होता है अर्थात् वीतराग-परिणाम की उत्पत्ति के काल में भूमिकानुसार व्यवहार-रत्नत्रय का राग उपस्थित रहता है; तथापि वह राग वीतराग-परिणाम का कर्त्ता व वीतराग-परिणाम उस व्यवहार-रत्नत्रय के राग का कर्म – ऐसा कर्त्ता-कर्म भाव नही है। अहो ! अद्भुत बात है।

प्रश्न :– आप कहते हैं कि व्यवहार, निश्चय का हेतु नहीं है, किन्तु छहढाला में तो कहा है कि अब व्यवहार मोक्षमग सुनिये, हेतु नियत को होई – इसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर :– हाँ, भाई ! तुम ठीक कहते हो। सुनो ! जहाँ व्यवहार-रत्नत्रय को निश्चय का कारण कहा है, उसका प्रयोजन निमित्त का ज्ञान कराना मात्र है; अतः सहचर देखकर उपचार से आरोपित कथन किया है – ऐसा समझना चाहिए। जब निश्चय-सम्यग्दर्शन अपने स्वभाव के आश्रय

से प्रगट हुआ, उससमय जो देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का राग है, यद्यपि वह निश्चय से सम्यग्दर्शन नहीं है अर्थात् श्रद्धागुण की पर्याय नहीं है; तथापि उसे निश्चय-सम्यग्दर्शन का सहचर देखकर व्यवहार से सम्यग्दर्शन या सम्यग्दर्शन का हेतु कहा है, परन्तु वह शुभराग भी बंध का ही कारण है। निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र यही लक्षण (स्वरूप) है। इसप्रकार मोक्षमार्गप्रकाशक में इसका अच्छा स्पष्टीकरण है।

देखो! शास्त्र में ऐसा आता है कि 'भेदाभेद-रत्नत्रय के आराधक जीवों को गृहस्थ आहार-पानी देते हैं' – भावलिंगी मुनि भेदाभेद-रत्नत्रय के आराधक हैं, अर्थात् वे सेवन तो एक अभेद-रत्नत्रय का ही करते हैं, किन्तु उन्हें भूमिकानुसार व्यवहार-रत्नत्रय का रागभाव आता है, उस रागभाव को उपचार से रत्नत्रय कहा है। अहाहा! महा मुनिवर भावलिंगी सन्त जब अन्दर में अभेद-रत्नत्रयस्वरूप आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द में रमते हैं, उससमय उन्हें देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का जरा-सा विकल्प है, उसे निश्चय-रत्नत्रय का सहचर देखकर – ऐसा कहा है कि वे व्यवहार-रत्नत्रय के या भेद-रत्नत्रय के आराधक हैं, किन्तु यह कथन उपचार का है। वास्तव में तो मुनिराज को आहार-विहार-निहार के समय भी भेदाभेद-रत्नत्रय है, और इससे यह सिद्ध हुआ कि उनके अकेला व्यवहार नहीं है, बल्कि आहार लेते समय भी उनके अभेद-रत्नत्रय है।

यहाँ कहते हैं कि जो भेद है, राग है – वह तो पुद्गल का कार्य है; आत्मा (मुनिवर) उसका आराधन कैसे करे। धर्मी को तो अभेद चैतन्य के आश्रय का अनुभव वेदन में है, उसका आराधन है। उससमय जो राग वर्त्तता है, व्यवहार से उस पर आराधना का आरोप करके यह कहा जाता है कि मुनिवर व्यवहार की आराधना करते हैं। आराधना तो अभेद की एक ही होती है, किन्तु दूसरी वस्तु में – निमित्त में आराधना का आरोप करके, पर की—देव-गुरु-शास्त्र की आराधना की; ऐसा कहा जाता है। मोक्षमार्गप्रकाशक में पण्डितप्रवर श्री टोडरमलजी ने बहुत ही सारगर्भित सरस स्पष्टीकरण किया है। वहाँ लिखा है कि 'मोक्षमार्ग दो नहीं है, किन्तु मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से है।' उसीप्रकार आराधकपना दो प्रकार का नहीं है उसका कथन दो प्रकार से है। इसीतरह साधकपना भी दो प्रकार का नहीं है, उसका कथन दो प्रकार से है। आत्मा का अनुभव निश्चय-साधन है तथा उससमय राग की मन्दता के भाव को सहचर देखकर उपचार से साधन कहा है, वास्तव में तो वह साधन नहीं है।

यहाँ कहते है कि पुद्गल का जीव के साथ कर्त्ता-कर्मभाव नहीं है, क्योंकि पुद्गलद्रव्य के रागादि व हर्ष-शोकादि के परिणाम, ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा के निर्मल वीतरागी परिणाम को ग्रहण नहीं करते, उसरूप परिणमित नहीं होते तथा उसरूप उत्पन्न नहीं होते। अतः रागभाव कर्त्ता व ज्ञानानन्द परिणाम उसका कर्म – ऐसा कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है।

व्यवहार-रत्नत्रय कारण व निश्चय-रत्नत्रय कार्य – ऐसा कथन शास्त्रों में आता है। श्री जयसेनाचार्य की टीका में भी ऐसा कथन बहुत आता है, परन्तु यह तो व्यवहारनय के कथन की शैली है। भाई! वीतराग के वचन पूर्वापर विरोधरहित होते हैं। एक ओर तो कहते हैं कि राग का परिणाम जीव के या मोक्षमार्ग के परिणाम को करता नहीं है और दूसरी ओर कहते हैं – व्यवहारमोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्ग का कारण है – इसप्रकार परस्पर विरोधी कथनों की जो अपेक्षा हो – उस अपेक्षा को यथार्थ समझना चाहिए। अपेक्षा समझते ही सब विरोध मिट जाता है।

गाथा ७९ के भावार्थ पर प्रवचन

'कोई ऐसा जानता हो कि पुद्गल जड़ है तथा किसी को जानता नहीं है, अतः उसका जीव के साथ कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध होगा; परन्तु ऐसा भी नहीं है।' पुद्गल तो जड़ है ही, साथ ही आत्मा में जो व्यवहार-रत्नत्रय का राग होता है – वह भी अचेतन है, जड़ है। पंच महाव्रत का भाव या शास्त्र पढ़ने-सुनने का विकल्प भी अचेतन है, जड़ है। राग स्वयं राग को नहीं जानता तथा आत्मा को भी नहीं जानता, इसकारण वह भी जड़ है – ऐसे अचेतन राग का जीव के साथ कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध मानना मिथ्या है। राग का परिणाम, वह कर्त्ता व धर्मी का जानने का परिणाम, वह उस राग का कर्म – ऐसी मान्यता शास्त्र के विपरीत है। पुद्गलद्रव्य जीव को उत्पन्न नहीं कर सकता है, अर्थात् व्यवहार-रत्नत्रय का रागभाव भी जीव में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग की पर्याय को उत्पन्न नहीं कर सकता, पुद्गल का जीव के साथ कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है।

आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है; इसलिए ज्ञान, राग की पर्याय का कर्त्ता व राग, उसका कर्म – ऐसा भले न हो; किन्तु जड़-पुद्गल तो जानता नहीं है, अतः उसका तो आत्मा के साथ कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध हो सकता है न? व्यवहार-रत्नत्रय का शुभराग, कर्त्ता व धर्मी का स्व के आश्रय से हुआ स्व-पर को जानने का परिणाम, इसका कर्म – ऐसा कर्त्ता-कर्मपना तो हो सकता है या यह भी संभव नहीं है? – ऐसा शिष्य का प्रश्न है। इसके उत्तर में

कहते हैं कि नहीं – ऐसा कर्त्ता-कर्मपना भी नहीं है। बात बहुत सूक्ष्म है, अतः समझने में थोड़ी कठिन मालूम पड़ती है; परन्तु क्या करें ? इसको समझे बिना सुखी होने का अन्य कोई उपाय नहीं हैं, अतः हे भाई ! तुझे सुखी होना हो तो इसे अवश्य समझना पड़ेगा।

जिसको ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा का भान होता है, वह ज्ञानी है। उस ज्ञानी जीव को जो ज्ञान-श्रद्धान व शान्ति के परिणाम होते हैं, वे परिणाम उसके कर्म हैं तथा वह आत्मा उन परिणामों का कर्त्ता है। परन्तु साथ में जो व्यवहार-रत्नत्रय का राग होता है, वह उसका कार्य तथा आत्मा उसका कर्त्ता – ऐसा नहीं है। व्यवहार का राग-परिणाम, कर्त्ता व जीव की तत्समय उत्पन्न हुई, स्व-परप्रकाशक ज्ञानपर्याय, उस राग परिणाम का कर्म – ऐसा कर्त्ता-कर्मपना भी सम्भव नहीं हैं; क्योंकि जानने वाली ज्ञान-पर्याय के आदि-मध्य व अन्त में आत्मा स्वयं है। धर्मी के ज्ञाता-दृष्टारूप परिणाम का कर्त्ता राग नहीं हो सकता। अहाहा ! जिसको चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा का भान हुआ है – ऐसे धर्मी जीव के परिणमन में जो स्व-परप्रकाशक ज्ञान-पर्याय हुई, उसका वह स्वयं कर्त्ता है। यद्यपि उससमय व्यवहार-रत्नत्रय का राग सहचररूप में है, तथापि वह राग ज्ञान-पर्याय का कर्त्ता नहीं है।

आचार्य कहते हैं – "पुद्गलद्रव्य जीव को उत्पन्न नहीं कर सकता एवं ग्रहण नहीं कर सकता; इसलिए उसका जीव के साथ कर्त्ता-कर्मभाव नहीं है।"

'उत्पन्न नहीं कर सकता' – यह कहकर निर्वत्य-कर्म का निषेध कर दिया है। इसीप्रकार 'परिणमा नहीं सकता' व 'ग्रहण नहीं कर सकता' – ऐसा कहकर विकार्य-कर्म व प्राप्य-कर्म का निषेध किया है अर्थात् जीव का ज्ञाता-दृष्टारूप वीतरागी परिणाम पुद्गलद्रव्य का प्राप्य, विकार्य व निर्वर्त्य कर्म नहीं है। अहाहा ! भगवान आत्मा ज्ञान, आनन्द व शान्ति आदि अनन्त-अनन्त शक्तियों का सागर है। इसकी दृष्टि व आश्रय होने पर जो निर्मल श्रद्धा, ज्ञान व शान्ति का परिणाम हुआ, उसे आत्मा उत्पन्न करता है, वह आत्मा का प्राप्य है; किन्तु उस काल में जो राग की मन्दता है, वह उसका प्राप्य नहीं है। अहाहा ! इस निर्मल मोक्षमार्ग के परिणाम के आदि, मध्य व अन्त में तत्समय के राग की मन्दता नहीं है; बल्कि उसके आदि, मध्य व अन्त में तो चैतन्यघन भगवान आत्मा है।

देखो ! यह जिनेश्वरदेव का बताया मार्ग है। भाई ! यह तेरे ही कल्याण का मार्ग है। तू ही निश्चय से जिन और जिनवर है। जिन और

जिनवर में कोई अन्तर नहीं हैं। 'जिन और जिनवर में किञ्चित् भी फर्क नहीं समझ' – ऐसा शास्त्र में भी आता है। अहो ! जिसे अपनी निज की महिमा व अपने ज्ञायक भगवान आत्मा का बड़प्पन वर्तमान पर्याय में ही समझ में आ गया या श्रद्धा में बैठ गया, उसे नियम से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति होती है। इस निर्मल मोक्षमार्ग के परिणाम की उत्पत्ति में राग की किञ्चित् भी अपेक्षा नहीं है। नियमसार की दूसरी गाथा की टीका में कहा है – 'निज परमात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप शुद्ध रत्नत्रयात्मक मार्ग परमनिरपेक्ष है।'

अहो ! देखो तो सही। चारों ओर से एक ही बात सिद्ध होती है। भाई ! यह सर्वज्ञ-वीतराग का मार्ग बाहर के प्रदर्शन की वस्तु नहीं है। यह तो अन्तर में चैतन्य भगवान आत्मा का दर्शन व अनुभवन करने का मार्ग है। जिसमें संसार व संसार का भाव नहीं है – ऐसा आत्मा दृष्टि या अनुभव में आने से जिसे निर्मल रत्नत्रय प्रगट हुआ है, उस ज्ञानी की मोक्षमार्ग की पर्याय के आदि में आत्मद्रव्य स्वयं है। राग जानता नहीं है, इसलिए राग के आदि-मध्य-अन्त में पसरकर समकित आदि उत्पन्न नहीं होते हैं।

लोग कहते हैं कि 'निश्चय-मोक्षमार्ग की निर्मल-पर्याय व्यवहार से होती है'; परन्तु यहाँ कहते हैं कि नहीं भाई ! ऐसा नहीं है। निर्मल-पर्याय व्यवहार से होती है – यह तो निमित्त का कथन है। वीतराग के वचन पूर्वापरविरोधरहित होते हैं। पुद्गलद्रव्य जीवों को उत्पन्न नहीं कर सकता। अन्धकार, प्रकाश को कैसे उत्पन्न कर सकता है ? व्यवहार-रत्नत्रय का राग अन्धकार है। भाई ! निश्चय व व्यवहार-रत्नत्रय की बात ही भिन्न है। एक चैतन्य प्रकाशमय है और दूसरा अन्धकारमय है। गाथा ७२ में राग के बारे में कहा है कि इसे चिद्विकार कहो, अन्धकार कहो या जड़ कहो – सब एक ही बात है। यहाँ भी यह सिद्ध किया है कि राग पुद्गल का परिणाम है और वह शुद्ध चैतन्यपरिणाम को उत्पन्न नहीं कर सकता।

प्रश्न :– अधःकरण, अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण के जो परिणाम होते हैं, उनसे सम्यग्दर्शन होता है या नहीं ?

उत्तर :– भाई ! वस्तुतः बात ऐसी है कि सम्यग्दर्शन करणलब्धि का भी अभाव करके उत्पन्न होता है। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के आदि में शुद्ध चैतन्य आत्मा है, उसकी उत्पत्ति के आदि में करणलब्धि का परिणाम नहीं है। यद्यपि गोम्मटसार में आता है कि पाँच लब्धियों से सम्यग्दर्शन होता

है, परन्तु भाई ! वहाँ तो यह ज्ञान कराया है कि सम्यग्दर्शन के पूर्व पाँच लब्धियाँ होती हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि लब्धियों से सम्यग्दर्शन हुआ।

अहाहा···· ! दिव्य शक्तियों का भण्डार परिपूर्ण सामर्थ्य का धनी सच्चिदानन्द प्रभु (आत्मा) अपनी परिणति में अन्य का (राग का) आधार क्यों ले ? इसीलिये यहाँ स्पष्ट कहा है कि भेद-रत्नत्रय का राग अभेद-रत्नत्रय को उत्पन्न नहीं कर सकता। शास्त्रों में जहाँ ज्ञानी को भेदाभेद-रत्नत्रय का आराधक कहा है, वहाँ ऐसा समझना कि वास्तव में तो एक निर्मल अभेद-रत्नत्रय का ही कर्त्ता व भोक्ता है, इसी रूप में निज स्वभाव का साधक व आराधक है। उस काल में साथ ही भेद-रत्नत्रय के राग की मन्दता का जो भाव है, उसे सहचर व निमित्त देखकर उपचार से उसका साधक कहा है।

कोई कहता है कि दान दो, मन्दिर बनवाओ, रथयात्रायें निकलवाओ, शास्त्र छपवाओ, सस्ते भाव में शास्त्र बेचकर प्रचार करो, तीर्थयात्रा संघ निकालो इत्यादि – इनसे तुम्हारा कल्याण होगा; परन्तु भाई ! ये सब तो विकल्प हैं। शास्त्र सुनने का भाव भी विकल्प है। इन विकल्पों के आदि में पुद्गल है, आत्मा नहीं हैं; तो फिर उनसे आत्मा का कल्याण कैसे होगा ? गजब बात है, नाथ ! तेरी बलिहारी है। हे नाथ ! तू वीतराग-स्वभाव से भरा हुआ प्रभु है। तुझे वीतराग-परिणति की उत्पत्ति के लिए पर की – राग की अपेक्षा क्यों हो ? तेरी खान में ही परिपूर्णता भरी है, तू इस परिपूर्ण स्वभाव का आश्रय ले, उसी के आश्रय से तुझे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वीतरागी पर्याय प्रगट होगी।

कुछ लोग यह कहते हैं कि चौथे गुणस्थान में सराग सम्यग्दर्शन होता है, वीतराग सम्यग्दर्शन नहीं होता; किन्तु भाई ! सराग सम्यग्दर्शन तो कोई सम्यग्दर्शन ही नहीं है, वह तो आरोपित कथनमात्र है। जिसे सम्यग्दर्शन की वीतरागी पर्याय प्रगट होती है, उसे उस काल में देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का मन्दकषायरूप शुभराग भी होता है। उस राग पर सम्यग्दर्शन का आरोप करके, उसे सराग सम्यग्दर्शन कहा जाता है; परन्तु वीतराग सम्यग्दर्शन के बिना सराग सम्यग्दर्शन का (आरोपित कथन का) अस्तित्व भी सम्भव नहीं है।

वीतरागस्वरूप चिदानन्दघन प्रभु का आश्रय लेने पर चौथे गुणस्थान में जो सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, वह वीतरागी पर्याय है। यहाँ कहते हैं कि उस काल में राग की मन्दतारूप शुभभाव भी सहचर है, इसलिए उस पर

आरोप करके ऐसा कहा जाता है कि इस शुभराग से सम्यग्दर्शन हुआ; किन्तु इनका कर्त्ता-कर्मपना नहीं है। अहो ! संतों ने सत् का ढिंढोरा पीटा है। आत्मा अकषायस्वरूप भगवान है। उसे जो अकषाय-परिणाम होता है, वह उसके स्वयं के कारण होता है। राग की मन्दता से आत्मा में अकषाय-परिणाम नहीं होता।

परमार्थ से किसी भी द्रव्य का, किसी अन्य द्रव्य के साथ कर्त्ता-कर्म भाव नहीं है। राग अन्य द्रव्य है तथा आत्मा की निर्मल परिणति आत्मा का स्वद्रव्य है; इसलिए राग की दशा जीव की निर्मल दशा को उत्पन्न करे – ऐसा कर्त्ता-कर्म भाव राग व जीव के बीच में नहीं है। भाव तो बहुत सूक्ष्म है; परन्तु कथन शैली सादी है, प्रयत्न करने पर समझा जा सकता है।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरपरिणतिं पुद्गलश्चाप्यजानन्
व्याप्तृव्याप्यत्वमन्तः कलयितुमसहौ नित्यमत्यंतभेदात्।
अज्ञानात्कर्तृकर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न यावत्
विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्यः ॥५०॥

श्लोकार्थ :– [ज्ञानी] ज्ञानी तो [इमां स्व-पर-परिणतिं] अपनी और पर की परिणति को [जानन् अपि] जानता हुआ प्रवर्तता है [च] और [पुद्गलः अपि अजानन्] पुद्गलद्रव्य अपनी तथा पर की परिणति को न जानता हुआ प्रवर्तता है; [नित्यम् अत्यन्त-भेदात्]– इसप्रकार उनमें सदा अत्यन्त भेद होने से (दोनों भिन्नद्रव्य होने से), [अन्तः] वे दोनों परस्पर अन्तरङ्ग में [व्याप्तृ-व्याप्यत्वम्] व्याप्य-व्यापक भाव को [कलयितुम् असहौ] प्राप्त होने में असमर्थ हैं। [अनयोः कर्तृ कर्मभ्रममतिः] जीव-पुद्गल में कर्त्ता-कर्म भाव है – ऐसी भ्रमबुद्धि [अज्ञानात्] अज्ञान के कारण [तावत् भाति] वहाँ तक भासित होती है कि [यावत्] जहाँ तक [विज्ञानार्चिः] (भेदज्ञान करनेवाली) विज्ञानज्योति [क्रकचवत् अदयं] करवत की भाँति निर्दयता से (उग्रता से) [सद्यः भेदम् उत्पाद्य] जीव-पुद्गल का तत्काल भेद उत्पन्न करके [न चकास्ति] प्रकाशित नहीं होती।

भावार्थ :– भेदज्ञान होने के बाद, जीव और पुद्गल में कर्त्ता-कर्म भाव है – ऐसी बुद्धि नहीं रहती; क्योंकि जब तक भेदज्ञान नहीं होता, तब तक अज्ञान से कर्त्ता-कर्म भाव की बुद्धि होती है।

कलश ५० पर प्रवचन

इस कलश में तो अमृतचन्द्राचार्य ने साक्षात् अमृत ही परोस दिया है। कहते हैं कि 'ज्ञानी तो निज और पर की परिणति को जानता हुआ प्रवर्त्तता है। यहाँ आत्मानुभवी – सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जीव को ज्ञानी कहा गया है। जिसे आत्मानुभवपूर्वक आंशिक वीतराग दशा प्रगट हुई है, वह धर्मी जीव निज और पर की परिणति का मात्र ज्ञाता रहता है। देखो, यहाँ 'परिणति' शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु इसका अर्थ यह है कि ज्ञानी अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को तथा कर्म के (पर के) द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता हुआ प्रवर्तित होता है। धर्मी स्वयं की व पर की परिणति को जानता हुआ प्रवर्तित होता है, तथा पुद्गलद्रव्य अपनी व पर की परिणति को नहीं जानता हुआ प्रवर्तित होता है।

देखो ! जाननेवाला भगवान आत्मा अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता हुआ प्रवर्तता है, परन्तु पर का कर्त्ता बनकर प्रवर्तित नहीं होता। न तो ज्ञानी राग को करता हुआ प्रवर्त्तता है तथा न राग ज्ञान की अवस्था को (आत्मा को) करता हुआ प्रवर्तता है अर्थात् आत्मा व राग में तथा राग व आत्मा में किसी प्रकार का कोई कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है। अहाहा ! आत्मा तो स्व एवं पर को जानने-रूप प्रवर्त्तता है तथा पुद्गल (राग) स्व और पर को नहीं जानता हुआ प्रवर्त्तता है।

इसप्रकार उनमें सदैव अत्यन्त भेद होने से, या उन दोनों में परस्पर अन्तरङ्ग में व्याप्य-व्यापक भाव का अभाव होने से कर्त्ता-कर्मपना सम्भव नहीं है। राग की पर्याय, व्यापक व ज्ञान की पर्याय, व्याप्य – ऐसा परस्पर व्याप्य-व्यापक भाव असम्भव है, अतः राग और ज्ञान से कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं बनता है।

धर्मी जीव अपने ज्ञान व आनन्द के परिणाम को उत्पन्न करता हुआ एवं जानता हुआ प्रवर्त्तता है। तथा रागादि को उत्पन्न नहीं करता, मात्र जानता हुआ प्रवर्त्तता है। स्व-पर को जाननेवाला ज्ञान स्वयं स्वतः परिणमित होता है। यद्यपि वह राग को जानता हुआ प्रवर्त्तता है, तथापि उसके जानने में राग की कारणता नहीं है। राग को व स्व को जानने वाला ज्ञान, राग का कर्त्ता नहीं है एवं राग, उस ज्ञान का कर्म नहीं है। इसीतरह राग का परिणाम (पुद्गल का परिणाम) भी ज्ञान-पर्याय को उत्पन्न नहीं करता। अर्थात् राग, कर्त्ता व निर्मल पर्याय, उसका कर्म – ऐसा कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध भी नहीं है।

'देखो ! तत्त्व की गहराई में ले जा रहे हैं। जहाँ निर्मलानन्द का नाथ चैतन्यघन प्रभु आत्मा विराजता है, वहाँ ले जाना चाहते हैं; क्योंकि वहाँ पहुँचने पर सुख की प्राप्ति होती है। राग तो पुद्गल का परिणाम है, दुःख का परिणाम है। वह दुःख का परिणाम आत्मा की ज्ञान व आनन्द की परिणति को कैसे उत्पन्न कर सकता है? अहाहा! जो स्वयं दुःखरूप है, वह सुख को कैसे उत्पन्न कर सकता है? इसीतरह राग अज्ञानरूप है, वह ज्ञान की पर्याय को उत्पन्न नहीं कर सकता।

शुभोपयोग धर्म नहीं है, धर्म का कारण भी नहीं है। शुभोपयोग को तो प्रत्येक जीव अनादि से करता रहा है, किन्तु चैतन्य की निर्मल परिणतिरूप धर्म आज तक नहीं हुआ – इससे स्पष्ट है कि शुभोपयोग धर्म व धर्म का कारण नहीं है। ज्ञानी की स्व-पर को जाननेवाली पर्याय, राग में मिलकर कैसे हो सकती है? राग तो परद्रव्य है व जानने-देखनेवाली दशा स्वद्रव्य की है, स्वद्रव्य है। पुण्य-पाप अधिकार में आता है कि आत्मा की मोक्षमार्ग की पर्याय में द्रव्यान्तर का सहारा नहीं है। रागादि भाव द्रव्यान्तर हैं, अन्य द्रव्य हैं। आत्मा को उनका सहारा नहीं है। भगवान आत्मा को मात्र अपने स्वभाव का ही सहारा है। आत्मा अपने द्रव्य-स्वभाव से उत्पन्न हुई मोक्षमार्ग की पर्याय का कर्त्ता व वह पर्याय उसका कर्म है। राग व व्यवहार को ज्ञान जानता है, परन्तु जानने मात्र के सम्बन्ध से ज्ञान व राग के परस्पर कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं बन जाता। ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध होते हुए भी राग व आत्मा के परस्पर कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है। राग व आत्मा की निर्मल पर्याय में अत्यन्त भेद है।

नियमसार की गाथा ८२ में कहा है कि 'ऐसा भेदाभ्यास होने पर जीव मध्यस्थ होता है और उससे चारित्र होता है।' रागभाव से चारित्र होता है – ऐसा नहीं कहा, बल्कि राग के भेदाभ्यास से अन्तर में चारित्र होता है – ऐसा कहा है। पहले सम्यग्दर्शन के काल में भेदज्ञान होता है; पश्चात् विशेष भेदाभ्यास से अन्तर में ठहरता है, तब चारित्र होता है, राग से चारित्र नहीं होता – इसप्रकार राग व स्व-पर को जाननेवाले ज्ञायक आत्मा में परस्पर अत्यन्त भेद है। राग व ज्ञान की पर्याय में परस्पर भेद होने से उनमें व्याप्य-व्यापक भाव का अभाव है। राग पुद्गल है व ज्ञान की निर्मल दशा आत्मा है – दोनों भिन्न हैं। उन दोनों में व्याप्य-व्यापकपना नहीं है, इस कारण कर्त्ता-कर्मपना भी नहीं है।

अब कहते हैं कि जब तक अज्ञान के कारण ऐसी भ्रमबुद्धि बनी रहेगी कि पुद्गल व जीव के परस्पर कर्त्ता-कर्मपना है, तब तक करवत् की

भाँति विज्ञान-ज्योति निर्दयतापूर्वक तत्काल ही जीव-पुद्गल में भेद उत्पन्न नहीं कर सकती।

जब आत्मा राग से भेदज्ञान करके, ज्ञान का अनुभव करता है; तब उसको पर का कर्त्ता-कर्मपना छूट जाता है। जो दृष्टि को पर्याय से हटाकर द्रव्य पर ले जाता है, उसको विज्ञानघनज्योति प्रगट होती है। भले ज्ञान थोड़ा हो; परन्तु स्व-पर का भेदज्ञान करके स्वानुभव करे, तो वह स्व में लगा हुआ ज्ञान ही विज्ञान-ज्योति है। अहाहा! चैतन्यमूर्त्ति भगवान आनन्द का नाथ भिन्न है तथा राग भिन्न है – ऐसा आत्मानुभव करना ही विज्ञानज्योति है। यह विज्ञानज्योति करवत् की भाँति निर्दयता से अर्थात् उग्रता से जीव-पुद्गल का तत्काल भेद करके प्रगट होती है।

जैसे – पानी पर तैल-बिन्दु भिन्न हो जाता है, उसीप्रकार स्वानुभव करने पर राग की चिकनाहट तथा आत्मा की वीतरागता – दोनों भिन्न हो जाते हैं। अहो! कैसा कलश व कैसी टीका? आचार्यदेव ने गजब काम किया है।

आत्मा दया, दान आदि भावों से भिन्न है; इसलिए इनके विकल्पों से चारित्र प्रगट नहीं होता, क्योंकि इन रागरूप विकल्पों में व आत्मा के वीतरागी परिणामों में परस्पर कर्त्ता-कर्मपना नहीं है। भगवान आत्मा अपने निर्मल श्रद्धान-ज्ञान-चारित्ररूप से परिणमित हो तथा वही राग को भी करे और राग-सम्बन्धी ज्ञान को भी करे – ऐसा नहीं होता। भाई! यह अन्तर के मर्म की बात है, बाहर की पण्डिताई इसमें काम नहीं आती।

भेदज्ञान द्वारा ज्यों ही ज्ञान, राग से भिन्न होकर आत्मसम्मुख होता है कि तुरन्त उसीसमय राग व चैतन्य की भिन्नता भासित हो जाती है, तथा चैतन्यमूर्त्ति भगवान आत्मा प्रकाशित हुआ अर्थात् चैतन्य की परिणति प्रकाशित हो जाती है – इसे ही धर्म कहते हैं। यह सर्वज्ञदेव अरहन्त परमात्मा व दिगम्बर मुनिवरों का वचन है। ऐसी बात दिगम्बर धर्म के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं है।

भाई! ये जन्म-मरण का दुःख, ये चौरासी का चक्कर राग की एकताबुद्धि के कारण ही हो रहा है। उस राग से भेदज्ञान होने पर सम्यग्दर्शन प्रगट होते ही जन्म-मरण के समस्त दुःखों से छुटकारा मिल जाता है। मनुष्य तो क्या? तिर्यञ्च भी भेदज्ञान करके सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। भले ही सात तत्त्वों के नाम याद न हों, तथापि आत्मा के स्वभाव का भान हो जाता है, आत्मानुभव करने पर उसे ही

अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है, उसको भी वह दशा संवर है, तथा जिसके आश्रय से अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया, वह चैतन्य-स्वभावमय जीव है – ऐसा उसको भावभासन होता है। यह अन्तर की वस्तु है, वाद-विवाद या तर्क-वितर्क से समझ में नहीं आ सकती।

नियमसार में स्व-समय व पर-समय के साथ वाद-विवाद करने का का निषेध किया है। जैसे – किसी को दो-पाँच करोड़ रुपये की निधि मिल जाए तो वह अपने घर में बैठकर अकेला उसे भोगता है, उसीप्रकार तुझे ज्ञाननिधि प्राप्त हुई हो तो उसे अकेले भोगना, परन्तु वाद-विवाद मत करना; क्योंकि जीवों के कर्म अनेक प्रकार के, स्वभाव अनेक प्रकार के तथा ज्ञान का उघाड़ भी अनेक प्रकार का होता है; इसलिए यह बात किसी के ज्ञान में न बैठे तो भी वाद-विवाद मत करना।

कलश ५० के भावार्थ पर प्रवचन

भेदज्ञान होने के बाद जीव व पुद्गल में कर्त्ता-कर्म भाव है – ऐसी बुद्धि नहीं रहती। शरीर-मन-वाणी-कर्म इत्यादि जड़ की पर्याय के साथ तो जीव का अज्ञान अवस्था में भी कर्त्ता-कर्मभाव नहीं है। यहाँ पुद्गल का अर्थ राग-द्वेष समझना। 'व्यवहार के रागभाव से ज्ञानस्वभावी आत्मा भिन्न है' – ऐसा भेदज्ञान जहाँ हुआ, वहाँ जीव व पुद्गल (राग) में कर्त्ता-कर्मभाव की बुद्धि नहीं रहती है। अहाहा! जहाँ निश्चय के विषयभूत सच्चिदानन्द प्रभु का आश्रय लेकर राग से भिन्न किया, वहाँ शरीर-मन-वाणी इत्यादि का कर्त्तापना तो रह ही नहीं सकता है। अन्दर में विद्यमान दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के शुभभाव के साथ भी जीव की कर्त्ता-कर्मपने की बुद्धि छूट जाती है।

यहाँ कोई अनजान व्यक्ति ऐसा कह सकता है कि आप व्यवहार को सर्वथा हेय कहते हो, सो यह तो एकान्त है – मिथ्यात्व है। उसका समाधान करते हैं कि 'व्यवहार के दया, दान, आदि के परिणामों का मैं कर्त्ता तथा ये परिणाम मेरे कर्म' – ऐसी मान्यता अज्ञान व मिथ्यात्वभाव है। भाई! व्यवहाररूप राग से भेदज्ञान करके, उसे हेय मानकर, एक निज ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा को ही उपादेय माने एवं उसी का आश्रय करे; तब जीव का पुद्गल के साथ माने हुए कर्त्ता-कर्मभाव का अभाव होता है।

देखो! एक बार ऐसा दुःखद प्रसंग बना कि एक बीस वर्ष का लड़का था। वह पागल कुत्ते के काटने से पागल हो गया। थोड़े दिन पूर्व ही

उसकी शादी हुई थी। उसे इतना दुःख कि देखनेवाले भी रो-रो पड़े, परन्तु उसका दुःख कौन दूर करे? परद्रव्य में जीव कर ही क्या सकता है? परद्रव्य का कर्त्ता ज्ञानी तो है ही नहीं; परन्तु अज्ञान भाव से अज्ञानी भी परद्रव्य का कर्त्ता नहीं है। उस विचारे को लोगों ने साँकलों से बाँधा, तथापि दुःख के कारण तड़फता था। यहाँ-वहाँ भागा-भागा प्राण देने को – मरने को फिरता था। अरे रे! इतना दुःख कि देखा नहीं जाता। थोड़ी ही देर में उसकी देह छूट गयी। अरे भाई! देह उसकी थी ही कब, जो उसके साथ रहती? भाई! आत्मा के भान बिना जीव ने ऐसे मरण अनन्त बार किये हैं। बापू! राग को अपना मानकर जो राग में अटके हैं – ऐसे अज्ञानी जीवों को भेदज्ञान के बिना भयंकर दुःख आ पड़ते हैं। राग को हेय मानकर आत्मा का अनुभव करना ही वस्तुतः भेदज्ञान है। प्रभु! यह भेदज्ञान ही तुझे एकमात्र शरण है, अन्य कुछ भी शरण नहीं है। जो राग को हेय नहीं मानते; उसकी रुचि नहीं छोड़ते – उन्हें आत्मा की रुचि कहाँ से हो? एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं। भाई! दया, दान, व्रतादि का राग हेय है – ऐसा पहले स्वीकार तो कर! तभी तुझे भेदज्ञान या आत्मानुभव होगा।

शरीर-मन-वाणी, कुटुम्ब-कबीला – सब धूल है, इनको अपना मानने की तो बात ही कहाँ है? किन्तु भाई! अन्दर में जो शुभराग होता है, उसकी भी रुचि छोड़नी पड़ेगी। प्रभु! आत्महित करना हो तो सुख का सही मार्ग यह ही है, अन्यथा मरण करके कहाँ चला जायगा? पता भी नहीं लगेगा। जो मान के खातिर मरता है, वह कहीं कीड़ा-मकोड़ा, लट-गिजाई की पर्यायें धर-धर कर अन्त में नरक निगोद में जा पड़ता है। भाई! तेरे दुःखों का तुझे पता नहीं है। जो तूने भोगे हैं; उनको देखनेवाले भी फूट-फूटकर रोये हैं – ऐसे अपार पारावार दुःख, तूने अज्ञानभाव से अनन्त बार भोगे हैं।

चैतन्य सम्पदा से भरपूर – भरा हुआ पूर्णानन्द का नाथ भगवान तेरे अन्दर त्रिकाल विराजता है और राग तो एकसमय मात्र की क्षणिक अवस्था है। तेरी वस्तु यानी तू, उस राग से भिन्न है। अरे भाई! राग आस्रव व बन्ध तत्त्व है, जबकि तू निराला ज्ञायक अबन्ध तत्त्व है। राग अचेतन है, जबकि तू चैतन्यमय भगवान है। राग से भिन्न आत्मा का ज्ञान, भेदज्ञान है। प्रभु! तू जहाँ है – वहाँ जा, वहाँ दृष्टि डाल! यह देह तो उसकी स्थिति पूरी होने पर छूट जायगी। देह तेरी है कहाँ, जो तेरे साथ रहे? भाई! यह मार्ग ही जुदा है – निराला है। दुनिया के साथ मेल

बिठायेगा तो मेल नहीं बैठेगा। यहाँ अपने साथ मेल बिठा, तेरा मेल तेरे साथ ही बैठ सकता है; क्योंकि वस्तु में ऐसा ही स्वभाव व सामर्थ्य है, पर के साथ मेल बैठे – ऐसी सामर्थ्य आत्मा में नहीं है।

जब राग से भिन्न पड़कर आत्मा का अनुभव होता है, तब अपनी वर्तमान पर्याय की कमजोरी से जो राग होता है, उसे ज्ञानी जानता है, उसे व्यवहार कहते हैं। तथा राग से भेदज्ञान हुए बिना जो राग में रहता है, वह व्यवहार-विमूढ़ है। समयसार गाथा ४१३ में कहा है कि 'जो अनादिरूढ़, व्यवहारमूढ़ और निश्चय में अनारूढ़ हैं, वे भगवान आत्मा का अनुभव नहीं करते। अहो! कुन्दकुन्दाचार्य व अमृतचन्द्राचार्य भगवन्तों ने अपार करुणा की है। उन्हें करुणा का विकल्प उठा और किसी धन्य घड़ी में यह शास्त्र बन गया। यह भव्यजीवों का महाभाग्य है, जो ऐसी वस्तु भरतक्षेत्र में मौजूद रह गई।

यहाँ कहते हैं कि 'व्यवहार के राग से भगवान आत्मा भिन्न है' – ऐसा जो जानता है, उस जीव को स्वयं व पुद्गल में परस्पर कर्ता-कर्मपने की बुद्धि नहीं रहती। यहाँ पुद्गल का अर्थ राग है। ७५वीं गाथा में जड़ की दशा तथा राग आदि सबको पुद्गल-परिणाम कहा है। धर्मी जीव को भेदज्ञान हुआ है; इसकारण राग को धर्मी जानता है, किन्तु राग मेरा कार्य है तथा मैं उसका कर्ता हूँ – ऐसा वह नहीं मानता।

एक सेठ था, उसे प्रतिदिन चूरमे के लड्डू खाने की आदत थी, अन्य कुछ उसे भाता नहीं था। एक बार उसके युवा पुत्र का मरण हो गया। सेठ को रोटी वगैरह अन्य कुछ अनुकूल नहीं था; इसलिए घरवालों ने कहा कि भाई! तुम्हारे स्वास्थ्य के लिए लड्डू के सिवाय अन्य रोटी आदि अनुकूल नहीं पड़ती, इसलिए तुम चूरमे के लड्डू ही खाओ। अहा! एक ओर युवा पुत्र का दुःख, आँखों में आँसुओं की धारा और दूसरी ओर चूरमे के लड्डू खाना। यहाँ लड्डू खाता जाता था, वहाँ लड्डू खाने में जरा भी रुचि नहीं, प्रेम नहीं, अन्य दिनों जैसा उत्साह नहीं। इसीप्रकार धर्मी को राग आता है, परन्तु उस राग के प्रति उसे प्रेम नहीं है। पर के प्रेम का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अहाहा! अन्दर चैतन्यमूर्त्ति भगवान ज्ञायकस्वरूप अनन्त आनन्द की सम्पदा से भरा प्रभु है, उसकी रुचि होने से राग की रुचि टूट गई है। अतः 'राग मेरा कर्म व मैं राग का कर्त्ता' – ऐसी मान्यता ज्ञानी के नहीं रही।

प्रश्न :– आप स्वयं तो सम्पूर्ण व्यवहार की क्रियाएँ करते हैं और साथ में इसे हेय भी कहते हैं? – यह बात समझ में नहीं आती, थोड़ा इसका स्पष्टीकरण करके समझाइये।

उत्तर :– अरे भाई ! व्यवहार तो परद्रव्य की क्रिया है – उसे कौन कर सकता है ? आत्मा उसका कर्त्ता नहीं है, तथापि भगवान की पूजा-भक्ति, शास्त्र-स्वाध्याय आदि राग भूमिकानुसार यथासम्भव होता अवश्य है; परन्तु ये सब हेयबुद्धि से होता है। जब तक राग के साथ एकताबुद्धि रहती है, तब तक 'मैं राग का कर्त्ता व राग मेरा कर्म' – ऐसी मिथ्या मान्यता होती है, परन्तु राग से भेदज्ञान होने पर जब भगवान ज्ञायक स्वरूप शुद्ध आत्मा का अनुभव हुआ तो फिर जीव को पुद्गल अथवा राग के साथ कर्त्ता-कर्मपने की बुद्धि नहीं रहती। भाई ! धर्मी को राग होता अवश्य है, परन्तु राग का प्रेम व आदर नहीं होता; इसलिए हे भाई ! 'व्यवहार से लाभ होगा – धर्म होगा', ऐसी मान्यता छोड़ दे। जब तक व्यवहार की रुचि नहीं छूटेगी, तब तक भेदज्ञान प्रगट नहीं होगा।

बन्ध अधिकार में कलश १७३ में आया है कि "सर्व वस्तुओं में जो अध्यवसान होता है, उसे जिनेन्द्र भगवान ने त्यागने योग्य कहा है; इसलिए हम ऐसा मानते हैं कि पर जिसका आश्रय है – ऐसा सम्पूर्ण ही व्यवहार छुड़ाया है, अतः सत्पुरुष एक सम्यक्-निश्चय को ही अंगीकार करके शुद्ध ज्ञान-घनस्वरूप निज महिमा में स्थिर क्यों नहीं होते ?"

'मैं पर को जिलाऊँ, मारूँ, सुखी-दुःखी करूँ' – ऐसा जो अध्यवसान है, वह सब जिनेन्द्रदेव ने छोड़ने योग्य कहा है। दूसरों को जीवनदान दे सकता हूँ, मार सकता हूँ, सुखी-दुःखी कर सकता हूँ – ऐसी मान्यता तो मिथ्यात्व है, क्योंकि तू पर का कुछ कर ही नहीं सकता – यह सिद्धान्त है। तेरा यह अध्यवसान मिथ्या है, इसकारण यह मान्यता भी मिथ्या है। आचार्यदेव कहते हैं कि जिनेन्द्रदेव ने यह सभी अध्यवसान त्यागने योग्य कहे हैं, इसलिए हम ऐसा मानते हैं कि 'पर' जिसका आश्रय है – ऐसा समस्त व्यवहार ही छुड़ाया है। व्यवहार-रत्नत्रय का राग भी पराश्रयभाव होने से छुड़ाया है। जहाँ इतनी ऊँची बात कह दी, वहाँ व्यवहार से लाभ होने की बात ही कहाँ रही ?

शरीर-मन-वाणी-इन्द्रिय इत्यादि तो पर है, निश्चय से तो आत्मा इन्हें ग्रहण ही नहीं करता और छोड़ता भी नहीं है; क्योंकि आत्मा पर के ग्रहण-त्याग से शून्य है – ऐसी त्याग-उपादानशून्यत्व नाम की एक शक्ति आत्मा में अनादि से है, इसलिए आत्मा पर के ग्रहण-त्याग से रहित है। अतः उसमें पर के ग्रहण-त्याग की जो मान्यता है, वह मिथ्याबुद्धि है। अहाहा ! जब अनन्त तीर्थंकरों ने ऐसा कहा है, फिर भी सत्पुरुष एक सम्यक्-निश्चय को ही निष्कम्परूप से शुद्ध अंगीकार करके ज्ञानघनरूप

अपनी महिमा में स्थिति क्यों नहीं करते ? पराश्रय से लाभ होने की बात तो दूर रही ? अतः हे जीव ! उसे छोड़ ! तेरा मार्ग तो यह एक ही है। तू तो ज्ञानानन्दस्वरूप निज शुद्ध चैतन्य भगवान आत्मा में ही स्थित हो जा !

मोक्षमार्गप्रकाशक में पण्डित टोडरमलजी ने भी यही कहा है कि 'निश्चयनय से जो निरूपण किया है, उसे सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान करना तथा व्यवहारनय से जो निरुपण किया हो उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना।' जब जिनवाणी में जगह-जगह इतना स्पष्ट कथन है तो 'व्यवहार आदरणीय है' – यह बात ही कहाँ रही ? तथापि जब तक पूर्ण वीतरागता नहीं हो जाती, तब तक निश्चय के साथ व्यवहार का राग रहता अवश्य है, परन्तु वह आदरणीय नहीं है तथा उससे धर्म का लाभ नहीं होता। मोक्षमार्गप्रकाशक के पृष्ठ २५५ पर एक गाथा उद्धृत है, उसमें कहा है – 'जो व्यवहार में सोता है, वह योगी अपने कार्य में जागता है तथा जो व्यवहार में जागता है, वह अपने कार्य में सोता है।'

अहा ! जो राग के भाव में जागृत है, वह निजकार्य में सोता है; इसलिए व्यवहार का श्रद्धान छोड़कर, निश्चय का श्रद्धान करना योग्य है। वहीं और भी कहा है कि "व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य को व उनके भावों को व कारणकार्यादि को किसी को, किसी में मिलाकर निरूपण करता है सो ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है, इसलिए उसका त्याग करना तथा निश्चयनय उसी का यथावत् निरूपण करता है तथा किसी को किसी में मिलाता नहीं है – ऐसे श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है, इसलिए इसका श्रद्धान करना।" 'शुभराग से आत्मा को लाभ होता है, व्यवहार साधन व निश्चय साध्य' – ऐसा व्यवहारनय कथन करता है, किन्तु ऐसे श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है – ऐसा वहाँ कहा है, इसलिए ऐसा श्रद्धान छोड़ना।

देखो ! राग के विकल्प से भिन्न आत्मा सच्चिदानन्दरूप भगवान है। इसका अनुभव होने पर भेदज्ञान प्रगट होने से ज्ञानी को पुद्गल अर्थात् राग के साथ कर्त्ता-कर्मपने की बुद्धि नहीं रहती, किन्तु जब तक भेदज्ञान नहीं होता तब तक जीव को अज्ञान से कर्त्ता-कर्मभाव की बुद्धि होती है। अहा ! ज्ञायकरूप भगवान आत्मा व रागभाव – इन दोनों में जब तक जीव को एकत्वबुद्धि है, तब तक अपने अज्ञान से वह ऐसा मानता है कि राग मेरा कर्त्तव्य और मैं उसका कर्त्ता हूँ; परन्तु भाई ! तू अपना दुराग्रह छोड़ दे ! यह तो सीधी बात है, तेरी समझ में आसानी से आ सकती है।

जीवपुद्गलपरिणामयोरन्योऽन्यनिमित्तमात्रत्वमस्ति, तथापि न तयोः कर्तृकर्मभाव इत्याह :—

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पोग्गला परिणमंति ।
पोग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि ॥८०॥

ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे ।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि ॥८१॥

एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण ।
पोग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥८२॥

जीवपरिणामहेतुं कर्मत्वं पुद्गलाः परिणमंति ।
पुद्गलकर्मनिमित्तं तथैव जीवोऽपि परिणमति ॥८०॥
नापि करोति कर्मगुणान् जीवः कर्म तथैव जीवगुणान् ।
अन्योन्यनिमित्तेन तु परिणामं जानीहि द्वयोरपि ॥८१॥
एतेन कारणेन तु कर्ता आत्मा स्वकेन भावेन ।
पुद्गलकर्मकृतानां न तु कर्ता सर्वभावानाम् ॥८२॥

यद्यपि जीवके परिणाम और पुद्गलके परिणामके अन्योन्य (परस्पर) निमित्तमात्रता है, तथापि उनके कर्त्ताकर्मपना नहीं है—ऐसा अब कहते हैं :—

जीवभाव हेतु पाय पुद्गल, कर्मरूप जु परिणमे ।
पुद्गलकरम के निमित से, यह जीव भी त्यों परिणमे ॥८०॥
जीव कर्मगुण करता नहीं, नहिं जीवगुण कर्म हि करे ।
अन्योन्य के हि निमित्त से, परिणाम दोनों के बने ॥८१॥
इस हेतु से आत्मा हुआ, कर्त्ता स्वयं निज भाव ही ।
पुद्गलकरम कृत सर्व भावों का कभी कर्त्ता नहीं ॥८२॥

गाथार्थ :—[पुद्गलाः] पुद्गल [जीवपरिणामहेतुं] जीव के परिणाम के निमित्त से [कर्मत्वं] कर्मरूप में [परिणमंति] परिणमित होते हैं, [तथा एव] तथा [जीवः अपि] जीव भी [पुद्गलकर्मनिमित्तं]

यतो जीवपरिणामं निमित्तीकृत्य पुद्गलाः कर्मत्वेन परिणमंति पुद्गलकर्मनिमित्तीकृत्यजीवोऽपि परिणमतीति जीवपुद्गलपरिणामयोरितरेतरहेतुत्वोपन्यासेऽपि जीवपुद्गलयोः परस्परं व्याप्यव्यापकभावाभावाज्जीवस्य पुद्गलपरिणामानां पुद्गलकर्मणोऽपि जीवपरिणामानां कर्तृकर्मत्वासिद्धौ निमित्तनैमित्तिकभावमात्रस्याप्रतिषिद्धत्वादितरेतरनिमित्तमात्रीभवनेनैव द्वयोरपि परिणामः। ततः कारणान्मृत्तिकया कलशस्येव स्वेन भावेन स्वस्य भावस्य करणाज्जीवः स्वभावस्य कर्त्ता कदाचित्स्यात्, मृत्तिकया वसनस्येन स्वेन भावेन परभावस्य कर्तुमशक्यत्वात्पुद्गलभावानां तु कर्त्ता न कदाचिदपि स्यादिति निश्चयः।

पुद्गलकर्म के निमित्त से [परिणमति] परिणमन करता है। [जीवः] जीव [कर्मगुणान्] कर्म के गुणों को [न अपि करोति] नहीं करता, [तथा एव] उसीप्रकार [कर्म] कर्म [जीवगुणान्] जीव के गुणों को नहीं करता; [तु] परन्तु [अन्योन्यनिमित्तेन] परस्पर निमित्त से [द्वयोः अपि] दोनों के [परिणामं] परिणाम [जानीहि] जानो। [एतेन कारणेन तु] इस कारण से [आत्मा] आत्मा [स्वकेन] अपने ही [भावेन] भाव से [कर्त्ता] कर्त्ता (कहा जाता) है [तु] परन्तु [पुद्गलकर्मकृतानां] पुद्गलकर्म से किये गये [सर्वभावानाम्] समस्त भावों का [कर्त्ता न] कर्त्ता नहीं है।

टीका :– 'जीवपरिणाम को निमित्त करके पुद्गल कर्मरूप परिणमित होते हैं और पुद्गलकर्म को निमित्त करके जीव भी परिणमित होते हैं' – इसप्रकार जीव के परिणाम के और पुद्गल के परिणाम के परस्पर हेतुत्व का उल्लेख होने पर भी जीव और पुद्गल में परस्पर व्याप्यव्यापक भाव का अभाव होने से जीव को पुद्गल-परिणामों के साथ और पुद्गलकर्म को जीव-परिणामों के साथ कर्ता-कर्मपने की असिद्धि होने से, मात्र निमित्त-नैमित्तिकभाव का निषेध न होने से, परस्पर निमित्तमात्र होने से ही दोनों के परिणाम (होता) है। इसलिये जैसे मिट्टी द्वारा घड़ा किया जाता है, (अर्थात् जैसे मिट्टी ही घड़ा बनाती है) उसीप्रकार अपने भाव से अपना भाव किया जाता है, इसलिये जीव अपने भाव का कर्त्ता कदाचित् होता है, परन्तु जैसे मिट्टी से कपड़ा नहीं किया जा सकता, उसीप्रकार अपने भाव से परभाव का किया जाना अशक्य है; इसलिये (जीव) पुद्गलभावों का कर्त्ता तो कदापि नहीं हो सकता – यह निश्चय है।

भावार्थ :– जीव के परिणाम के और पुद्गल के परिणाम के परस्पर मात्र निमित्त-नैमित्तिकपना है तो भी परस्पर कर्त्ता-कर्मभाव नहीं है। पर के

निमित्त से जो अपने भाव हुए उनका कर्त्ता तो जीव को अज्ञान दशा में कदाचित् कह भी सकते हैं, परन्तु जीव परभाव का कर्त्ता कदापि नहीं है।

गाथा ८०-८१-८२ की उत्थानिका, गाथा व टीका पर प्रवचन

अब यहाँ इन गाथाओं में यह कहते हैं कि – 'यद्यपि जीव के एवं पुद्गल के परिणामों (पर्यायों के परिणमन) में परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, तथापि कर्त्ता-कर्म सम्वन्ध नहीं है।'

पिछली ७५ से ७९ गाथाओं में भेदज्ञान की अपेक्षा कथन था, अतः वहाँ जीव के परिणाम का अर्थ निर्मल वीतरागी परिणाम किया गया था, जबकि यहाँ अज्ञानी की अपेक्षा बात है; अतः यहाँ परिणाम का अर्थ विकारी परिणाम है।

पहले 'अपने परिणाम को जानता हुआ आत्मा' – ऐसा जो कहा था – उस कथन में जीव के निर्मल वीतरागी परिणाम की बात थी; तथा 'पुद्गल पर के परिणाम को नहीं जानता है' – ऐसा जो कहा था, उसमें भी 'पर के परिणाम' अर्थात् जीव की निर्मल वीतरागी परिणाम की बात थी।

यहाँ अज्ञानी की वात है अर्थात् मिथ्यात्व व राग-द्वेष के परिणाम को यहाँ जीव का परिणाम कहा है तथा जड़-कर्म की दशा को पुद्गल-परिणाम कहा है। उन दोनों के परस्पर निमित्तपना मात्र है अर्थात् जीव के विकारी परिणामों में पुद्गलकर्म के परिणामों का निमित्त है तथा पुद्गल कर्म का उदय जीव के राग-द्वेष परिणाम का निमित्त है, तथापि इन दोनों के कर्त्ता-कर्मपना नहीं है।

जो कर्मबन्ध होता है, उसमें जीव का विकार निमित्त है। यहाँ निमित्तपने का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि निमित्त अर्थात् मात्र पर की उपस्थिति। निमित्त है; इसलिए कर्मबन्ध होता है – ऐसा नहीं समझना; बल्कि उससमय कर्म के परमाणुओं का कर्मरूप होने का – परिणमन करने का अपना स्वकाल है, इसकारण वे कर्मरूप परिणमे हैं, न कि रागादि निमित्तों के कारण; निमित्त तो बस, उपस्थित मात्र हैं।

पंचास्तिकाय गाथा ६२ में कहा है कि समय-समय के जीव के विकारी परिणाम स्वय अपने षट्कारकों से होते हैं। उनमें पर कारकों की अपेक्षा नहीं है। जीव का विकारी परिणाम स्वयं स्वतः से स्वयं के षट्कारक रूप परिणमन से होते हैं, इसमें जड़-कर्म के कारकों की अपेक्षा

बिल्कुल भी नहीं है। यहाँ कोई कहे कि वह तो अभिन्न षट्कारक की बात है, उससे कहते हैं कि अभिन्न षट्कारक का भी तो यही अर्थ है कि विकारी परिणाम भी स्वयं स्वतः स्वतंत्र होते हैं। निमित्ताधीन दृष्टिवालों को तो स्वतंत्रता की बात बैठती ही नहीं है, पर क्या करें – वस्तुस्वरूप ही ऐसा है। निमित्त है, इसकारण जीव विकारपने परिणमता है – ऐसा नहीं है, यहाँ तो बस इतना सिद्ध किया है कि निमित्तपना है।

"जीवपरिणाम को निमित्त करके पुद्गल कर्मरूप परिणमित होते हैं तथा पुद्गलकर्म को निमित्त करके जीव भी परिणमित होते हैं।"

देखो ! कर्मरूप से परिणमन करने का पुद्गल का अपना स्व-काल था, उसी समय जीव में जो शुभाशुभराग का परिणाम था, उसे उस कर्मबन्ध में निमित्त कहा गया है। जीव के शुभाशुभरागरूप निमित्त ने पुद्गल को कर्मरूप परिणमाया नहीं है। यदि निमित्त परिणमा दे तो निमित्त निमित्त ही नहीं रहेगा, किन्तु उपादान हो जायेगा। कर्म व आत्मा – दोनों एक हो जायेंगे। यहाँ जो जीवपरिणाम कहा है, वह विकारी परिणाम की बात है तथा गाथा ७५ से ७८ में जो जीवपरिणाम की बात कही थी, वह निर्मल वीतरागी परिणाम की बात थी; वहाँ भेदज्ञानी के परिणाम की बात थी, यह अज्ञानी के परिणाम की बात है। जहाँ जो जैसी अपेक्षा हो, वहाँ वह वैसी ही समझना चाहिए। यहाँ कहते हैं कि जीव के परिणाम को निमित्त करके, अथवा जीव के जो मिथ्यात्व व रागद्वेष के परिणाम हैं, उन्हें निमित्त करके पुद्गल कर्मरूप से परिणमते हैं। परमाणु जो अकर्मरूप अवस्था में थे, वे पलटकर जिस अवस्थारूप से हुए, वह उस परमाणुओं के पलटन या परिणमन का स्वकाल था, निजक्षण था, जन्मक्षण था; निमित्त के कारण अर्थात् विकार के कारण पुद्गल के परिणमन का कार्य नहीं हुआ है।

जीव में भी मिथ्यात्व व राग-द्वेष के परिणाम होने का निजक्षण है तथा तत्समय कर्मोदय का परिणाम निमित्त कहलाता है। जब जीव का विकारभाव से परिणमन करने का काल है, तब कर्म का उदय उसमें निमित्त है। कर्म का उदय था, इसलिए जीव में राग-द्वेष का विकारी परिणाम हुआ अथवा कर्मोदय के कारण जीव को राग-द्वेषरूप होना पड़ा – ऐसा नहीं है। यदि ऐसा हो तो निमित्त व उपादान अथवा कर्म व जीव – दोनों एक हो जायें, जबकि ऐसा कभी नहीं होता। अतः सिद्ध है कि प्रत्येक कार्य उपादान से ही होता है, निमित्त से नहीं। निमित्त तो मात्र कार्योत्पत्ति के समय उपस्थित होता है।

अहाहा ! आत्मा अद्भुत चैतन्य चमत्काररूप हीरा है। जिसने इसका मूल्यांकन नहीं कर पाया, वह जीव मिथ्यात्व व राग-द्वेषरूप परिणमता है। उस विकारी भाव की उपस्थिति में पुद्गल की जो कर्मरूप अवस्था होती है, वह पुद्गल का स्वतन्त्र परिणमन है। यहाँ यदि कोई कहे कि — यदि राग-द्वेष न किया होता तो क्या कर्मबन्ध होता ? परन्तु भाई ! यह प्रश्न ही कहाँ है ? (एक अवस्था में दूसरी अवस्था की कल्पना का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता) यहाँ तो यह कह रहे हैं कि जीव ने राग-द्वेष किए, इसलिए पुद्गल को कर्मरूप परिणमन करना पड़ा — ऐसी पराधीनता नहीं है। प्रत्येक वस्तु का परिणमन स्वतन्त्र है, दो द्रव्यों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है।

जीव के परिणामों को निमित्त करके, पुद्गल कर्मरूप परिणमता है, यहाँ 'निमित्त करके' शब्द का प्रयोग किया है; किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि निमित्त है, इसलिए पुद्गल ने कर्मरूप परिणमन किया है। क्या इस पुद्गल को ज्ञात है कि जीव में राग है, इसलिए मुझे कर्मरूप परिणमन करना चाहिए ? नहीं, ऐसा बिल्कुल नहीं है। रागादि के कारण पुद्गल दर्शनमोहरूप से परिणमन नहीं करते, बल्कि उसकाल में उन परमाणुओं की योग्यता ही ऐसी है कि वे परमाणु उस कर्मरूप अवस्था में परिणमित होते हैं और तब उससमय हुए जीव के विकारी परिणामों को उनका निमित्त कहा जाता है।

इसीप्रकार पुद्गलकर्म का निमित्त करके, जीव भी रागादिरूप परिणमित होता है। अथवा जब जीव स्वयं स्वाधीनता से राग-द्वेषरूप परिणमता है, तब जड़-कर्म का उदय निमित्तमात्र है। कर्म का उदय निमित्त है, इसलिए जीव राग-द्वेषपने परिणमित होता है — ऐसा नहीं है। 'निमित्त करके' अर्थात् वहाँ निमित्तपना है, निमित्त की उपस्थिति है, बस इतनी बात है। इसके अतिरिक्त कार्य के होने में निमित्त का कोई स्थान नहीं है। देखो ! जब दोनों का काल ही एक है तो फिर यह बात ही कहाँ रही कि 'यह है, इसलिए यह हुआ'। मात्र निमित्त है, इतनी सी बात है। जीव का परिणाम एक समय का सत् स्वयं से है। कर्मपरिणाम का उत्पाद हुआ, इसलिए जीवपरिणाम है — ऐसा भी नहीं है। तथा जीव के राग-द्वेष के परिणाम का उत्पाद हुआ, इसलिए उस काल में कर्म का परिणाम हुआ — ऐसा भी नहीं है। 'निमित्त करके' — ऐसा जो कहा है, उसका अर्थ तो इतना है कि कार्य होने पर निमित्त होता है।

जितनी मात्रा में जीव के राग-द्वेष परिणाम होते हैं, उतनी मात्रा में ही तत्सम्बन्धी द्रव्यकर्म बन्धता है। इसीतरह जितने प्रमाण में मिथ्यात्व का भाव होता है, उतने प्रमाण में तत्सम्बन्धी द्रव्यकर्म बँधता है – इतना सत्य है, तथापि द्रव्यकर्म व भावकर्म के परस्पर कारणता नहीं है, मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

'इस प्रकार जीव के परिणाम के और पुद्गल के परिणाम के परस्पर हेतुत्व का उल्लेख होने पर भी जीव और पुद्गल में परस्पर व्याप्य-व्यापक भाव का अभाव होने से जीव को पुद्गलपरिणामों के साथ और पुद्गल-कर्म को जीवपरिणामों के साथ कर्त्ताकर्मपने की असिद्धि होने से, मात्र निमित्त-नैमित्तिक भाव का निषेध न होने से, परस्पर निमित्तमात्र होने से ही दोनों के परिणाम (होता) है।

जीव-पुद्गल के परिणामों का परस्पर निमित्तपने का उल्लेख होने पर भी व्याप्य-व्यापक भाव का अभाव है अर्थात् जीव के विकाररूप व्यापक का व्याप्य जड़कर्म की अवस्था नहीं है। उसीप्रकार कर्म के उदयरूप व्यापक का व्याप्य जीव का परिणाम नहीं हो सकता, क्योंकि व्याप्य-व्यापक भाव एक द्रव्य में ही होता है, दो द्रव्यों में नहीं; इसलिए परस्पर व्याप्य-व्यापक भाव का अभाव होने से जीव का पुद्गलपरिणाम के साथ व पुद्गल का जीवपरिणाम के साथ कर्त्ता-कर्मपना असिद्ध है। कर्म का निमित्त है, उसने जीव को राग कराया तथा जीव ने राग किया, इसकारण जड़कर्म बँधा – ऐसा दोनों का परस्पर कर्त्ता-कर्मभाव नहीं है। मात्र निमित्त-नैमित्तिक भाव का निषेध नहीं है।

प्रथम 'मैं स्वतन्त्र हूँ' – ऐसा भान होना चाहिए। अपनी स्वतन्त्रता के भान बिना धर्म कैसे हो? धर्म करनेवाले धर्मार्थी जीव को पहले यह निर्णय होना चाहिए कि अज्ञानभाव से जितना विकारी परिणाम होता है, वह स्वतन्त्रपने मुझसे होता है, तथा उस काल में जड़-कर्म की परिणति स्वतंत्रपने पुद्गल से होती है। मेरे राग-द्वेष के कारण जड़-कर्म का परिणमन नहीं होता। सर्वप्रथम यह लक्ष्य में आना चाहिए कि मेरी पर्याय में विकार की स्वतन्त्रता मुझसे है, और कर्म की पर्याय में कर्म की स्वतन्त्रता पुद्गल से है। ऐसे भान बिना धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।

जीव व पुद्गल में परस्पर व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव है। इसकारण एक-दूसरे के परस्पर निमित्तपने का उल्लेख (कथन) होने पर भी, परस्पर कर्त्ता-कर्मभाव नहीं है। जीव का राग-द्वेष कर्म में निमित्त

होता है, और कर्म का उदय जीव के राग-द्वेष में निमित्त होता है; परन्तु जीव का विकारी परिणाम, कर्मबन्ध की पर्याय का तथा कर्म का उदय, विकारी भाव का कर्त्ता – ऐसा नहीं है। जब जीव ने अपना मिथ्यात्व व राग-द्वेष का परिणाम स्वतन्त्ररूप से किया, तब पुद्गल स्वयं स्वतंत्ररूप से कर्मरूप परिणत हुए हैं। उसीप्रकार कर्म स्वयं स्वतंत्ररूप से उदयरूप हुए, तब जीव स्वतंत्ररूप से मिथ्यात्व व राग-द्वेष से परिणमित हुआ है – इसतरह दोनों का परिणमन स्वतंत्र है।

भाई! जिसे व्यक्त पर्याय की स्वतंत्रता समझ में नहीं आती, उसको अव्यक्त द्रव्य की स्वतंत्रता की बात कैसे समझ में आ सकती है? अपनी प्रगट पर्याय स्वतंत्र है, पर के कारण नहीं है तथा जो कर्मबंध होता है, वह कर्म के कारण से होता है। जिसको ऐसी समय-समय की स्वतंत्रता की बात समझ में नहीं आती, उसको सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता। जो प्रगटदशा का कर्त्ता पर को मानता है, उसे पर्याय के स्वतंत्र परिणमन की खबर नहीं है। यहाँ तो यह सिद्ध किया है कि अज्ञान अवस्था में जीव विकारी परिणाम का स्वतंत्र कर्त्ता होकर उस परिणाम को करता है। भेदज्ञान होने के बाद आत्मा राग का कर्त्ता व राग इसका कार्य – ऐसी कर्त्ता-कर्म की बुद्धि नहीं रहती।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव की 'द्वादशानुप्रेक्षा' में आता है कि कर्म के आस्रव का (निमित्त) कारणरूप जो विकारी भाव होता है, उसके कारण आत्मा संसार में डूबता है। शुभभाव से भी जीव संसारसागर में डूबता है। दया-दानादि पुण्य के भाव आस्रव हैं तथा वे मोक्ष के कारण नहीं हैं। सम्यग्दर्शन बिना अज्ञानी की जितनी भी बाह्य क्रियाएँ हैं, वे सब संसार में रखड़ने की क्रियाएँ हैं। आस्रवभाव तो निन्दनीय व अनर्थ का ही कारण है।

प्रश्न :– जिनवाणी में व्यवहार को परम्परा मोक्ष का कारण कहा है, उसका क्या अभिप्राय है।

उत्तर :– हाँ, कहा है; परन्तु जिसने राग से भिन्न पड़कर अर्थात् भेदज्ञान करके आत्मा का अनुभव किया, उसके मन्दराग के परिणाम को परम्परा मोक्ष का कारण कहा है। जिसके अनुभव में ज्ञान व आनन्द की दशा प्रगट हुई है, उसके शुभभाव में अशुभ टला है, पश्चात् शुद्ध चैतन्य-स्वरूप स्वात्मा का उग्र आश्रय लेकर शुभ को भी टालकर मोक्षपद प्राप्त करता है; इसकारण उसके शुभराग को परम्परा कारण कहा जाता है। वास्तव में तो राग मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टि – किसी को भी मोक्ष का कारण नहीं है।

समयसार नाटक में पं० बनारसीदासजी ने कहा है कि छठवें गुण-स्थान में पंच महाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्ति इत्यादि का जो रागभाव होता है, वह संसारपन्थ है, जगपन्थ है।

ता कारण जगपन्थ इत, उत सिव मारग जोर।
परमादी जग कौं धुकै, अ-परमादी सिव ओर॥

(समयसार नाटक, मोक्षद्वार, छन्द – ४०)

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के धारक सच्चे सन्त मुनिराज को जो शुभराग है, वह प्रमाद है और वह जगपन्थ है, मोक्षपन्थ नहीं है। अहाहा! छट्ठे गुणस्थान में मुनिराज को जो व्रतादिक का विकल्प है, वह जगपन्थ है। भाई! वीतराग मार्ग वीतरागभाव से प्रगट होता है, राग से नहीं; राग तो संसार की ओर झुकाता है। अहो! ज्ञानी का तो राग के साथ कर्त्ता-कर्मभाव का अभिप्राय ही नहीं है; तथापि जो राग है, वह जगपन्थ है – यह जिनवचन है।

पण्डित बनारसीदासजी ने जिनवाणी के सम्बन्ध में काव्य लिखा है। उसमें कहा है कि :–

ऐसो ॐकार को अमूल चूल मूलरस।
बनारसीदासजी के वदन विलास है॥

यह ॐकार वाणी, जिनवाणी अमूल्य है, चूल अर्थात् मनोहर है तथा सुननेवाले को आनन्द देनेवाली है, यह ॐकार ध्वनि मुख की शोभा है।

बनारसीदास अंग, द्वादश विचारे यामें।
ऐसे ॐकार कण्ठ, पाठ तोहि आयो है॥

जिस ॐकार ध्वनि में बारह अंग का सार भरा है, वह भगवान की वाणी ऐसा कहती है कि जब जीव के विकारी परिणाम स्वयं से स्वतंत्रपने होते हैं, तब (उस काल में) पुद्गल स्वयं द्रव्यकर्म की पर्यायरूप से परिणमित होता है। विकारी परिणाम, उस जड़कर्म के परिणमन में निमित्तमात्र है अर्थात् रागादि विकाररूप निमित्त के कारण कर्मबन्धन नहीं हुआ, दोनों में कर्त्ता-कर्मभाव नहीं है।

तत्त्वार्थसूत्र में आता है कि जीव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषायादि विकारी परिणाम करता है और उनसे ज्ञानावरणादि कर्म बँधते हैं – इसका अर्थ यह है कि जीव के परिणाम व पुद्गल के परिणामों के परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है अर्थात् जब कर्मबन्ध की परिणति स्वयं से स्वकाल में हुई तो उस काल में राग-द्वेष का परिणाम निमित्त होता है –

वस, इतनी-सी वात है; किन्तु ऐसा नहीं है कि जीव को राग-द्वेष हुआ, इसलिए कर्मबन्धन हुआ।

मात्र निमित्त-नैमित्तिक भाव का निषेध नहीं होने से, अन्योन्य (परस्पर) निमित्तमात्र होने से ही दोनों के परिणाम होते हैं। आत्मा पुद्गल को कर्मरूप नहीं करता। उसीप्रकार कर्म का उदय आत्मा के राग-द्वेषादि शुभाशुभभावों को उत्पन्न नहीं करता। दोनों के परिणाम परस्पर निमित्तमात्र होने से ही होते हैं, कर्त्तापने से नहीं। जीव के विकारी परिणाम में कर्म का उदय निमित्तमात्र है, कर्त्ता नहीं है।

प्रश्न :— कर्म का उदय आने पर विकार करना ही पड़ता है न?

उत्तर :— नहीं; यह आवश्यक नहीं है कि कर्म के उदय में जीव को उस जाति का विकार करना ही पड़े।

प्रवचनसार गाथा ४५ में श्री जयसेनाचार्य की टीका में आया है कि कर्म का उदय होते हुए भी शुद्ध उपादानरूप से आत्मा परिणमे तो कर्म का उदय छूट जाता है तथा नवीन कर्मबन्ध नहीं होता। जीव स्वसन्मुखता करे — स्व में झुके तो कर्म का उदय होते हुए भी कर्म की निर्जरा हो जाती है। जो कर्म के उदय से नवीन कर्मबन्ध होना अनिवार्य हो तो संसारी जीवों को सदैव कर्म का उदय रहने से बन्ध सदैव होता रहेगा और मोक्ष कभी भी नहीं होगा अर्थात् मोक्षतत्त्व का ही अभाव हो जायेगा, किन्तु ऐसा नहीं होता।

"इसलिए जैसे मिट्टी द्वारा घड़ा किया जाता है (अर्थात् जैसे मिट्टी ही घड़ा बनाती है), उसीप्रकार अपने भाव से अपना भाव किया जाता है, इसलिए जीव अपने भाव का कर्त्ता कदाचित् होता है; परन्तु जैसे मिट्टी से कपड़ा नहीं किया जा सकता, उसीप्रकार अपने भाव से परभाव का किया जाना अशक्य है; इसलिये जीव पुद्गलभावों का कर्त्ता तो कदापि नहीं हो सकता — यह निश्चय है।"

देखो! कदाचित् जितनी मात्रा में राग करे, उतनी ही मात्रा में कर्मबन्ध हो; तथापि राग कर्म की अवस्था का कर्त्ता नहीं है। यह अंगुली जो ऊँची-नीची होती है, वह अपनी स्वयं की तत्समय की योग्यता से ही होती है, इसमें राग-विकल्प निमित्त है; किन्तु विकल्प के कारण (निमित्त के कारण) जड़ — पुद्गल में कार्य नहीं हुआ है।

लोग ऐसा मानते हैं कि हम देशसेवा करते हैं, समाज की सेवा करते हैं, कुटुम्ब की उन्नति करते हैं; किन्तु यह सब मिथ्या मान्यता है

किसको कौन करता है ? भाई ! इसकी तुझे खबर नहीं है। जीव कर्त्ता बनकर अज्ञानदशा में कदाचित् अपने विकारी परिणाम का कर्त्ता हो भी जावे, परन्तु पर का कर्त्ता तो किसी अपेक्षा से भी नहीं हो सकता। अज्ञानी जीव विकारी परिणाम को अपना कर्म व स्वयं को उसका कर्त्ता मानता है, अतः उसे उसका कर्त्ता कहा जाता है; परन्तु पर का कर्त्ता तो अज्ञानी भी नहीं हो सकता।

जैसे मिट्टी से घड़ा बनता है, उसीप्रकार अपने भाव से ही अपना भाव उत्पन्न होने से अपने विकारी भाव का कर्त्ता जीव को कहा गया है। यहाँ 'विकारी भाव जीव का है' – ऐसा सिद्ध करके पश्चात् ज्ञानभाव सिद्ध करना है।

अपने भाव से ही अपना भाव उत्पन्न होता है – अथवा विकारी भाव जीव में स्वयं से ही होता है, पर के कारण नहीं होता। यद्यपि शास्त्र में ऐसा भी कथन आता है कि आत्मा सम्यग्दर्शन की पर्याय का भी कर्त्ता नहीं है, परन्तु वहाँ पर्यायदृष्टि छुड़ाकर द्रव्यदृष्टि कराने की बात है और यहाँ अज्ञानी की मुख्यता से बात कही जा रही है, इसलिए यह कहा है कि जीव अज्ञानभाव से अपने विकारी भावों का कर्त्ता है। यहाँ यह सिद्ध करना है कि अज्ञानी जीव अज्ञानभाव का (विकारभाव का) कर्त्ता है।

पर का कर्त्ता तो आत्मा है ही नहीं, तथा जो अपने को राग का भी कर्त्ता मानता है, वह भी वास्तव में जैन नहीं है। जो स्वयं को राग का कर्त्ता मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है, अज्ञानी है। धर्मी जीव तो आनन्द का कर्त्ता होकर आनन्द को ही भोगता है, अनुभव करता है।

अहो, भाई ! जैन कोई सम्प्रदाय नहीं है, यह तो वस्तु का स्वरूप है। कहा है न :–

"जिन सो ही है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म।
यही वचन से समझ ले, जिन प्रवचन का मर्म ॥"

भगवान आत्मा वीतरागस्वरूप है। जहाँ इस वीतरागस्वरूप आत्मा का अनुभव हुआ; फिर ज्ञानी राग का कर्त्ता नहीं होता, परन्तु उसका ज्ञाता ही रहता है।

राग समकिती व मुनि को भी होता है, परन्तु उस काल में वह राग उन ज्ञानियों को मात्र जानने के लिए प्रयोजनवान है। इसी ग्रन्थ की बारहवीं गाथा में आता है कि उस काल में जिसप्रकार की जो राग की दशा है, उसको वह ज्ञानी उसीप्रकार से जानता है। राग है, इसलिए राग का ज्ञान

हुआ – ऐसा नहीं है, परन्तु पर को जाननेरूप अपने ज्ञान का स्वतंत्र परिणमन है, इसलिए पर को जानता है।

यहाँ कहते हैं कि जैसे मिट्टी से घड़ा बनता है, उसीप्रकार अपने भाव से ही अपना भाव होने से जीव कदाचित् अपने विकारी भाव का कर्त्ता है। यहाँ 'कदाचित्' का अर्थ यह है कि जबतक जीव राग से भिन्न होकर – भेदज्ञान करके सम्यग्दर्शन प्रकट नहीं कर लेता है, तबतक अज्ञान भाव से अज्ञानी जीव राग का कर्त्ता होता है। अतः कदाचित् अर्थात् अज्ञान-दशा में जीव राग का कर्त्ता है। (सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् ज्ञानी धर्मी जीव ज्ञानपरिणाम का ही कर्त्ता होता है।)

अरे जीव ! तू अनादि से कैसे-कैसे दुःखों से घिरा है? भावपाहुड़ में तो ऐसा कहा है कि प्रभु ! अज्ञान के कारण तेरे इतने जन्म-मरण हुए हैं कि मरण समय तेरे दुःख देखकर तेरी माता ने रो-रोकर जो आँसू बहाए, उन्हें इकट्ठा करें तो सागर के सागर भर जायें। ऐसे तो मनुष्य भव के अनन्त भव किये। उसी तरह नरकों में, स्वर्गों में, पशु पर्याय में, निगोद में जाकर अनन्त-अनन्त भव धारण किये। अरे ! तेरा अनन्त काल निजस्वरूप के भान बिना दुःख ही दुःख में गया। अन्दर सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान है; उसकी दृष्टि नहीं की तथा मिथ्यात्व व राग-द्वेष के भाव करके अनन्त दुःख सहे, उन दुःखों को कहने की ताकत वाणी में नहीं है; इसलिए हे भाई ! तू अन्तर्दृष्टि कर ! निज भावना भा ! यही सुखी होने का एकमात्र उपाय है।

जिसतरह मिट्टी से कपड़ा नहीं बन सकता, उसीतरह अपने भाव से परभाव का होना अशक्य होने से, जीव पुद्गलभावों का कर्त्ता कभी नहीं होता – यह निश्चय है। मिट्टी अपने भाव अर्थात् घड़े की पर्याय का कर्त्ता तो है, परन्तु मिट्टी से कपड़ा कभी नहीं बन सकता। मिट्टी कर्त्ता व कपड़ा उसका कार्य – ऐसा नहीं बनता। उसीप्रकार जीव विकार के भाव को तो करता है, परन्तु कर्म की पर्याय का करना तो सर्वथा अशक्य ही है। तथा जैसे विकारी भाव से कर्मबन्धन होना अशक्य है, उसीप्रकार जड़कर्म के भाव से जीव का विकारी भाव होना अशक्य है। चन्द्रप्रभ भगवान की पूजा में एक पद्य आया है कि :–

कर्म विचारे कौन ? भूल मेरी अधिकाई।
अग्नि सहे घनघात, लोह की संगति पाई ॥

अकेली अग्नि को कोई नहीं पीटता है, परन्तु यदि वह अग्नि लोहे का संसर्ग करे तो उस अग्नि पर भी घन की चोटें पड़ती हैं। उसीतरह आत्मा पर

का सम्बन्ध करके राग-द्वेष न करे तो दुःख को प्राप्त नहीं होता; किन्तु यदि निमित्त के साथ राग-द्वेष करे तो चार गति के दुःखरूप घनों की चोटें झेलनी पड़ती हैं। अरे भाई! राग-द्वेष की एकता के कारण अनन्त दुःख हैं। और इन अनन्त दुःखों को तूने अनन्तवार भोगा है।

यहाँ तो यह वात है कि ज्ञानी आत्मा अपने ज्ञान-दर्शनादि भावों को करता है और अज्ञानी अज्ञानभाव से रागादि भावों का कर्त्ता होता है। जैसे मिट्टी से कपड़ा नहीं वन सकता, उसीतरह अनेक विकारी भावों से जड़कर्मों का वन्ध नहीं होता। इसीतरह जड़कर्म के भाव से जड़कर्म का परिणाम होता है, परन्तु जड़कर्म के भाव से जीव में विकारभाव नहीं होता। कर्म के कारण जीव में विकार होना – मानना एवं विकार के कारण कर्मवन्ध होना – मानना यथार्थ नहीं है।

पंचास्तिकाय की ६२वीं गाथा में भी कहा है कि 'पर्याय में जो विकार होता है, वह अपने षट्कारक से होता है, उन्हें पर के षट्कारक की अपेक्षा नहीं है।

इस वात को सुनकर कुछ लोगों में खलवली मच जाती है। वे ऐसा कहते हैं कि यदि कर्म से विकार नहीं हो तो फिर विकार जीव का स्वभाव ही हो जायगा; परन्तु भाई! न ऐसा कभी हुआ है और न होगा। विकार पर्याय में स्वयं से होता है। विकार होने में पर की तो अपेक्षा है ही नहीं, परन्तु अपने द्रव्य-गुण की भी अपेक्षा नहीं है। स्वतंत्रपने एक समय की पर्याय में षट्कारकों का परिणमन होकर, विकार स्वयंसिद्ध स्वतः से होता है, पर से नहीं। जैसे मिट्टी से कपड़ा नहीं होता, उसीतरह कर्मोदय से विकार नहीं होता तथा विकार के कारण कर्मवन्ध नहीं होता। जीव के स्वयं के विकाररूप परिणमन में दूसरी वस्तु (कर्म का उदय) निमित्त भले हो, परन्तु निमित्त (कर्मोदय) के कारण विकार नहीं होता। जव स्वयं में स्वयं अपनी योग्यता से विकार हुआ, तव दूसरी वस्तु (कर्मोदय) को निमित्त कहा जाता है। जो ऐसा मानते हैं कि विकार पर से होता है, उसके हृदय में यह वात कैसे वैठे कि सर्वशक्तिमान ज्ञानानन्दघन प्रभु स्वयंज्योतिस्वरूप भगवान अन्दर विराजमान है?

अहाहा! जैसे मिट्टी से कपड़ा नहीं वन सकता, उसीतरह अपने विकारी भावों से परभावरूप कर्मवन्ध का होना अशक्य है। गजव वात है भाई! स्थूलवुद्धिवालों को यह वात समझना कठिन पड़ती है। जो व्रत, तप भक्ति, पूजा, पाठ आदि के राग में उत्साहवन्त होकर अटक गये हैं, उनसे

यहाँ कहते हैं कि भाई ! पूजा के शब्दों की भाषा का कर्त्ता आत्मा नहीं है। तुझे शुभभाव का विकल्प है, इसकारण 'स्वाहा' इत्यादि शब्द निकलता है — ऐसा नहीं है। भाई ! जैसे मिट्टी से घड़ा बनता है, क्या वैसे ही मिट्टी से कपड़ा बन सकता है ? नहीं; कभी नहीं; इसीप्रकार अपने भावों से अपना ही भाव होता है। अपने भावों से पर का भाव नहीं हो सकता है।

पहले अस्ति से कहा था कि अपने भाव से अपने भाव का कर्त्ता होता है; और अब यहाँ नास्ति से यह कहते हैं अपने भाव से पर का भाव कभी नहीं हो सकता। देखो ! यह अँगुली हिलती है — इसका कर्त्ता आत्मा नहीं है। भाषा बोलते समय जो होंठ हिलते हैं, उस होंठ हिलने की क्रिया का कर्त्ता आत्मा नहीं है। एक-एक रजकण की भी जिससमय जो पर्याय होने की योग्यता होती है, उससमय स्वतंत्रपने वही होती है; उसे आत्मा तीन काल में भी नहीं कर सकता।

अज्ञानी जीव अपने राग से राग को तो करता है; परन्तु राग से भाषा की क्रिया नहीं कर सकता अथवा उँगली नहीं हिला सकता। पर को लेने-देने का काम राग के कारण से नहीं होता। किसी को अनाज देने का, भोजन कराने का शुभभाव हुआ, इसलिए दूसरे को अनाज देने की या भोजन कराने की क्रिया हुई — ऐसा नहीं है। पर का कार्य करने में भगवान आत्मा पङ्गु है, क्योंकि कोई किसी (पर) का कार्य कर ही नहीं सकता। शुभाशुभभाव हुए, इससे कर्मबन्ध हुआ या गति प्राप्त हुई — ऐसा व्यवहार से कहा जाता है; किन्तु वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है।

यहाँ स्पष्ट कहते हैं कि अपने भाव से परभाव का करना अशक्य होने से पुद्गल भावों का कर्त्ता तो जीव कभी भी नहीं है — यह निश्चय है। जीव अज्ञानभाव से अपने राग-भाव का कर्त्ता तो है, परन्तु परभाव का कर्त्ता कदापि नहीं है। परमाणु का हलन-चलन तो उसकी क्रियावती-शक्ति के कारण होता है, जीव का उसमें किञ्चित् भी कर्तृत्व नहीं है।

पाण्डे राजमलजी ने कलशटीका में प्रश्न किया है कि आत्मा में अनन्त शक्तियाँ है, क्या उनमें कोई ऐसी भी शक्ति है जिससे आत्मा पर का कार्य कर सके ? वहाँ समाधान किया है कि भगवान आत्मा पर का कुछ करे — ऐसी उसमें कोई शक्ति नहीं है। हाँ, आत्मा में ऐसी शक्ति है कि अज्ञानभाव से पर्याय में राग को करे, परन्तु जीव पुद्गलभावों का कर्त्ता तो कदापि नहीं है — यह निश्चय है। ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी आदि कर्म बाँध सके — ऐसी कर्म की पर्याय का कर्त्ता जीव तीनकाल में न कभी हुआ है, न हो सकता है।

प्रश्न :- शास्त्र में ऐसा कहा है कि 'जो कर्मरूपी वैरी को हने, वह अरिहंत' - इसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर :- हाँ, शास्त्र में ऐसा कथन आता है कि आत्मा कर्म बाँधता है, आत्मा कर्मों का हनन करता है आदि; परन्तु ये सब तो व्यवहार के कथन है। यहाँ तो यह कहते हैं कि आत्मा जड़कर्मों का घात कर ही नहीं सकता। आत्मा जब राग-द्वेष करता है, उससमय जो कर्म बँधते हैं, वे स्वयं अपनी योग्यता के कारण बँधते हैं, इसीतरह जब आत्मा वीतरागता प्रगट करता है, तब जो कर्म छूटते हैं, वे भी स्वयं अपनी तत्समय की योग्यता के कारण छूटते हैं। प्रत्येक समय कर्म की अवस्था जो होने योग्य होती है, वह स्वयं से स्वतंत्रपने होती है। जीव ने वीतरागभाव प्रकट किया; इसलिए कर्म की अवस्था अकर्मरूप नहीं हुई है - ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है। हे जीव ! यदि तुझे अपना कल्याण करना हो तो इसे अवश्य समझना ही पड़ेगा, क्योंकि सुखी होने का अन्य कोई उपाय नहीं है।

गाथा ८०-८१-८२ के भावार्थ पर प्रवचन

'जीव के परिणाम को व पुद्गल के परिणाम को परस्पर मात्र निमित्त-नैमित्तिकपना है, कर्त्ता-कर्मभाव नहीं है।' यहाँ मिथ्यात्व व राग-द्वेष को जीव का परिणाम कहा है, क्योंकि यहाँ अज्ञानी जीव की अपेक्षा कथन है। जिसे भेदज्ञान नहीं है - ऐसा अज्ञानी जीव स्वतंत्रपने स्वयं ही राग-द्वेष करता है। अज्ञानी जीव के शुभाशुभ विकारी परिणाम व पुद्गल के परिणाम (कर्मोदय) के परस्पर निमित्त-नैमित्तिकपना है। जब जीव के विकारी परिणाम या नैमित्तिकभाव अपने उपादान से होते हैं; तब जड़कर्म का उदय निमित्तमात्र है। इसप्रकार दोनों के निमित्त-नैमित्तिकपना होते हुए भी परस्पर कर्त्ता-कर्मपना नहीं है। जीव के विकारी परिणामों में कर्म का निमित्त व कर्मबन्धन में अज्ञानी जीव के राग-द्वेष का निमित्त - इसप्रकार परस्पर निमित्त-नैमित्तिकपना होते हुए भी कर्त्ता-कर्मपना नहीं है। कर्म जीव के परिणामों को व राग-द्वेष के परिणाम कर्मबन्धन की पर्याय को कदापि नहीं करते।

प्रश्न :- कर्म का कुछ न कुछ प्रभाव तो पड़ता ही होगा, क्या उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता ?

उत्तर :- नहीं, कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। प्रभाव का अर्थ क्या ? प्रभाव द्रव्य है, गुण है या पर्याय है ? अरे भाई ! कर्म का प्रभाव तो जड़ की पर्याय है, जड़ की पर्याय से जीव में विकार नहीं होता। कर्म का उदय

जड़ का परिणाम है, जड़ का परिणाम जीव के विकारी परिणाम को उत्पन्न नहीं करता। यहाँ कहते हैं कि जीव के परिणाम व पुद्गल के परिणाम में परस्पर कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है। अज्ञानदशा में जीव अपने विकारी भावों का कर्त्ता है, परन्तु परभाव का कर्त्ता तो कदापि नहीं है।

प्रश्न :– हम तो प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि आपके उपदेश से हजारों लोगों को तत्त्व का लाभ हो रहा है, दूर-दूर से लोग तत्त्व की बात समझने आते हैं; क्या यह सच नहीं है ?

उत्तर :– नहीं भाई ! हमारे कारण कुछ नहीं होता, जिस-जिसकी तत्त्व की बात सुनने व समझने की योग्यता होती है – वे अपने कारण आते हैं, सुनते हैं तथा अपनी-अपनी स्वतंत्र योग्यता से समझते हैं। भाई ! यह निमित्त-उपादान की स्वतंत्रता की बात लोगों को समझने में कठिन पड़ती है, परन्तु यहाँ तो आचार्यदेव ने स्पष्ट कहा है कि जीव के विकारी परिणाम एवं कर्मबन्धन की पर्याय में परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होते हुए भी कर्त्ता-कर्मभाव नहीं है।

अब कहते हैं कि "पर के निमित्त से जो अपने भाव हुए, उनका कर्त्ता तो जीव को अज्ञानदशा में कदाचित् कह भी सकते हैं; परन्तु जीव परभाव का कर्त्ता तो कदापि नहीं है।"

जबतक 'आत्मा राग से भिन्न है' – ऐसा भेदज्ञान नहीं हुआ, तबतक अज्ञानदशा में निमित्त के लक्ष्य से मिथ्यात्व व राग-द्वेष के परिणाम जीव ने स्वतंत्रपने स्वयं ही किये हैं; इसलिए अज्ञानी उन रागादि विकारी भावों का कर्त्ता है, उससमय वहाँ निमित्तरूप से जो दर्शनमोह का उदय आया, उसके कारण मिथ्यात्व नहीं हुआ है। निमित्त है अवश्य, पर उससे जीव का विकारी परिणाम हुआ हो – ऐसा नहीं है तथा विकारी परिणाम हुआ, इसलिए कर्मबन्ध हुआ – ऐसा भी नहीं है। कर्मबन्ध की पर्याय स्वयं से जो होने योग्य थी, वही स्वतंत्रपने हुई है; उसमें राग-द्वेष के परिणाम निमित्तमात्र हैं, कर्त्ता नहीं। राग-द्वेष कर्मबन्धन के कर्त्ता हैं, व कर्मबन्ध इनके कार्य हैं – ऐसा बिल्कुल नहीं है।

आत्मा कर्म के कारण विकार करता है – ऐसी मान्यता मिथ्यात्व है। कर्म परद्रव्य का परिणाम है तथा विकार स्वद्रव्य की भूल का परिणाम है। चाहे मिथ्यात्व का परिणाम हो या राग-द्वेष का – ये दोषरूप परिणाम स्वयं से स्वतंत्र कर्त्ता होकर, जीव स्वयं करता है। 'स्वतंत्र' अर्थात् निमित्त से निरपेक्ष। जीव को विकार करने में भी निमित्त की

अपेक्षा नहीं है। निमित्त हो भले, परन्तु उसकी अपेक्षा नहीं है। पंचास्तिकाय की ६२वीं गाथा में आया है कि विकार की पर्याय स्वयं कर्त्ता, स्वंय कर्म, स्वयं ही करण, सम्प्रदान, अपादान एवं अधिकरण है—इसप्रकार विकारी परिणमन के षट्कारक पर्याय के स्वयं के स्वतंत्र हैं। जब स्वद्रव्य व गुण भी विकारी पर्याय के कर्त्ता नहीं हैं तो परद्रव्य विकार का कारक हो, इसका तो प्रश्न ही कहाँ है? इसप्रकार द्रव्य के परिणमन की स्वतंत्रता की बात का निर्णय यथार्थपने करना पड़ेगा। इसमें संदिग्धता नहीं चलेगी।

यह बात सुनकर किसी को ऐसी शंका हो सकती है कि जब कर्म के कारण बिना ही विकार होता है, तब तो विकार जीव का स्वभाव ही हो गया; किन्तु भाई! पर्याय में जो विकार होता है वह वर्त्तमान पर्याय का स्वभाव ही है, पर्याय के षट्कारक पर्याय से हैं, द्रव्य-गुण से नहीं। द्रव्य-गुण तो त्रिकाल शुद्ध हैं तथा यह पर्याय जो विकारी हुई है, वह स्वयं से हुई है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जब द्रव्य-गुण शुद्ध हैं तो पर्याय में विकार कहाँ से हुआ? उत्तर यह है कि वर्तमान पर्याय की योग्यता से स्वतंत्रपने विकार हुआ है, कर्म के कारण नहीं।

अज्ञानदशा में जीव मिथ्यात्व व राग-द्वेष का कर्त्ता है, परन्तु परभाव का कर्त्ता तो कदापि नहीं है। कर्म को बाँधे तो कर्म की पर्याय ही बाँधे और छोड़े तो कर्म की पर्याय ही कर्म को छोड़े, आत्मा उसके बाँधने अथवा छोड़ने की क्रिया का कर्त्ता नहीं है। जीव देह की अवस्था को करे—ऐसा भी कभी नहीं बनता। जीव अज्ञानवश 'शरीर को ऐसा चलाऊँ'—ऐसे राग को करता है, और इसकारण वह राग का कर्त्ता तो है, परन्तु देह की अवस्था का कर्त्ता त्रिकाल में भी नहीं हो सकता। भाई! यह बात बड़े धैर्य व शान्ति से समझने की है। तू अनादि से जन्म-मरण के सागर में गोता खाता हुआ दु:ख में डूब रहा है। अरे भाई! भगवान आत्मा सुख का सागर है, उसके भान बिना ही आज तक दु:ख हुआ है। अत: सुखी होना हो तो इसे समझना अति आवश्यक है।

प्रश्न :— अज्ञानी जीव मिथ्यात्व व पाप-पुण्य के भावों को अज्ञानता से पर की अपेक्षा बिना स्वतंत्ररूप से करता है—ऐसी स्वतंत्रता का निर्णय कराके आत्मा को कहाँ ले जाना है?

उत्तर :— अरे भाई! 'ऐसी स्वतंत्रता सिद्ध करके इसे अपने त्रिकाली आनन्द के नाथ ज्ञायकस्वरूप भगवान के पास ले जाते हैं। शास्त्र का

तात्पर्य वीतरागता है न? पञ्चास्तिकाय में तो और भी स्पष्ट कहा है कि 'चारों अनुयोगों के शास्त्रों का तात्पर्य वीतरागता है।' यहाँ भी यही बात चलती है। जीव में विकार स्वतंत्र होता है – ऐसा निर्णय कराकर इसे विकार में रोककर नहीं रखना है, बल्कि विकाररहित शुद्ध चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा के निकट ले जाना है, स्व-आश्रय में ले जाना है; क्योंकि स्व-आश्रय में ही वीतरागता है तथा जबतक पर का आश्रय है, तबतक इसे राग ही होता रहेगा।

अनादिकाल से जीव अपनी स्वतंत्रता से ही संसार में भटक रहा है। 'व्यवहार से अर्थात् राग से (लाभ) धर्म होता है' – ऐसी उल्टी मान्यता से संसार में रखड़ा है; परन्तु बापू! राग के साधन से वीतरागता नहीं होती। जब व्यवहार का लक्ष्य छोड़कर स्व का अर्थात् निज चैतन्यस्वभावमय त्रिकाली शुद्ध आत्मा का लक्ष्य करता है, तब वीतरागी पर्याय प्रगट होती है। विकार स्वयं स्वतंत्ररूप से करता है, किन्तु विकार से आत्मा हाथ नहीं आता; बल्कि शुद्ध चैतन्य की निर्विकारी अनुभूति से प्राप्त होता है और वह अनुभूति स्व के आश्रय से ही प्रगट होती है।

वास्तव में तो त्रिकाली ज्ञायकभाव ही आत्मा है। नियमसार की ९१वीं गाथा में आता है कि 'मिथ्यारत्नत्रय अर्थात् मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र को छोड़कर त्रिकाल निरावरण, नित्य आनन्द जिसका एक लक्षण है – ऐसा निरंजन निज परमपारिणामिकभावस्वरूप कारणपरमात्मा ही आत्मा है; ऐसे त्रिकाली शुद्ध कारणपरमात्मा की दृष्टि करके उसी में स्थिरता करना, सम्यग्दर्शन आदि वीतरागतारूप धर्म है, शेष सब निःसार है। यहाँ ऐसी वीतराग निर्मल अनुभूति करने का प्रयोजन है। अहो, दिगम्बर आचार्यों ने कैसा ग़ज़ब का काम किया है! किसी भी शास्त्र का कोई भी पृष्ठ पलटो, या कोई भी गाथा पढ़ो, सभी जगह एक आत्मा की ही घुटाई की है; मानो अमृत ही घोला है। यहाँ कहते हैं कि प्रभु! तू एक समय की पर्याय से रहित भगवानस्वरूप निर्मल आत्मा है, उसे ही अपनी निर्मल अनुभूति से जानना धर्म है। उस आत्मा को प्राप्त करने का उपाय एक निर्मल अनुभूति ही है, इसके सिवाय अन्य कोई उपाय ही नहीं है। वह व्यवहाररत्नत्रय के राग से प्राप्त नहीं होता; रागरहित निर्विकल्प अनुभूति से आत्मा की यथार्थ प्रतीति होती है। यही मूल मुद्दे की बात है। ऐसे आत्मा को प्राप्त करना हो तो सर्वप्रथम पर्याय की स्वतंत्रता को समझना पड़ेगा।

जिसको हर्ष में सन्निपात होता है, वह खिलखिला कर हँसता है, दाँत निकालता है; परन्तु क्या वह सुखी है ? नहीं; वह तो महादुःखी है। इसीतरह विकार करके कोई ऐसा माने कि 'हम सुखी हैं', तो वह भी सन्निपात के रोगी की तरह दुःखी ही है। त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ परमात्मा कहते हैं कि तू हमारी ओर देखेगा तो तुझे राग ही होगा, क्योंकि हम (तेरे लिए) परद्रव्य ही हैं; इसलिए तू अपने स्वद्रव्य में जा, उसे ही देख ! उससे तुझे वीतरागतारूप धर्म प्रगट होगा। अरिहंत परमात्मा कहते हैं कि हम जब मुनिदशा में थे, तब हमें आहारदान देनेवाले को उस दान के भाव से पुण्यबन्ध ही हुआ था, धर्म नहीं। (क्योंकि पर का आश्रय होने पर धर्म नहीं होता।)

कोई ऐसा माने कि साधु को आहारदान देने से संसार से तर जायेंगे तो ऐसा मानना ठीक नहीं है, सर्वथा मिथ्या है। शुभभाव से संसार पार नहीं होता। हाथी के भव में खरगोश की रक्षा करके दया का पालन किया, इससे संसार तर गया – इसीप्रकार के अन्य कथन सत्य नहीं हैं।

यहाँ तो यह कहते हैं कि जीव विकारी परिणाम का कर्त्ता स्वतंत्रपने है, उसमें पर की (कर्मोदय की) अपेक्षा नहीं है। इसप्रकार विकार का स्वतंत्रपना सिद्ध किया है। पर्याय में समय-समय अपने षट्कारकों से नया-नया विकार होता है, तथा निर्मलानन्द का नाथ चैतन्यस्वभावी आत्मा त्रिकाल ऐसा का ऐसा ही ध्रुव पड़ा है, उसका आश्रय लेने पर सम्यग्दर्शन आदि धर्म प्रगट होता है। भगवान आत्मा स्व के आश्रय से जो मोक्ष की पर्याय प्रगट करता है, उसका भी वह स्वतंत्र कर्त्ता है। जड़कर्म का अभाव हुआ, इसलिए मोक्षमार्ग हुआ है – ऐसा नहीं है।

यही वस्तुस्थिति है – इसे यथार्थ समझना चाहिए।

जो करता सो भोगता

क्रिया एक करता जुगल, यौं न जिनागम माँहि।
अथवा करनी और की, और करै यौं नाँहि॥
करै और फल भोगवै, और बने नहि एम।
जो करता सों भोगता, यहै यथावत जेम॥

– पं० बनारसीदास; नाटक समयसार

ततः स्थितमेतज्जीवस्य स्वपरिणामैरेव सह कर्तृकर्मभावो भोक्तृ-भोग्यभावश्च –

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि ।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥८३॥

निश्चयनयस्यैवमात्मात्मानमेव हि करोति ।
वेदयते पुनस्तं चैव जानीहि आत्मा त्वात्मानम् ॥८३॥

यथोत्तरंगनिस्तरंगावस्थयोः समीरसंचरणासंचरणनिमित्तयोरपि समीरपारावारयोर्व्याप्यव्यापकभावाभावात्कर्तृकर्मत्वासिद्धौ पारावार एव स्वयमंतर्व्यापको भूत्वादिमध्यांतेषूत्तरंगनिस्तरंगावस्थे व्याप्योत्तरंगं निस्तरंगं त्वात्मानं कुर्वन्नात्मानमेकमेव कुर्वन् प्रतिभाति न पुनरन्यत्, यथा स एव

इसलिए यह सिद्ध हुआ कि जीव को अपने ही परिणामों के साथ कर्त्ता-कर्मभाव और भोक्ता-भोग्यभाव (भोक्ताभोग्यपना) है – ऐसा भाव कहते हैं :–

आत्मा करे निज को हि ये, मंतव्य निश्चयनय हि का ।
अरु भोगता निज को हि आत्मा, शिष्य यों तू जानना ॥८३॥

गाथार्थ :– [निश्चयनयस्य] निश्चयनय का [एवम्] ऐसा मत है कि [आत्मा] आत्मा [आत्मानम् एव हि] अपने को ही [करोति] करता है, [तु पुनः] और फिर [आत्मा] आत्मा [तं च एव आत्मानम्] अपने को ही [वेदयते] भोगता है – ऐसा हे शिष्य ! तू [जानीहि] जान ।

टीका :– जैसे उत्तरंग[1] और निस्तरंग[2] अवस्थाओं को हवा का चलना और न चलना निमित्त होने पर भी हवा और समुद्र को व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने से कर्त्ता-कर्मपने की असिद्धि है, इसलिए समुद्र ही स्वयं अन्तर्व्यापक होकर उत्तरङ्ग अथवा निस्तरङ्ग अवस्था में आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर उत्तरंग अथवा निस्तरंग – ऐसा अपने को करता हुआ – स्वयं एक को ही करता हुआ प्रतिभासित होता है, परन्तु अन्य

---

[1] उत्तरंग=जिसमें तरंगें उठती हैं ऐसा; तरंगवाला ।

[2] निस्तरंग=जिसमें तरंगें विलय हो गई हैं ऐसा; विना तरंगोंवाला ।

च भाव्यभावकभावाभावात्परभावस्य परेणानुभवितुमशक्यत्वादुत्तरंगं निस्तरंगं त्वात्मानमनुभवन्नात्मानमेकमेवानुभवन् प्रतिभाति न पुनरन्यत्; तथा ससंसारनिःसंसारावस्थयोः पुद्गलकर्मविपाकसंभवासंभवनिमित्तयोरपि पुद्गलकर्मजीवयोर्व्याप्यव्यापकभावाभावात्कर्तृकर्मत्वासिद्धौ, जीव एव स्वयमंतर्व्यापको भूत्वादिमध्यांतेषु ससंसारनिःसंसारावस्थे व्याप्य ससंसारं निःसंसारं वात्मानं कुर्वन्नात्मानमेकमेव कुर्वन् प्रतिभातु मा पुनरन्यत्, तथायमेव च भाव्यभावकभावाभावात् परभावस्य परेणानुभवितुमशक्यत्वात्ससंसारं निःसंसारं वात्मानमनुभवन्नात्मानमेकमेवानुभवन् प्रतिभातु मा पुनरन्यत्।

को करता हुआ – प्रतिभासित नहीं होता और फिर जैसे वही समुद्र भाव्य-भावकभाव के अभाव के कारण परभाव का पर के द्वारा अनुभवन अशक्य होने से, अपने को उत्तरङ्ग अथवा निस्तरङ्गरूप अनुभवन करता हुआ स्वयं एक को ही अनुभव करता हुआ प्रतिभासित होता है, परन्तु अन्य को अनुभव करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता; इसीप्रकार संसारयुक्त और निःसंसार अवस्थाओं को पुद्गलकर्म के विपाक का सम्भव (होना; उत्पत्ति) और असम्भव (न होना) निमित्त होने पर भी पुद्गलकर्म और जीव को *व्याप्य-व्यापकभाव* का अभाव होने से कर्त्ता-कर्मपने की असिद्धि है, इसलिये जीव ही स्वयं अन्तर्व्यापक होकर संसारयुक्त अथवा निःसंसार अवस्था में आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर संसारयुक्त अथवा संसाररहित – ऐसा अपने को करता हुआ – अपने को एक को ही करता हुआ प्रतिभासित हो, परन्तु अन्य को करता हुआ प्रतिभासित न हो और फिर उसीप्रकार यही जीव भाव्य-भावकभाव के अभाव के कारण परभाव का पर के द्वारा अनुभवन अशक्य है, इसलिये संसारसहित अथवा संसाररहित अपने को अनुभव करता हुआ – अपने को एक को ही अनुभव करता हुआ प्रतिभासित हो, परन्तु अन्य को अनुभव करता हुआ प्रतिभासित न हो।

भावार्थ :– आत्मा के परद्रव्य – पुद्गलकर्म के निमित्त से संसारयुक्त और संसाररहित अवस्था है। आत्मा उस अवस्थारूप से स्वयं ही परिणमित होता है, इसलिए वह अपना ही कर्त्ता-भोक्ता है; पुद्गलकर्म का कर्त्ता-भोक्ता तो कदापि नहीं है।

गाथा ८३ की उत्थानिका, गाथा एवं उसकी टीका पर प्रवचन

गाथा ८०, ८१ एवं ८२ द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि परद्रव्य के साथ जीव का कर्त्ता-कर्मभाव नहीं है, इसलिए यह तो स्पष्ट ही है कि जीव

का अपने ही परिणामों के साथ कर्त्ता-कर्मभाव एवं भोक्तृ-भोग्यभाव है। इस ८३वीं गाथा में इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा जा रहा है कि बन्धमार्ग व मोक्षमार्ग – दोनों का कर्त्ता स्वतंत्ररूप से आत्मा स्वयं ही है।

देखो! इस गाथा में यह वाक्य आया है कि 'अप्पाणमेव हि करेदि' अर्थात् अपनी विकारी व निर्विकारी पर्याय का कर्त्ता आत्मा स्वयं ही है। कहीं-कहीं ऐसा भी कथन आता है कि 'आत्मा मोक्षमार्ग की निर्मल पर्याय का कर्त्ता भी नहीं है।' उस कथन का प्रयोजन आत्मा के अकर्त्तास्वभाव को सिद्ध करना है और यहाँ तो आत्मा के कर्त्तास्वभाव की चर्चा है। आत्मा परद्रव्य एवं उसकी पर्यायों का कर्त्ता नहीं है और परद्रव्य भी कर्त्ता बनकर आत्मा का कार्य नहीं करता। प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव का कर्त्ता तो है ही, अज्ञानावस्था में विभाव का कर्त्ता भी आत्मा स्वयं ही है; इसलिये मोक्षमार्ग की स्वभाव पर्याय व राग की विकारी पर्याय का कर्त्ता जीव स्वयं है, कर्म नहीं।

भाई! भगवान ने यह तेरी स्वतंत्रता का ढिंढोरा पीटा है, इसलिए विकार कर्म से होता है, या कर्मबन्ध रागादि विकार के कारण होता है – यह विपरीत मान्यता छोड़ दे, क्योंकि विपरीत मान्यता का फल अनन्त संसार है।

'जैसे जल की उत्तरंग व निस्तरंग अवस्थाओं को हवा का चलना और न चलना निमित्त होने पर भी हवा और समुद्र को व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने से कर्त्ता-कर्मपने की असिद्धि है।'

समुद्र में जो तरंगें उठती हैं, उन्हें उत्तरंग कहते हैं और तरंग के विलीन हो जाने को निस्तरंग कहते हैं। सागर में जब तरंग उठे, तब पवन का चलना निमित्त है और जब तरंग विलय हो जाती है, तब पवन का रुकना निमित्त है। पवन निमित्त है – इसका अर्थ यह नहीं है कि पवन तरंग को उत्पन्न करता है। तथा पवन के नहीं चलने से तरंगें विलीन हो गयी हों – ऐसा भी नहीं है। पवन व समुद्र के परस्पर व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव है, अर्थात् पवन व्यापक व तरंग उसकी व्याप्य नहीं है; इसलिए यहाँ कर्त्ता-कर्मपने की असिद्धि है। जिससमय समुद्र में तरङ्ग उठी, उससमय पवन का उसमें निमित्त अवश्य है; परन्तु पवन ने तरङ्गों को उत्पन्न नहीं किया। तथा जब तरङ्गें विलीन हो गयीं, तब पवन का अभाव निमित्त है; तथापि पवन के अभाव से तरङ्गें विलीन नहीं हुईं। दोनों अवस्थाओं में परस्पर मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध

है, कर्त्ता-कर्मसम्बन्ध नहीं। यहाँ निमित्त का निषेध नहीं है, किन्तु निमित्त कर्त्ता नहीं है – यह समझने की बात है।

संयोगदृष्टि से देखनेवालों को ऐसा लगता है कि पवन चला, इसलिए तरङ्गें उठी हैं; परन्तु ऐसा नहीं है। कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि जब परद्रव्य से कुछ नहीं होता तो उसे निमित्त ही क्यों कहा? उनसे कहते हैं कि अरे भाई! परद्रव्य कुछ नहीं करता, इसीलिए उसे निमित्त कहा है। परद्रव्य की पर्याय को निमित्त की पर्याय स्पर्श भी नहीं करती है; इसलिए निमित्त के कारण परद्रव्य में कुछ भी नहीं होता। निमित्त की परिभाषा ही यह है कि वह करे कुछ नहीं, मात्र उपस्थित रहे।

"समुद्र ही स्वयं अन्तर्व्यापक होकर उत्तरङ्ग अथवा निस्तरङ्ग अवस्था के आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर उत्तरङ्ग अथवा निस्तरङ्ग – ऐसा अपने को करता हुआ, स्वयं एक को ही करता हुआ प्रतिभासित होता है; परन्तु अन्य को करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता।"

यहाँ कहते हैं कि समुद्र ही स्वयं अन्तर्व्यापक होकर अर्थात् प्रसरण करके उत्तरङ्ग अथवा निस्तरङ्ग अवस्था के आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होता है। तरङ्ग उठने के आदि में समुद्र है, मध्य में समुद्र है, एवं अन्त में समुद्र है – इसके आदि-मध्य व अन्त में पवन नहीं है। अहाहा! तरङ्ग की उत्पत्ति समुद्र करता है, तथा उसका विलय भी समुद्र ही करता है। तथा समुद्र की उत्तरङ्ग व निस्तरङ्ग पर्याय की उत्पत्ति में समुद्र स्वयं को ही करता हुआ प्रतिभासित होता है, निमित्त को करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता। शीतल हवा को करता हुआ समुद्र प्रतिभासित नहीं होता।

"और फिर जैसे वही समुद्र भाव्य-भावकभाव के अभाव के कारण, परभाव का पर के द्वारा अनुभवन अशक्य होने से, अपने को उत्तरङ्ग अथवा निस्तरङ्गरूप अनुभवन करता हुआ, स्वयं एक को ही अनुभव करता हुआ प्रतिभासित होता है; परन्तु अन्य को अनुभव करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता।"

परद्रव्य भाव्य (भोगने योग्य) व स्वयं भावक (भोगनेवाला) – इस प्रकार दो द्रव्यों में भाव्य-भावकभाव का अभाव होने के कारण, परभाव का पर से अनुभव करना अशक्य है; इसलिए समुद्र पवन को अनुभवता नहीं है। समुद्र अपनी उत्तरङ्ग व निस्तरङ्ग अवस्था को अनुभवता हुआ, स्वयं एक को ही अनुभवता हुआ प्रतिभासित होता है; परन्तु पवन की अवस्था को अनुभवता हुआ प्रतिभासित नहीं होता।

इसप्रकार समुद्र अपने भाव को करता है तथा अपने ही भाव को भोगता है; परन्तु पवन की पर्याय का कर्त्ता और भोक्ता नहीं है।

भाई ! वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है। परमात्मा ने अनन्त तत्त्व कहे हैं, वे अनन्त तत्त्व अनन्तरूप से तभी सिद्ध होंगे, जबकि वे स्वयं की पर्यायरूप से हैं तथा अन्य की पर्यायरूप से नहीं – ऐसा निश्चित हो। यदि अपनी पर्याय पर से हो तो अनन्त पदार्थों की अनन्तता ही सिद्ध नहीं होगी, सब परस्पर में मिल जायेंगे। यहाँ दृष्टान्त में भी यही कहा है कि समुद्र अन्य को करता या भोगता हुआ प्रतिभासित नहीं होता।

अब यही सिद्धान्त आत्मा पर घटित करते हैं कि आत्मा की संसार-युक्त और निःसंसार अवस्थाओं को पुद्गलकर्म के विपाक का होना और न होना, निमित्त होने पर भी पुद्गलकर्म व आत्मा के परस्पर व्याप्य-व्यापक भाव का अभाव होने से कर्त्ता-कर्मपने की असिद्धि है।

संसारदशा अर्थात् मिथ्यात्व, राग, द्वेष, कषाय, योग आदि सहित जीव की दशा तथा निःसंसार अवस्था अर्थात् शुद्ध चैतन्यभाव के आश्रय से उत्पन्न हुई जीव की सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग की अवस्था। इनमें अनुक्रम से पुद्गलकर्म का उदय (भाव) और अभाव निमित्त होता है।

आत्मा के मिथ्यात्व व राग-द्वेष के परिणाम आत्मा की संसारदशा है, कर्म का विपाक इसमें निमित्त है; किन्तु निमित्त का अर्थ यह नहीं है कि कर्म का विपाक आत्मा की विकारी पर्याय अथवा संसारदशा का कर्त्ता है। रागादि विकारसंयुक्त जीव निगोद में हो या स्वर्ग में, किन्तु इस जीव की जो मिथ्यात्व व राग-द्वेष सहित अवस्था है, उसमें कर्म का निमित्त होते हुए भी जड़कर्म कर्त्ता व विकारी परिणाम इसका कार्य – ऐसा नहीं है; क्योंकि पुद्गल कर्म व जीव के परस्पर व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने से कर्त्ता-कर्मपने की असिद्धि है। जीव स्वयं अपने अशुद्ध उपादान की योग्यता से अपनी संसारदशा को उत्पन्न करता है। कर्म का उदय आने पर विकार करना पड़े तथा कर्म का नाश हो तो सम्यग्दर्शन हो – ऐसी पराधीनता वस्तु के स्वरूप में नहीं है। जो कर्म की ऐसी पराधीनता मानते हैं, उनकी मान्यता झूठी है।

प्रश्न :– शास्त्र में ऐसा आता है कि जब घनघाति कर्म का अभाव हो, तब केवलज्ञान होता है – इसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर :– यह तो निमित्त की मुख्यता से कहा गया व्यवहारनय का कथन है। घनघाति कर्म का नाश हुआ, इस कारण अरिहन्त भगवान को

केवलज्ञान हुआ – ऐसा नहीं है। केवलज्ञान की पर्याय को अरिहन्त भगवान के जीव ने स्वतन्त्ररूप से कर्त्ता होकर किया है। केवलज्ञान होने में घनघाति कर्मों के अभाव की अपेक्षा नहीं है। केवलज्ञान की अवस्था में घनघाति कर्म के अभाव का निमित्त होने पर भी केवलज्ञान होने में उसका कारण नहीं है। गोम्मटसार की १९७वीं गाथा में आया है कि –

"भावकलङ्क सुपउरा णिगोदवासं ण मुञ्चेदि।

'अपने भावकलङ्क की प्रचुरता के कारण ही निगोदिया जीव निगोद-वास को नहीं छोड़ते।"

'निगोदिया जीवों को कर्मोदय का जोर है, इसकारण वे बाहर नहीं आते' – ऐसा नहीं कहा। संसारयुक्त अवस्था चाहे भव्य की हो या अभव्य की – उस अवस्था का जीव स्वयं कर्त्ता है तथा वह अवस्था जीव का स्वयं का कार्य है। संसार अवस्था में कर्म के विपाक का निमित्त है, परन्तु कर्म का निमित्त जीव के मिथ्यात्वादि परिणाम का कर्त्ता व मिथ्यात्वादि परिणाम उसका कार्य नहीं है। मिथ्यात्व का भाव संसार का भाव है, दर्शनमोह का उदय उसमें निमित्त है; परन्तु दर्शनमोह का उदय मिथ्यात्वभाव का कर्त्ता व मिथ्यात्वभाव उसका कर्म – ऐसा नहीं है। निमित्त भले हो, परन्तु निमित्त से कार्य नहीं होता। अहाहा........! आचार्य भगवान कहते हैं कि घड़ा तो मिट्टी से बनता है। अरे! कुम्हार से घड़ा बनता हुआ हमें कभी दिखाई ही नहीं देता।

प्रश्न :– आचार्यदेव के उपदेश के कारण ही तो तत्त्व समझ में आता है न?

उत्तर :– अरे भाई! ऐसा नहीं है। जब स्वयं अपने उपादान की योग्यता हो, तभी समझ में आता है; पर के कारण नहीं। यदि पर से – आचार्यों या भगवान के उपदेश से समझ में आता होता तो पूर्व में अनेक बार भगवान के समवशरण में गया, तब क्यों नहीं समझा? यदि कोई ऐसा कहे कि 'तब काललब्धि नहीं पकी थी' तो इसका तो यही अर्थ है कि तब स्वयं ने उल्टा पुरुषार्थ किया था, इसलिए नहीं समझा; उल्टा पुरुषार्थ करने की ही उसकी काललब्धि थी और जीव उसका स्वतंत्रपने कर्त्ता था। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में आता है कि प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक समय में जो विकारी या अविकारी पर्याय होती है, उससमय वही उसकी काललब्धि है, इसीकारण वही पर्याय वहाँ हुई है; पर्याय की उत्पत्ति के काल में वह पर्याय स्वयं से होती है, पर के कारण नहीं होती।

प्रश्न :– शास्त्र में ऐसा भी कहा है कि कार्योत्पत्ति में दो कारण होते हैं – इसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर :– हाँ, कहा है; परन्तु उनमें वास्तविक कारण एक (उपादान) ही है। दूसरा (निमित्त) तो उपचरित कारण है। पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में अत्यन्त स्पष्ट किया है कि मोक्षमार्ग दो नहीं, उसका कथन दो प्रकार से है; उसीप्रकार कार्य के कारण दो कहे हैं, परन्तु वास्तविक कारण एक (उपादान) ही है।

वस्तुस्वरूप ऐसा ही है, तथापि किसी को तत्त्व की बात समझ में न बैठे तो भी उसके प्रति विरोध नहीं होना चाहिए। कोई भी व्यक्ति हो, सबके अन्दर भगवान आत्मा विराजता है। भाई ! मात्र एक समय की पर्याय की भूल है, उस भूल को निकाल दे तो स्वयं भगवान ही है। उसी भूल को निकालने की यहाँ चर्चा है। यहाँ बताया है कि निमित्त से कार्य नहीं होता, व्यवहार से निश्चय नहीं होता।

प्रभु ! तू तेरी पर्याय का स्वतंत्र कर्त्ता है। विकारी अथवा अविकारी पर्याय को स्वतंत्रपने करनेवाला तू स्वयं ही है। इसमें पर की – निमित्त की किञ्चित् भी आवश्यकता व अपेक्षा नहीं है। मिथ्यात्वादि की विकारी पर्याय स्वयं अपने षट्कारकरूप से परिणमन करके उत्पन्न होती है, निमित्त से भी नहीं होती तथा अपने द्रव्य-गुण से भी नहीं होती; क्योंकि द्रव्य-गुण तो त्रिकाल शुद्ध हैं तथा मिथ्यात्वादिभाव अशुद्ध हैं। जैसे द्रव्य में अपने षट्कारक हैं, वैसे ही पर्याय में भी अपने स्वतंत्र षट्कारक हैं।

वर्तमान में तो बहुत गड़बड़ हो गयी है। कितने ही कहते हैं कि यह तो अभिन्न षट्कारक की बात है; परन्तु 'अभिन्न' का क्या अर्थ है ? – यह तो विचार कर। अभिन्न का अर्थ मात्र इतना है कि जो विकार होता है, वह पर की अपेक्षा बिना स्वतंत्रपने स्वयं से होता है। विकार परकारक से निरपेक्षपने स्वयं से स्वतंत्र होता है। ऐसा ही पंचास्तिकाय की ६२वीं गाथा में कहा गया है, यही बात यहाँ सिद्ध कर रहे हैं। भाई ! दिगम्बर सन्तों की वाणी पूर्वापरविरोधरहित होती है। जिसमें पूर्वापर-विरोध हो, वह वीतराग की वाणी नहीं है। भाई ! जहाँ जिस अपेक्षा से कथन हो, उसे उसी अपेक्षा से यथार्थ समझना चाहिए। कर्म के कारण कोई परेशान नहीं है, बल्कि 'अपने को आप भूल के हैरान हो गया' है, इसलिए कर्म के कारण विकार नहीं होता – यह बात स्वतःसिद्ध है। पूजा में भी आता है कि :–

कर्म बिचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई।
अग्नि सहै घनघात, लोह की संगति पाई ।।

अग्नि लोहे की संगति करती है – लोहे में प्रवेश करती है तो लोहे के साथ अग्नि पर भी घन के घात पड़ते हैं, यदि भिन्न रहे तो घनों की चोटें नहीं सहनी पड़तीं। इसीतरह भगवान आत्मा निमित्त का संग करके विकार करता है तो दुःखरूपी घन की चोटें पड़ती हैं।

देखो ! स्वयं निमित्तों का संग करके स्वतंत्रपने अपनी पर्याय में मिथ्यात्व व राग-द्वेष के भाव करता है। विषयवासना की जो पर्याय होती है, उसमें वेद का उदय निमित्त भले हो, तथापि जो वासना उत्पन्न हुई, वह स्वयं से हुई है। द्रव्यवेद का उदय कर्त्ता है एवं वासना उस उदय का कार्य है – ऐसा नहीं है। एक कर्त्ता व दूसरा भोक्ता – ऐसा नहीं होता। आत्मा स्वयं अपनी पर्याय का कर्त्ता है एवं भोक्ता है – यह बात यहाँ सिद्ध करना है।

जहाँ द्रव्य व पर्याय के परस्पर अकर्तृत्व की बात हो, वहाँ तो मिथ्यात्व व सम्यक्त्व – इन दोनों पर्यायों का कर्त्ता आत्मद्रव्य नहीं है, यह बात आती है; परन्तु यहाँ तो अपनी पर्याय का कर्त्ता अपना द्रव्य स्वयं है, परद्रव्य नहीं – यह सिद्ध करना है।

प्रश्न :– तो हम दोनों बातों में से कौनसी बात सच मानें ?

उत्तर :– भाई ! दोनों ही बातें अपनी-अपनी अपेक्षा से सत्य हैं। एक बार सुन तो सही। विकार का कर्त्ता परद्रव्य को मानकर जो स्वच्छन्दी होता है, उसे वह मान्यता छुड़ाने के लिए विकार का कर्त्ता आत्मा है – ऐसा कहा है। तथा जब विकार व द्रव्यस्वभाव के बीच भेदज्ञान कराने की बात हो तो यह कहा जाता है कि विकार का कर्त्ता आत्मद्रव्य नहीं है, बल्कि पर्याय स्वयं अपनी तत्समय की योग्यता से स्वतंत्रपने होती है। दोनों का तात्पर्य एक वीतरागता ही है।

यद्यपि निश्चयनय से केवली भगवान तीनों काल व तीनों लोक को नहीं देखते, तथापि सर्वज्ञ हैं; क्योंकि मात्र केवलज्ञान पर्याय को ही देखने पर उन्हें उसमें तीन लोक के समस्त पदार्थों की त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायें देखने में आ जाती हैं। जैसे रात्रि में नदी के स्वच्छ-निर्मल-शान्त जल को देखने से उसमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र एवं करोड़ों तारे एक साथ दीख जाते हैं। यद्यपि जल में चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्रादि कुछ भी नहीं हैं, मात्र जल की निर्मल पर्याय ही है; तथापि उस निर्मल जल का ऐसा

ही स्वभाव है कि समस्त आकाश-मंडल के ग्रह-नक्षत्रों को बिना किसी प्रयत्न के प्रतिबिम्बित कर देता है। इसीप्रकार नित्यानन्द ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा की निर्मल केवलज्ञान पर्याय में लोकालोक झलकता है। भगवान सर्वज्ञ परमात्मा अपने उस ज्ञानस्वभाव को जानते-देखते हैं, जिसमें लोकालोक झलकता है; अतः असद्भूतव्यवहारनय से भगवान तीन लोक को जानते हैं और निश्चय से मात्र अपने ज्ञायकस्वभाव को ही जानते-देखते हैं। लोकालोक परज्ञेय है, अतः 'लोकालोक जानते हैं' – यह असद्भूतव्यवहारनय का विषय हुआ। अपनी पर्याय को देखने से लोकालोक देखने में आ जाता है; किन्तु लोकालोक है, इसलिए केवलज्ञान हुआ – ऐसी पराधीनता केवलज्ञान में नहीं है।

शास्त्र में आता है कि लोकालोक केवलज्ञान में निमित्त है तथा केवलज्ञान लोकालोक को निमित्त है – इसका अर्थ यह है कि जो लोकालोक सम्बन्धी ज्ञान हुआ, वह स्वयं से हुआ है; लोकालोक से नहीं हुआ। लोकालोक को केवलज्ञान निमित्त है तथा केवलज्ञान में लोकालोक निमित्त है – ऐसा परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, परन्तु कर्त्ता-कर्मपना नहीं है।

प्रभु ! तू अपनी स्वतंत्रता देख ! भूल करने में भी तू स्वतंत्र है तथा मोक्षमार्ग में भी तू स्वतंत्र है। हे भाई ! ऐसा मनुष्यपना मिला और इसमें यदि तूने यथार्थ तत्त्व का ज्ञान नहीं किया, तो तू चौरासी के चक्कर में कहाँ जायेगा – कुछ भी पता नहीं चलेगा।

प्रश्न :– कर्म बलवान हैं, उसमें हम क्या कर सकते हैं ?

उत्तर :– नहीं, बिल्कुल नहीं। भावकर्म को बलवान कहा है। इष्टोपदेश में आता है कि जबतक भावकर्म अर्थात् विकार का जोर है, तबतक निर्विकार दशा का जोर नहीं है; परन्तु द्रव्यकर्म हैं, इसलिए निर्विकारी दशा प्रगट नहीं होती – ऐसा नहीं है। कर्म हमारे लिए कोई बलवान नहीं हैं, क्योंकि परद्रव्य आत्मा का कुछ भी नहीं कर सकता।

प्रश्न :– द्रव्यकर्म व आत्मा का बराबर जोर है – ऐसा माने तो क्या हानि है ?

उत्तर :– नहीं, ऐसा भी नहीं है। किसी समय कर्म का जोर व किसी समय आत्मा का – ऐसा भी नहीं है। हाँ, ऐसा है कि कभी विकार का जोर, कभी अविकार का जोर; परन्तु आत्मा की अवस्था में कर्म का

जोर बिल्कुल नहीं है। अरे भाई! तत्त्वज्ञान की यथार्थ समझ बिना धर्म नहीं हो सकता।

अब कहते हैं – "जीव ही स्वयं अन्तर्व्यापक होकर संसार अथवा निःसंसार अवस्था के आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर संसार अथवा निःसंसाररूप स्वयं को करता हुआ, मात्र स्वयं को एक को ही करता हुआ प्रतिभासित होता है; परन्तु अन्य को करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता।"

अहो! दिगम्बर सन्तों ने थोड़े में ही बहुत सार भर दिया है। मिथ्यात्वादि संसार अवस्था में आत्मा स्वयं अन्तर्व्यापक होकर उसके आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होता है अर्थात् मिथ्यात्वादि विकार के आदि-मध्य-अन्त में निमित्तरूप द्रव्यकर्म व्याप्त नहीं होता। उसीप्रकार स्वाश्रय से प्रगट हुई निःसंसार अवस्था में अर्थात् सम्यक्त्वादि मोक्षमार्ग की अवस्था के आदि-मध्य-अन्त में भी आत्मा ही व्याप्त होता है, कर्म का अभाव नहीं। मिथ्यात्वादि कर्म का अभाव कर्त्ता व सम्यक्त्वादि पर्याय उस कर्त्ता का कर्म – ऐसा नहीं है। तथा सम्यक्त्वादि पर्याय कर्त्ता व कर्म का अभाव कर्म (कार्य) – ऐसा कर्त्ता-कर्मपना भी नहीं है। अरे प्रभु! तू अपनी स्वतंत्रता तो देख!! विकार के आदि-मध्य-अन्त में भी तू ही है तथा मोक्षमार्ग के आदि-मध्य-अन्त में भी तू ही है। परवस्तु (द्रव्यकर्म) का अभाव हुआ, इसलिए सम्यक्त्व प्रगट हुआ – ऐसा है ही नहीं।

प्रश्न :– प्रवचनसार में ऐसा कथन आया है कि 'कर्म के उदय में जीव भ्रष्ट हो जाता है' – उसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर :– हाँ, आया है; परन्तु वहाँ तो निमित्त का ज्ञान कराया है। निमित्त की अपेक्षा कथन करने की यही पद्धति है। जब जीव स्वयं अपनी योग्यता से स्वतंत्रपने भ्रष्ट होता है, तब कर्म का उदय निमित्त है; परन्तु कर्म के उदय के कारण जीव भ्रष्ट नहीं होता है। प्रवचनसार में ४७ नयों का वर्णन है, वहाँ ऐसा भी कहा है कि 'कर्त्तानय से जीव राग का कर्त्ता है।' जो राग को करने योग्य मानकर कर्त्ता बनता है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दृष्टि की दृष्टि में राग करने योग्य नहीं है, उसकी दृष्टि में राग के प्रति कर्त्ताबुद्धि का अभाव है, फिर भी अस्थिरता में जो राग का परिणाम होता है, उसका वह कर्त्ता है – ऐसा कहा है। सम्यग्दर्शन होने के बाद कर्म के उदय का भाव (विकार) आत्मा का (स्वभाव) है – ऐसा समकिती नहीं मानता, परन्तु पर्याय में अस्थिरता का जो रागरूप परिणमन है,

उसको उसीरूप से जानता है तथा परिणमन की अपेक्षा उसको राग का कर्त्ता भी कहा है, किन्तु वह राग जड़कर्म के कारण नहीं हुआ है।

अध्यात्मपञ्चसंग्रह में कहा है कि छठवें गुणस्थान में चारित्रमोहनीय कर्म का जोर है, इसलिए तीव्र कषाय होती है तथा सातवें में संज्वलन कषाय का मन्द उदय है, इसलिए मन्दराग होता है; परन्तु यह तो कथनशैली है। छठवें-सातवें गुणस्थान में जो व्यक्त-अव्यक्त विकारी परिणमन है, वह स्वयं से है। निमित्त के लक्ष्य से जो विकार होता है, उसे ही निमित्त से हुआ कहा जाता है; किन्तु वह होता तो वस्तुतः स्वयं (उपादान) से ही है, निमित्त से या कर्म से नहीं।

७६वीं गाथा में ऐसा कहा है कि जिसने राग से भिन्न होकर भेदज्ञान प्रगट किया – आत्मा के आनन्द का अनुभव किया, उस भेदज्ञानी की आत्मा व्यापक व उसकी वह निर्मल अवस्था व्याप्य। तथा सम्यग्दृष्टि को जो विकार होता है, उसका व्यापक द्रव्यकर्म है। देखो! आत्मा में ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि जिससे जीव में विकार हो, इसलिए जिसे स्वभाव का अनुभव हुआ, उसका व्याप्य तो निर्मल अवस्था है। मोक्षमार्ग की निर्मल अवस्था उसका व्याप्य कर्म है। विकार से भिन्न पड़कर विकार का ज्ञाता होने के लिए, निमित्तरूप कर्म को व्यापक तथा विकारी दशा को उसका व्याप्य – ऐसा कहकर जीव व विकार दोनों को भिन्न कर दिया है। भाई! जहाँ जो अपेक्षा हो, वहाँ उसे यथार्थ समझना चाहिए।

प्रश्न :– आत्मा में पर का कुछ करने की शक्ति है या नहीं ?

उत्तर :– नहीं, आत्मा में पर का कुछ करने की शक्ति नहीं है। समयसारकलशटीका में ५४वें कलश की टीका करते हुए पाण्डे राजमलजी ने लिखा हैं कि – "यहाँ कोई मतान्तर निरूपण करे कि द्रव्य में अनन्त शक्तियाँ हैं, तो एक शक्ति यह भी होगी कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यों के परिणाम को करे। जिसतरह जीव द्रव्य अपने अशुद्ध चेतनारूप राग-द्वेष-मोह परिणाम को व्याप्य-व्यापकपने करता है; उसीप्रकार ज्ञानावरणादि पिण्ड को भी व्याप्य-व्यापकपने करे ? उत्तर इसप्रकार है कि द्रव्य में अनन्त शक्तियाँ तो हैं, परन्तु ऐसी शक्ति तो कोई नहीं है कि जिससे जिसतरह अपने गुणों के साथ व्याप्य-व्यापकपना है, उसीप्रकार परद्रव्य के गुणों के साथ भी व्याप्य-व्यापकपना होवे।"

पर का कुछ करे – ऐसी कोई शक्ति आत्मा में नहीं है। पर्याय में विकार करे – ऐसी शक्ति या योग्यता भी पर्याय में ही हैं, द्रव्य-गुण में नहीं।

द्रव्य-गुण में तो निर्मलदशा को करने की ही शक्ति है। भाई ! प्रत्येक आत्मा अपने में ईश्वर है। इसीतरह जड़ भी अपने में जड़ेश्वर है। परमाणु भी अपने में जड़ेश्वर है। जीव विभावभाव को भी स्वतंत्रपने करता है, अतः उसे भी विभावेश्वर कहते हैं और चैतन्य भगवान आत्मा ज्ञानेश्वर है। अहो ! भगवान के द्वारा कहा हुआ यह तत्त्व समझने योग्य है।

मिथ्यात्व व राग-द्वेष की पर्याय के आदि, मध्य व अन्त में आत्मा है तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्विकारी पर्याय के आदि, मध्य व अन्त में भी आत्मा है। कर्म का उदय है, इसलिए विकार हुआ है – ऐसा नहीं है; तथा कर्म के उदय का अभाव हुआ, इसलिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुआ है – ऐसा भी नहीं है। संसार व मोक्षमार्ग की पर्यायों को आत्मा स्वयं स्वतंत्रपने करता है; इसमें कर्म का कोई काम (हस्तक्षेप) नहीं है।

"और फिर उसीप्रकार यही जीव, भाव्य-भावक भाव के अभाव के कारण परभाव का पर के द्वारा अनुभव अशक्य है; इसलिए संसारसहित अथवा संसाररहित अपने को अनुभवन करता हुआ, अपने को – एक को ही अनुभव करता हुआ प्रतिभासित हो; परन्तु अन्य को अनुभव करता हुआ प्रतिभासित न हो।"

जीव संसार अवस्था में अपने विकार को भोगता है, किन्तु पर को नहीं भोगता। आत्मा इस शरीर की अवस्था को या कर्म को नहीं भोगता। वह तो मात्र अपने विकारी या अविकारी परिणामों को ही भोगता है, पर को नहीं भोगता। जीव जैसे राग-द्वेष का स्वतंत्र कर्त्ता है, उसीतरह स्वतंत्र भोक्ता भी है। जड़कर्म का उदय राग में निमित्त भले हो, परन्तु वह राग पर को (कर्म को) भोगता नहीं है; तथा जो कर्म का उदय है, वह भी विकार का भोक्ता नहीं है।

प्रश्न :– यह तो एकान्त हो गया ?

उत्तर :– हाँ, एकान्त तो है; परन्तु सम्यक्-एकान्त है। जिसे सम्यक् एकान्त का ज्ञान होता है, उसे ही अनेकान्त का यथार्थ ज्ञान होता है। निमित्त का सद्भाव हो या अभाव, जीव स्वयं स्वतः अपनी तत्समय की योग्यता से विकार का कर्त्ता व भोक्ता होता है। इसप्रकार सम्यक्-एकान्त का ज्ञान हुआ तो साथ में अनुकूल निमित्त होता है, इसका भी ज्ञान हो जाता है – यही अनेकान्त है। न दूसरी वस्तु से विकार होता है और न दूसरी वस्तु विकार को भोगती है। जीव संसारसहित अपनी विकारी या संसाररहित अपनी अविकारी दशा को ही करता तथा भोगता हुआ प्रतिभासित होता है।

आत्मा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग की पर्याय का कर्त्ता है, किन्तु उससमय हुए कर्मोदय के अभाव का कर्त्ता नहीं है। इसीप्रकार आत्मा अपनी निःसंसाररूप सुख की पर्याय का भोक्ता है, किन्तु उससमय हुए कर्म के अभाव का भोक्ता नहीं है। अरे भाई! अनादिकाल से जीव ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता की ओर दृष्टि ही नहीं की। सूक्ष्मदृष्टि से विचार करें तो निःसंसार अवस्था में अर्थात् साधक की मोक्षमार्ग की दशा में यह व्यवहार का विकल्प – जो निमित्तरूप से सहचर है, उसका कर्त्ता-भोक्ता जीव नहीं है; तथा ये व्यवहार के विकल्प आत्मा की निर्मल पर्याय के कर्त्ता भी नहीं हैं।

वर्त्तमान में समाज का बहुभाग निमित्ताधीन दृष्टिवाला होने से ऐसा मानता है कि सुख-दुख आदि जीव के कार्य कर्म से (पर से) होते हैं और जीव उन्हें ही भोगते हैं, किन्तु ऐसा नहीं है। विकार की अवस्था अपने स्वकाल में अपने से होती है, तथा उनका कर्त्ता व भोक्ता भी जीव स्वतंत्रपने स्वयं ही है। इसीप्रकार जीव मोक्षमार्ग की पर्याय को स्वाश्रयपूर्वक स्वयं स्वतंत्रपने करता है, इसकारण इनका कर्त्ता व भोक्ता भी जीव स्वयं से स्वतन्त्र है। आत्मा चैतन्यमूर्त्ति त्रिकाल आनन्दस्वरूप भगवान है। इसकी दृष्टि व रमणता करने पर जो अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट हुआ, उसका भोक्ता आत्मा है; परन्तु पर का भोक्ता नहीं। अज्ञानी भी शरीर आदि पर को नहीं भोगता। लड्डू, रसगुल्ले, हलुआ, मैसूरपाक आदि खाते समय जीव इन्हें नहीं; बल्कि इन सम्बन्धी अपने राग को भोगता है।

भाई! यह अन्तरंग भेदज्ञान की सूक्ष्म बात है। अंतरंग में कभी ऐसा निर्णय तो किया नहीं और ऐसा माना कि – 'विकार कर्म से होता है तथा कर्म हटे तो ही मुक्तिमार्ग मिल सकता है, सम्यग्दर्शन आदि निर्विकारी दशा प्रगट हो सकती है', किन्तु ऐसा मानना यथार्थ नहीं है। ये सब झूठी मान्यतायें हैं।

वस्तुतः भाव्य-भावकभाव का अभाव होने से आत्मा पर का भोक्ता नहीं है। भाव्य अर्थात् भोगनेयोग्य और भावक अर्थात् भोगनेवाला। जड़कर्म भोग्य तथा आत्मा उनका भोक्ता – ऐसा भोक्ता-भोग्यभाव का इनमें अभाव है। अथवा आत्मा भावक व कर्म का उदय व शरीर की अवस्था भोग्य – ऐसे भाव का भी अभाव है। आत्मा शरीर की बीमारी या रोग की अवस्था को नहीं भोगता, बल्कि उससमय उस बीमारी व शरीर के प्रति जो एकत्व-ममत्व का रागभाव है, उसे भोगता है। नरकों में शीत-उष्ण के दुःखों का वर्णन करते हुए कहा है कि वहाँ इतनी भयंकर गर्मी (उष्णता) है

कि वहाँ का एक कण भी यहाँ आ जाय तो दश योजन तक के सबल से सबल प्राणियों का भी प्राणान्त हो जाय – इस दृष्टान्त से यहाँ यह समझाना चाहते हैं कि उस उष्णता के निमित्त से जो देह भस्म होगी या नारकियों को भी उस उष्णता के निमित्त से जो पीड़ा हो रही है, उस उष्णता का भोक्ता जीव नहीं है; क्योंकि उष्णता परद्रव्य है। देह भस्म होने की क्रिया उष्णता से नहीं, देह के कारण ही होती है। उष्णता तो निमित्तमात्र है, उष्णता उस देहभस्म होने की क्रिया की कर्त्ता या भोक्ता नहीं है। भाई ! बात बहुत सूक्ष्म है, परन्तु समझने का प्रयत्न करे तो समझ में आसानी से आ सकती है।

अरे ! लोगों ने स्थूल व्यवहार व निमित्त को प्रधान मानकर आत्मा की स्वतंत्रता खो दी है। यहाँ कहते हैं कि भाव्य-भावकभाव के अभाव के कारण परभाव से परभाव का अनुभवना अशक्य है। जीव स्वयं किये गये रागभाव का अनुभव तो करता है, परन्तु वह राग के निमित्त का अनुभव नहीं करता। परभाव अर्थात् शरीर, कर्म आदि का आत्मा से अनुभवना अशक्य है। कर्म के अनुभाग को या जड़ की पर्याय को आत्मा नहीं भोगता।

प्रश्न :– गोम्मटसार में तो ऐसा कहा है कि 'कर्म का फल जीव भोगता है', फिर उसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर :– भाई ! यह सब तो निमित्तप्रधान कथन है। शास्त्र में तो ऐसा भी लिखा होता है कि ज्ञानावरणी कर्म ज्ञान को रोकता है, परन्तु यह सब निमित्त का कथन है। वस्तुतः परद्रव्य जीव के ज्ञान को नहीं रोकता। जीव अपनी ज्ञानपर्याय में स्वयं हीनरूप से प्रवर्तन करता है। उसमें ज्ञानावरणी कर्म का उदय निमित्त है, निमित्त ने ज्ञान को हीन नहीं किया है तथा निमित्त को आत्मा भोगता भी नहीं है। आत्मा तो समय-समय की पर्याय का स्वतंत्र कर्त्ता होकर अपनी पर्याय को भोगता है।

वस्तुतः परपदार्थ में सुख है ही नहीं। धर्मी – समकिती जीव को पैसा, आबरू, स्त्री इत्यादि पर से सुखबुद्धि छूट गई है। पर में, राग में, लक्ष्मी में, स्त्री-संगम में सुख नहीं है – ऐसा ज्ञानी को निश्चय हुआ है। वे तो ऐसा मानते हैं कि त्रिकाल आनन्दस्वरूप मेरा स्वभाव है तथा मैं इसके आश्रय से प्रगट हुए अतीन्द्रिय आनन्द का भोक्ता हूँ। सम्यग्दर्शन में ज्ञानी को सत् का दर्शन हुआ है। सत् अर्थात् पूर्णानन्द का नाथ चैतन्य स्वभावमय पदार्थ, जो त्रिकाल सत् है – उसका ज्ञान व श्रद्धान ज्ञानी को हुआ है। अहाहा ! उसके सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान की एक-एक समय की पर्याय में परिपूर्ण वस्तु की प्रतीति हुई है। यद्यपि परिपूर्ण वस्तु पर्याय में नहीं

आई, परन्तु उसकी सामर्थ्य प्रतीति व ज्ञान में आई है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव त्रिकाल आनन्दस्वरूप, स्वयंज्योति, सुखधाम भगवान आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द को भोगता है।

ज्ञानी की साधकदशा में जो राग का परिणमन है, वह दृष्टि का विषय नहीं है। दृष्टि व दृष्टि का विषय तो अभेद निर्विकल्प है। अभेद वस्तु की दृष्टि के साथ जो ज्ञान होता है, उस ज्ञान की पर्याय में क्षण-क्षण में उठनेवाले विकल्पों को भी ज्ञानी जानता है। और जितना रागांश है, उतने रागांश को वह भोगता भी है; तथापि उसे राग में उपादेयरूप भोग्य-बुद्धि नहीं होती, मात्र हेयरूप से ज्ञान के ज्ञेय रहते हैं।

प्रश्न :– आप एक ओर तो कहते हो कि – ज्ञानी आनन्द को भोगता है तथा दूसरी ओर कहते हो कि राग को भोगता है?

उत्तर :– भाई ! वस्तुदृष्टि की अपेक्षा से ज्ञानी (आत्मा) राग का कर्त्ता-भोक्ता नहीं है; परन्तु दृष्टि के साथ जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान त्रिकाली को भी जानता है तथा पर्याय में जितना राग का परिणमन है, उसे भी जानता है। यद्यपि जितना राग का परिणमन है, उतने अंश में स्वयं राग का कर्त्ता-भोक्ता भी है, फिर भी वह राग को करने या भोगने लायक नहीं मानता; तथापि राग का परिणमन तो है ही, इस अपेक्षा से वह राग को भोगता है – ऐसा कहा जाता है।

दृष्टि व दृष्टि के विषय की अपेक्षा से ज्ञानी केवल आनन्द का भोक्ता है। आत्मा के स्वभाव में ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जो विकार उत्पन्न करे, इसकारण स्वभाव की अपेक्षा से निश्चय से आत्मा राग का कर्त्ता-भोक्ता नहीं है; परन्तु पर्याय का ज्ञान करे तो पर्याय में जो राग का परिणमन है, वह स्वयं में है – ऐसा ज्ञानी जानता है। तथा अपनी पर्याय में जो हर्ष-शोक होता है, उसे स्वयं भोगता है – ऐसा भी ज्ञानी जानता है। पर्याय में जो राग है, उसको कर्म करता है व कर्म ही भोगता है – ऐसा तो है ही नहीं; बल्कि ज्ञान की अपेक्षा से ज्ञानी राग का भोक्ता है, परन्तु पर का भोक्ता तो कदापि किसी भी अपेक्षा से नहीं है। प्रवचनसार के नय अधिकार में एक दृष्टान्त आया है कि जैसे – रंगरेज रंग का काम करता है, उसीप्रकार यद्यपि ज्ञानी स्वभाव की दृष्टि से स्वभाव का भोक्ता है; तथापि कमजोरी से वर्तमान पर्याय में जो राग का परिणमन है, उसका कर्त्ता भी ज्ञानी स्वयं ही है। यद्यपि उसकी श्रद्धा में राग किञ्चित् भी उपादेय नहीं है, तथापि रागरूप तो परिणमन है ही – इस अपेक्षा से वह राग का कर्त्ता

व भोक्ता है। अतः जो एकान्त से ऐसा कहे कि ज्ञानी को राग या दुःख का वेदन है ही नहीं तो उसका ऐसा मानना यथार्थ नहीं है।

स्वभाव-सन्मुख होने पर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रपूर्वक जो अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट हुआ, उस आनन्द का भोक्ता ज्ञानी तो है ही; साथ में जितना राग का दुःख है – उसे भी कथञ्चित् भोगता है; किन्तु पर का, शरीर का तथा जड़ कर्म का भोक्ता तो कदापि नहीं है। दूसरे प्रकार से कहें तो आत्मा निश्चय से मोक्षमार्ग का कर्त्ता व भोक्ता है। यदि कोई ऐसा माने कि ज्ञानी राग का कर्त्ता व भोक्ता सर्वथा है ही नहीं, तो उसकी यह मान्यता ठीक नहीं है। निश्चय की दृष्टि से जीव राग का कर्त्ता व भोक्ता नहीं है; क्योंकि वस्तुस्वभाव में ऐसी कोई शक्ति (योग्यता) ही नहीं है, जो विकार उत्पन्न कर सके तथा सभी शक्तियाँ निर्विकारी हैं। इसलिए यद्यपि निर्विकारी पर्यायरूप होना ही इसका स्वरूप है; तथापि पर्याय में जो विकार होता है, उसके परिणमन की अपेक्षा वह स्वयं कर्त्ता व भोक्ता है – ऐसा ज्ञानी यथार्थपने जानता है।

'दृष्टि का विषय पर्याय नहीं है, दृष्टि का विषय तो त्रिकाली अभेद वस्तु ही है' – इस कथन को सुनकर कोई ऐसा कहे कि पर्याय है ही नहीं, तो उसके इस कथन का क्या औचित्य है? यदि पर्याय न हो तो संसार, मोक्ष, मोक्षमार्ग, सुख-दुःख आदि कुछ भी सिद्ध नहीं होंगे; क्योंकि ये सब पर्याय ही तो हैं। हाँ, भगवान आत्मा जो परिपूर्ण वस्तु है, वह पर्याय में नहीं आता। जो ध्रुव है, वह पर्याय में कैसे आ सकता है? यदि ध्रुव विशेष (पर्याय) में आ जाय तो पर्याय का दूसरे समय में नाश होने पर द्रव्यस्वभाव का भी नाश हो जायेगा; क्योंकि पर्याय प्रतिसमय उत्पाद-व्ययरूप है। समयसार गाथा ३२० की जयसेनाचार्यकृत टीका में आता है कि मोक्षमार्गरूप ध्यान पर्याय से आत्मा कथञ्चित् भिन्न है।

अहाहा! द्रव्य त्रिकाली ध्रुववस्तु परद्रव्य की पर्याय का कर्त्ता नहीं है, राग भी पर-द्रव्य की अवस्था का कर्त्ता नहीं, द्रव्यदृष्टि होने पर जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई, वह राग की कर्त्ता नहीं है; तथा राग निर्मल पर्याय का कर्त्ता नहीं है। एवं द्रव्य भी निर्मल पर्याय का कर्त्ता नहीं है। अहो! वीतराग का मार्ग अलौकिक है। दिगम्बर दर्शन ही वास्तविक जैनदर्शन है। अरे! सम्प्रदायवालों को दुःख लगे, परन्तु मार्ग तो यह एक ही है। दिगम्बर धर्म कोई पक्ष या सम्प्रदाय नहीं है, किन्तु जो वस्तु का यथार्थ स्वरूप है, वही दिगम्बर धर्म है।

अहाहा..........! इस दिगम्बर जैनदर्शन में ऐसा कहा है कि प्रभु ! तू पर का कर्त्ता व भोक्ता नहीं है। शरीर का कर्त्ता व भोक्ता तो तू है ही नहीं, किन्तु कर्म का कर्त्ता व भोक्ता भी तू नहीं है। तथा कर्म की पर्याय तेरे (आत्मा के) विकारी परिणाम की कर्त्ता व भोक्ता भी नहीं है। कर्म की पर्याय भावक व आत्मा की विकारी पर्याय भाव्य – ऐसा नहीं है। अहो ! ऐसा वीतरागी मार्ग भगवान सर्वज्ञदेव ने सिद्ध किया है। जिसके मत में सर्वज्ञ नहीं है, उसके मत में धर्म ही नहीं है; क्योंकि धर्म का मूल तो सर्वज्ञ ही हैं।

प्रवचनसार गाथा ८० में कहा है कि जो आत्मा सर्वज्ञ भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है। अहाहा ! सर्वज्ञ भगवान को केवलज्ञान है – ऐसा निर्णय करनेवाली पर्याय जब अपने सर्वज्ञस्वभाव की ओर झुक जाती है, तब दर्शनमोह का क्षय हो जाता है और सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है।

संसारसहित या संसाररहित दशा में आत्मा पर का भोक्ता तो है ही नहीं। संसारदशा में अपने राग का भोक्ता है, तथा निःसंसारदशा में अपनी निर्विकल्प अनुभूति का भोक्ता है; परन्तु पर का भोक्ता तो किसी भी अवस्था में नहीं है। अज्ञानभाव से भी पर का भोक्ता नहीं है।

जब द्रव्य में सामान्य व विशेष – दोनों धर्मों को स्वतंत्र सिद्ध करने का प्रयोजन होता है, तब ऐसा कथन भी होता है कि द्रव्य अपनी अनुभूति की पर्याय का कर्त्ता भी नहीं है, ध्रुव त्रिकाली द्रव्य अपने में उत्पाद-व्यय भी नहीं करता। जिसमें उत्पाद-व्यय हो, वह ध्रुव कैसा ? किन्तु यहाँ उक्त सामान्य व विशेष को स्वतन्त्र सिद्ध करने का प्रयोजन नहीं है। यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि आत्मा पर का भोक्ता नहीं है, किन्तु अपने राग का या अनुभूति की पर्याय का भोक्ता है। हे आत्मन् ! तू अपनी अनुभूति का भोक्ता है, किन्तु शरीर व जड़ कर्मों का भोक्ता नहीं है।

दृष्टि की अपेक्षा जिसे अनुभूति प्रगट हुई है – वह ज्ञानी राग का भोक्ता नहीं है, तथापि जिसे अल्पकाल में केवलज्ञान होना है – ऐसे भावलिंगी सन्त भी जब छठवें गुणस्थान में हों, तब ऐसा जानते हैं कि – 'जितना राग का परिणमन हो रहा है, उसका कर्त्ता-भोक्ता मैं स्वयं हूँ, किन्तु पर का कर्त्ता व भोक्ता मैं कदापि नहीं हूँ।' भाई ! संसारसहित अथवा संसाररहित अवस्था में एक अपने को ही अनुभव करो ! अन्य कर्म आदि का अनुभव मत करो !! यह बहुत सूक्ष्म, गंभीर मार्ग है। जब तक इसकी गम्भीरता भासित न हो, तब तक धर्म नहीं होता।

कर्मबन्ध के चार भेद हैं – प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध व अनुभागबन्ध। प्रकृति अर्थात् स्वभाव, प्रदेश अर्थात् कर्मपरमाणुओं की संख्या, स्थिति अर्थात् काल की सीमा तथा अनुभाग अर्थात् फल देने की शक्ति, परन्तु भाई ! आनन्द व दुःख कर्म का फल नहीं है।

प्रश्न :– तत्त्वार्थसूत्र में तो आता है कि **'विपाकोऽनुभवः'** – इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर :– भाई ! वह तो व्यवहारनय का कथन है, क्योंकि वहाँ निमित्त की मुख्यता से बात की है; परन्तु यहाँ तो यह कह रहे हैं कि आत्मा कर्म के फल का अनुभव नहीं करता। जीव राग का अनुभव करता है अथवा अपनी अनुभूति का अनुभव करता है, किन्तु पर का कभी भी अनुभव नहीं करता।

अरे ! बेचारे बनिये पूरे दिन व्यापार-धन्धे में रचे-पचे रहते हैं। इन्हें स्वाध्याय करने के लिए, सोचने-विचारने के लिए एवं तत्त्वचिन्तन करने के लिए समय नहीं मिलता; इसकारण अभ्यास कुछ हो नहीं पाता, इसलिए यह बात कठिन लगती है; परन्तु भाई ! आत्मा कोई व्यापार-धन्धा नहीं करता, क्योंकि आत्मा व व्यापार में व्याप्य-व्यापकता नहीं है। आत्मा व्यापक व व्यापारादि इसका व्याप्य – ऐसा नहीं है। पर की पर्याय को कोई नहीं कर सकता। लक्ष्मी, धनादि के लेन-देन का जो विभावभाव होता है; जीव उस भाव का तो कर्त्ता है, परन्तु लेन-देन की क्रिया का कर्त्ता नहीं है। अज्ञानी तत्सम्बन्धी विकल्पजाल का कर्त्ता-भोक्ता तो है, परन्तु पर का कर्त्ता-भोक्ता कदापि नहीं है। जब द्रव्य व पर्याय में भेद करना हो, तब तो 'द्रव्य अपनी पर्याय का भी कर्त्ता नहीं है, पर्याय ही पर्याय का कर्त्ता है' – ऐसा कथन आता है। भाई ! यह तो भेदज्ञान की बात है; क्योंकि भेदज्ञान के द्वारा ही सिद्धि है, सिद्धि का अन्य कोई उपाय नहीं है।

समयसारकलश में भी कहा है कि :–

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥

आजतक अनन्त काल में जितने भी सिद्ध हुए हैं, वे सब भेदविज्ञान से ही हुए हैं। और जितने भी बँधे हैं, वे इस भेदविज्ञान के अभाव के कारण ही बँधे हैं।

राग से या व्यवहार से कोई भी सिद्ध नहीं हुआ, बल्कि भेदज्ञान करके ही सब सिद्ध हुए हैं। यहाँ तो स्वयं को पर से भिन्न करने की बात

है। राग से भिन्न होकर जिसने स्वाश्रय से निर्मल पर्याय प्रगट की, वह साधक है; परन्तु 'राग या व्यवहार से मुझे लाभ होता है' – इसप्रकार राग के साथ जो एकता करता है, उसे भेदज्ञान नहीं होता; वह तो विराधक है और चारगतिरूप संसार में ही भटकता है।

पर से भिन्न व स्व से अभिन्न का नाम भेदज्ञान है। व्यवहार से, राग से भिन्न होना ही भेदज्ञान है; व्यवहार के सहारे भेदज्ञान नहीं है। जिससे भिन्न होना है, वही व्यवहार भेदज्ञान का साधन कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। जो स्वभावसन्मुख होता है, वह व्यवहार से भिन्न होकर अन्दर आत्मा में जाता है। अरे भाई! व्यवहार तो शुभराग है, उदयभाव है, संसार है, जहर है, अमृतस्वरूप भगवान आत्मा से विपरीत-स्वभावरूप है। समयसार के मोक्ष अधिकार में प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहरण आदि शुभभाव को विषकुम्भ अर्थात् जहर का घड़ा कहा है। अरे! सम्यग्दृष्टि का व्यवहार भी विषकुम्भ ही है।

अज्ञानी के शुभराग को व्यवहार नहीं कहते। राग से भिन्न होकर जिसने स्वभाव का अनुभव किया, उसके जो राग शेष है, उस राग को व्यवहार कहते हैं। जो शुभराग में ही सावधान है – ऐसे अज्ञानी को तो व्यवहार ही नहीं है, उसे तो व्यवहारमूढ़ कहते हैं।

समयसार की ४१३वीं गाथा में कहा है कि "जो वास्तव में द्रव्यलिंग में ममत्वभाव के कारण ऐसा मानते हैं कि 'मैं श्रमण हूँ या श्रमणोपासक श्रावक हूँ' तथा इसप्रकार की मान्यता से मिथ्या अहंकार करते हैं; वे अनादिरूढ़ – अनादिकाल से समागत व्यवहार में मूढ़ होते हुए प्रौढ़ विवेकवाले निश्चय पर आरूढ़ न होते हुए परमार्थ सत्य समयसार को नहीं देखते – अनुभव नहीं करते।"

भाई! राग की मन्दता तो अनादिकाल से की है। निगोद में भी क्षण में शुभ व क्षण में अशुभ होता है। इसमें नया क्या है? जिसे शुभराग की या व्यवहार की रुचि है – उसे अपने आत्मा से द्वेष है। एक स्तुतिकार ने भगवान संभवनाथ की स्तुति में कहा है – द्वेष अरोचकभाव। अहाहा! तीन लोक का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु भगवान अन्दर में विराजता है; जिसे उसका आदर व सत्कार नहीं है तथा राग का आदर है; उसे अपने प्रति ही द्वेष है। बापू! जैसा दुनिया मानती है, उससे यह सर्वथा जुदी बात है। जिसे निजस्वभाव की रुचि हुई, उसे व्यवहार या शुभराग की रुचि हो ही नहीं सकती।

यहाँ कहते हैं कि संसाररहित अथवा संसारसहित दशा में आत्मा एक अपने को ही अनुभव करता हुआ प्रतिभासित होता है। अन्य को अनुभव करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता। जीव या तो राग का अनुभव करे या फिर अपना – निजात्मा का अनुभव करे। अरे! पर का तो अनुभव करता ही नहीं है। जीव गन्ने के रस का अनुभव नहीं करता; बल्कि उसके प्रति जो राग है, उस राग का अनुभव करता है। जीव को मिर्च की चरपराहट का अनुभव नहीं है। चरपराहट तो अचेतन – जड़ है, किन्तु यह ठीक है या ठीक नहीं है – ऐसा जो उसके प्रति राग (रुचि), और द्वेष (अरुचि) का भाव है, जीव उस भाव का अनुभव करता है। बिच्छू या साँप के डंक का जीव को अनुभव नहीं होता, क्योंकि वे तो ज़ड़ की पर्यायें हैं; परन्तु उससमय जो द्वेष है, जीव उस द्वेषभाव का अनुभव करता है। शक्कर की मिठास व अफीम की कड़वाहट का जीव भोक्ता नहीं है; किन्तु उससमय जो राग-द्वेष का विकारी भाव होता है, जीव उस विकारी भाव का भोक्ता होता है।

गाथा ८३ के भावार्थ पर प्रवचन

आत्मा की ससंसार-निःसंसाररूप जो अवस्था पुद्गलकर्म के निमित्त से होती है, उस अवस्थारूप आत्मा स्वयं से ही परिणमित होता है; इसकारण वह अपना ही कर्त्ता-भोक्ता है, पुद्गलकर्म का कर्त्ता-भोक्ता तो वह कदापि नहीं है।

पुद्गलकर्म के निमित्त से संसार अवस्था है। देखो, यहाँ 'निमित्त से' कहा है – इसका अर्थ बस इतना ही है कि निमित्त की उपस्थिति होती है। निमित्त ने विकार कराया – ऐसा अर्थ नहीं है। विकार या संसार के आदि-मध्य-अन्त में निमित्तरूप कर्म फैलकर व्याप्त नहीं हुआ है। जब जीव में मिथ्यात्वादि संसार अवस्था स्वयं से होती है, तब कर्म निमित्तमात्र उपस्थित रहता है।

उसीप्रकार जब आत्मा में संसाररहित अवस्था होती है, तब उसमें कर्म का अभाव निमित्त होता है; किन्तु कर्म के अभाव के कारण जीव की मोक्षमार्ग की पर्याय प्रगट नहीं हुई है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग की वीतरागी अवस्था के आदि-मध्य-अन्त में आत्मा व्याप्त है। आत्मा स्वयं स्वतंत्ररूप से कर्त्ता होकर मोक्षमार्ग की पर्याय को उत्पन्न करता है। व्यवहार-रत्नत्रय के परिणाम द्वारा भी मोक्षमार्ग की पर्याय प्रगट नहीं होती, क्योंकि मोक्षमार्ग की पर्याय के आदि-मध्य-अन्त में व्यवहार-रत्नत्रय का राग व्याप्त नहीं होता; बल्कि आत्मा व्याप्त होता है।

कुछ लोगों का जो यह कहना है कि व्यवहार से निश्चय होता है तथा निमित्त से उपादान में कार्य होता है – उसका ही यहाँ स्पष्टीकरण है। 'निमित्त से' ऐसा जो कहा, उसका अर्थ बस यही है कि 'निमित्त है'। संसार अवस्था में पुद्गल कर्म का निमित्त तो है, किन्तु निमित्त या कर्म ने जीव की संसार अवस्था नहीं कराई। मिथ्यात्वादि जो विकार अवस्था होती है, उसमें दर्शनमोह का उदय निमित्त है; किन्तु इस विकार के आदि-मध्य-अन्त में कर्म नहीं है, आत्मा है। यहाँ यह बात सिद्ध करना है कि विकार कर्म के उदय के कारण नहीं हुआ है, कर्म का उदय तो निमित्तमात्र है।

परमात्मप्रकाश की ६८वीं गाथा में तो ऐसा सिद्ध किया है कि विकारी दशा का कर्त्ता पुद्गलकर्म तो है ही नहीं, किन्तु इसका कर्त्ता आत्मद्रव्य भी नहीं है। भाई! विकारी पर्याय की कर्त्ता स्वयं विकारी पर्याय ही है। एकसमय में जो मिथ्यात्वादि विकारी परिणाम होता है, उसमें उसके ही षट्कारकों का परिणमन स्वतंत्ररूप से होता है; उसे द्रव्य, गुण या निमित्त की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि द्रव्य व गुण त्रिकालशुद्ध हैं और निमित्त परवस्तु है।

देखो! जब द्रव्य सिद्ध करना हो, तब तो ऐसा कहते हैं कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य (गुण-पर्याय) कर्त्ता है व द्रव्य उनका कर्म है। प्रवचनसार की ६६वीं गाथा में यह कहा है कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य अर्थात् गुण व पर्याय द्रव्य के कर्त्ता हैं, करण हैं व अधिकरण हैं; क्योंकि इनसे द्रव्य सिद्ध होता है। दूसरी अपेक्षा से कहें तो गुण-पर्यायों अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का कर्त्ता, करण व अधिकरण द्रव्य है; क्योंकि द्रव्य उनमें व्यापक है। वहाँ वस्तु की स्थिति अर्थात् अस्तित्व सिद्ध करने की बात है, किन्तु यहाँ यह बात नहीं है।

यहाँ तो यह कहते हैं कि विकारी परिणाम का कर्त्ता विकारी पर्याय है, तथा अभेद से कहने पर विकारी पर्याय का कर्त्ता आत्मा है। विकार के आदि में पर्याय अथवा द्रव्य है। पर्याय को अभेद मानकर आत्मा को कर्त्ता कहा है। उसीप्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्विकारी पर्याय, अपने षट्कारकों से परिणमित होती है; तथापि अभेद से उसका कर्त्ता आत्मा को कहा है। यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि 'कर्म का अभाव हुआ, इसकारण मोक्षपद प्रगट हुआ या मोक्षमार्ग प्रगट हुआ' – ऐसा मानना ठीक नहीं है। 'चार घातिया कर्मों का नाश होने से केवलज्ञान हुआ' – ऐसा यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र में स्पष्ट लिखा है तथा यह बात किसी अपेक्षा सत्य भी है, क्योंकि वहाँ निमित्त की अपेक्षा कथन है; किन्तु वास्तव में तो केवलज्ञान

की प्राप्ति के काल में केवलज्ञान प्रगट हुआ है; उसके आदि में आत्मा है, कर्म का अभाव नहीं। यदि और भी सूक्ष्मदृष्टि से विचार करें तो केवलज्ञान के आदि में वस्तुतः केवलज्ञान की पर्याय ही है। अरे! लोगों को अपनी स्वतंत्रता की महिमा नहीं आती, पराधीनता का ही अनादिकालीन अभ्यास है; इसलिए स्वतंत्रता की बात बैठती नहीं है।

निश्चय से पर्याय का कर्त्ता द्रव्य नहीं है, क्योंकि पर्याय के आदि-मध्य-अन्त में पर्याय है। 'मोक्षमार्ग की पर्याय के आदि-मध्य-अन्त में आत्मा है' – यह बात तो यहाँ पर्याय को द्रव्य में अभेद मानकर कही गई है। सम्यग्दर्शन की पर्याय में द्रव्य की श्रद्धा आती है, द्रव्य नहीं आता। सम्यग्ज्ञान की पर्याय में द्रव्य जैसा परिपूर्ण है, उसका वैसा ज्ञान आता है। वास्तव में तो द्रव्यसम्बन्धीज्ञान पर्याय में आता है, वहाँ भी पर्याय का ही ज्ञान पर्याय में आता है। तथा द्रव्य है, इसलिए द्रव्य का ज्ञान पर्याय में होता है – ऐसा भी नहीं है। ज्ञान की पर्याय में इतनी ताकत है कि द्रव्य का ज्ञान, अपना ज्ञान तथा लोकालोक का ज्ञान – सब एक समय में कर लेती है, परोक्षरूप से श्रुतज्ञान में भी ऐसी सामर्थ्य है। लोकालोक का ज्ञान भी पर्याय में स्वयं से होता है, लोकालोक के कारण नहीं। लोकालोक है, इसलिए पर्याय में लोकालोक का ज्ञान हुआ – ऐसी पराधीनता पर्याय में नहीं है। पर्याय में द्रव्य का ज्ञान होता है, तथापि द्रव्य पर्याय में नहीं आता। अहाहा! द्रव्य परिणाम का स्पर्श नहीं करता तथा पर्याय द्रव्य का स्पर्श नहीं करती। अहो! वस्तु की स्वतंत्रता की ऐसी अपूर्व अलौकिक बात है।

परन्तु यहाँ ऐसी स्वतंत्रता की चर्चा नहीं है। यहाँ तो यह बताना है कि मोक्षमार्ग की पर्याय के आदि-मध्य-अन्त में आत्मा है, कर्म का अभाव या व्यवहार का राग उसके आदि में नहीं है। व्यवहार का राग है, इसलिए मोक्षमार्ग प्रगट हुआ – ऐसा नहीं है। निश्चय से तो स्वभाव का आश्रय लिया है, वही साक्षात् मोक्षमार्ग का कारण है।

प्रश्न :– 'व्यवहार से होता है' – ऐसा न माने तो क्या एकान्त नहीं हो जायगा ?

उत्तर :– अरे, भगवान ! यह सम्यक्-एकान्त है। निमित्त या सहचारी देखकर व्यवहार के राग को उपचार से मोक्षमार्ग कहा है। पञ्चास्तिकाय में शुभराग को व्यवहार-साधन कहा है। व्यवहार को साधन व निश्चय को साध्य – ऐसा जो कहा है, वह तो भिन्न साध्य-साधन की अपेक्षा से कहा है; परन्तु भाई ! साधन दो नहीं हैं, साधन का निरूपण दो प्रकार से है; साधन तो एक ही है।

मोक्षमार्गप्रकाशक में पण्डितप्रवर श्री टोडरमलजी ने निश्चय-व्यवहार का रहस्य अत्यन्त स्पष्ट रीति से खोला है। वहाँ कहा है कि 'मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, परन्तु मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से है।' इसतरह यथार्थ मोक्षमार्ग एक ही है। मोक्षमार्ग कहो, कारण कहो, उपाय कहो – सब एक ही है, दो नहीं है – यह परम सत्य है।

प्रश्न :– आचार्य अकलङ्कदेव ने तो 'दो कारणों से कार्य होता है' – ऐसा कहा है, उसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर :– वहाँ उन्होंने निमित्त का ज्ञान कराया है। प्रमाणज्ञान में निमित्त का भी ज्ञान कराया जाता है। अपनी पर्याय अपने से होती है, इस बात का निषेध करके निमित्त का ज्ञान नहीं कराया। निश्चय से तो कार्य स्वयं से ही होता है, निमित्त से नहीं होता – इस बात को अपनी जगह सुरक्षित रखकर, प्रमाण में निमित्त का ज्ञान कराया है; यदि उसमें निमित्त का ज्ञान न कराया जाये तो वह प्रमाणज्ञान ही नहीं रहेगा।

मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अधिकार में तो स्पष्ट कहा है कि 'यथार्थ निरूपण सो निश्चय तथा उपचार निरूपण सो व्यवहार'। वहाँ यह भी कहा है कि "व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य को, उनके भावों को व कारण-कार्यादि को, किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है; इसलिए ऐसे श्रद्धान से मिथ्यात्व है, अतः उसका त्याग करना तथा निश्चयनय उसी को यथावत् निरूपण करता है तथा किसी को किसी में मिलाता नहीं है; इसलिए ऐसे श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है, अतः उसका श्रद्धान करना।"

प्रश्न :– व्यवहारनय जिनवाणी में तो कहा है न?

उत्तर :– हाँ, कहा है; परन्तु उसका फल संसार है। समयसार की ११वीं गाथा में कहा है कि "प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष अनादिकाल से ही है तथा इसका उपदेश भी बहुधा सर्व प्राणी परस्पर करते हैं तथा जिनवाणी में व्यवहार का उपदेश शुद्धनय का हस्तावलम्ब जानकर बहुत किया है; परन्तु उसका फल संसार ही है।"

देखो! व्यवहार आता तो अवश्य है, परन्तु वह अनुसरण करने लायक नहीं है; क्योंकि इसका फल संसार ही है।

यह बात सुनकर कई लोग ऐसा आरोप करने लगते हैं कि 'यह तो एकान्त है, एकान्त छोड़ देना चाहिए', परन्तु भाई! जब सम्यक्-एकान्त का ज्ञान होता है, तब ही पर्याय व राग का अर्थात् अनेकान्त का यथार्थ ज्ञान होता है। सम्यक्-एकान्तवालों को ही सम्यक्-अनेकान्त का यथार्थ

ज्ञान होता है। जिसे सम्यक्-एकान्त का ज्ञान नहीं है, उसका ज्ञान विपरीत है; उसे अनेकान्त का सच्चा ज्ञान नहीं है। श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है—

अनेकान्त भी 'सम्यक्-एकान्तरूप निजपद की प्राप्ति के सिवाय अन्य हेतु से उपकारी नहीं है।' सम्यक्-एकान्त अर्थात् आत्मा के आश्रय से जहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट हुआ, वहाँ अनेकान्त का अर्थात् राग व पर्याय का भी सच्चा ज्ञान हो जाता है।

भाई ! यह तो अन्तर में जाने की, पर्याय को अन्तर आत्मा में झुकाने की बात है। द्रव्य के सन्मुख होकर द्रव्य का आश्रय करने से सम्यग्दर्शन होता है। पर्याय या व्यवहार के आश्रय से नहीं होता।

भाई ! यद्यपि तू भगवान है, तथापि तेरी अशुद्धता भी कम नहीं है। अनुभवप्रकाश में श्री दीपचन्दजी ने कहा है कि तीनलोक के नाथ तीर्थंकरदेव के समवशरण में अनन्त बार गया, तथापि तूने अशुद्धता नहीं छोड़ी। तीन लोक के नाथ अर्हन्त परमात्मा की दिव्यध्वनि अनन्त बार सुनी, समवशरण में अनन्त बार मणिरत्न के दीपकों से, हीरों के थाल तथा कल्पवृक्ष के पुष्पों से जिनेन्द्र भगवान की पूजा की। 'जय हो, जय हो' – इसप्रकार भगवान का अनन्त बार जय-जयकार किया।

परमात्मप्रकाश में भी आता है कि भव-भव में भगवान की पूजा की, परन्तु भाई ! परद्रव्य की पूजा तो विकल्प है। प्रभु ! स्वाश्रय किये बिना अशुद्धता कैसे मिट सकती है ? महाविदेहक्षेत्र में, जहाँ साक्षात् तीर्थंकर विराजते हैं, वहाँ भी अनन्त बार जन्मा; परन्तु इससे क्या ?

प्रश्न :– महाविदेह में जाने से तो धर्म होता है न ?

उत्तर :– भाई ! ऐसा कोई नियम नहीं है। किसी क्षेत्रविशेष या कालविशेष में धर्म नहीं है, आत्मा में जावे तो धर्म होता है। अभी-अभी कहा था न कि महाविदेह में अनन्त बार गया, परन्तु सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ। देखो ! सिद्धक्षेत्र में, जहाँ अनन्त सिद्ध परमात्मा विराजते हैं, उन्हीं के पेट के क्षेत्र में अनन्त निगोदिया जीव अवगाहना लेकर पड़े हैं तो भी दोनों का क्षेत्र व भाव भिन्न है। एक के कारण दूसरे में कुछ नहीं होता।

समयसार की आठवीं गाथा में शिष्य को आत्मा का बोध कराते हुए आचार्य कहते हैं कि 'जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त होता है, वह आत्मा है।' इतना भेद पड़ा, इसलिए वह व्यवहार है। अपनी निश्चयस्वरूप वस्तु को समझाने में व्यवहार आता है। समझे बिना अपना कार्य कैसे करें ? इसलिए व्यवहार आता है। साथ ही वहाँ यह भी कहा है कि 'उपदेश करनेवाले

को या सुननेवाले को व्यवहार अनुसरण करने योग्य नहीं है। पुरुषार्थसिद्धि-उपाय में तो ऐसा कहा है कि 'धर्मात्मा सन्त अज्ञानी को व्यवहार द्वारा निश्चय वस्तु समझाते हैं। वहाँ जो अकेले व्यवहार को ही पकड़ते हैं, वे उपदेश सुनने के पात्र ही नहीं हैं।' भाई! निश्चय को समझाने के लिए व्यवहार कहा है। ऐसा यथार्थ समझकर द्रव्य पर दृष्टि स्थापित करो! भेद से समझाया है; परन्तु भेद का लक्ष्य मत करो! अभेद का लक्ष्य करो!! अहाहा! वस्तु तो ऐसी है, धर्म भी ऐसा है और धर्मी भी ऐसा ही होता है।

प्रश्न :– पहले तो व्यवहार ही होता है न?

उत्तर :– नहीं, पहले व्यवहार नहीं होता। जब निश्चय प्रकट होता है, तब जो उस सम्बन्धी राग होता है, उसे व्यवहार कहते हैं।

प्रश्न :– व्यवहार करते-करते धर्म हो जायेगा या नहीं?

उत्तर :– ऐसा बिल्कुल नहीं है। राग करते-करते अरागदशा कैसे हो सकती है? राग की दिशा पर की ओर है तथा अरागी धर्म की दिशा स्व की ओर है। अरे! पर की ओर लक्ष्य करे और स्व की ओर लक्ष्य हो जाये – ऐसा कैसे हो सकता है? चले पूर्व की ओर और पहुँचे पश्चिम में – ऐसा कैसे हो सकता है? राग तो अन्धकार है। अन्धकार से चैतन्यमय प्रकाश कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। भाई! वस्तु ही ऐसी है। व्यवहार से निश्चय होता है – यह मान्यता बहुत स्थूल भूल है। जहाँ व्यवहार को साधन कहा है; वहाँ धर्मी को जो निश्चय प्रकट हुआ, उसका आरोप करके उपचार से कहा है। वास्तव में व्यवहार साधन नहीं है।

४०वें कलश में आया है कि जो घी का घड़ा कहा है, वह घी-मय नहीं है, माटीमय है। 'घी का घड़ा' तो समझाने के लिए व्यवहार से कहा है। उसीप्रकार निश्चयवस्तु को समझाने के लिए व्यवहार द्वारा कहा है, परन्तु यदि कोई अकेले व्यवहार को ही ग्रहण करे तो वह उपदेश सुनने का भी पात्र नहीं है।

'आदि-मध्य-अन्त' – ऐसा कहकर इस गाथा में अलौकिक बात की है। राग हो या सम्यग्दर्शन, उसके आदि-मध्य-अन्त में आत्मा ही है। कोई व्यवहार की अपेक्षा रखकर सम्यग्दर्शन नहीं हुआ है तथा निमित्त की अपेक्षा रखकर विकार नहीं हुआ है। अहो! भावार्थ में भी पण्डित जयचंदजी छाबड़ा ने बहुत भाव भर दिया है।

पुद्गलकर्म के निमित्त से संसारयुक्त अथवा संसाररहित अवस्था के रूप में आत्मा स्वयं परिणमित होता है। यद्यपि कर्म निमित्तरूप में उपस्थित

है, तथापि विकाररूप तो आत्मा स्वयं ही परिणमित हुआ है। प्रवचनसार की ३४वीं गाथा में ईश्वरनय आया है, वहाँ कहा है कि 'आत्मद्रव्य ईश्वरनय से परतन्त्रता भोगनेवाला है।' अर्थात् आत्मा स्वयं स्वतन्त्रपने कर्म के आधीन होता है, कर्म उसे आधीन नहीं करता।

धाय की दुकान पर दूध पिलाये जानेवाले मुसाफिर के बालक की तरह जीव स्वतन्त्रपने परवश होता है, निमित्त उसे परवश नहीं करता। मूल नियम व सिद्धान्त न समझे और ऊपर-ऊपर से बात को पकड़कर बैठ जावे तो सत्य वस्तु समझ में नहीं आती। व्यवहार से भी होता है और निश्चय से भी होता है – ऐसा जो मान ले, उसे वास्तव में निश्चय का स्वरूप समझ में नहीं आया।

पर से होता है – ऐसी मान्यतावाले को पर का आदर है तथा स्व का अनादर है। अरे! जिसे राग की रुचि व प्रेम है, उसे निर्विकार निज चैतन्यमय भगवान के प्रति द्वेष है – ऐसी राग-द्वेष की अलौकिक व्याख्या है। व्यवहार-रत्नत्रयरूप राग के प्रति जिसको प्रेम है, उसे भगवान आत्मा के प्रति अरुचि व द्वेष है। तथा जिसे भगवान आत्मा की रुचि हुई है, उसे राग की रुचि उठ गई है। राग रहता है, परन्तु राग की रुचि उठ गई है। समयसार गाथा ७३ में आ चुका है कि विकार का स्वामी पुद्गल है। 'राग के स्वामीपने से मैं सदैव परिणमता नहीं हूँ – ऐसा मैं निर्मम हूँ। यह धर्मी समकिती की बात है, वह सम्यग्दर्शन होने के पूर्व विकल्प द्वारा भी ऐसा ही निर्णय करता है कि भविष्य में जो राग होगा, उसके स्वामीपने से मैं परिणमता नहीं हूँ। व्यवहार आयेगा, परन्तु उस व्यवहार के स्वामीपने से मैं परिणमता नहीं हूँ; क्योंकि मैं तो निर्मम अर्थात् ममतारहित हूँ। प्रभु! तेरा मार्ग ही ऐसा है, तू तो वीतरागस्वरूप प्रभु है। व्यवहार तो तेरी प्रभुता में कलंक है। राग से तेरी प्रभुता में दाग लगता है।

चारों ओर से देखो तो यह सत्य सिद्धान्त ही मजबूत दिखाई देता है। पहले व्यवहार आता है – ऐसा है ही नहीं। जिसको निश्चय के आश्रय से धर्म प्रकट हुआ है, उसके राग को व्यवहार कहा जाता है। किसी-किसी स्थान पर ऐसा भी कथन आता है कि व्यवहार से शुद्धि की वृद्धि होती है, परन्तु इसका अर्थ यह है कि छठवें गुणस्थान में जो निर्मल परिणति की शुद्धि है, सातवें गुणस्थान में उस शुद्धि में वृद्धि होती है। पूर्व की जो शुद्धि है, वह पश्चात् होनेवाली शुद्धि की वृद्धि का कारण है। उसके साथ जो राग है, उसे तो उपचार से शुद्धि की वृद्धि का कारण कहा है।

सर्वत्र निश्चय-व्यवहार का लक्षण इसीप्रकार जानना – ऐसा श्री टोडरमलजी ने कहा है। पञ्चास्तिकाय में व्यवहार साध्य-साधन की बात की है। वहाँ जो आत्मा का या स्व का आश्रय है, वह निश्चय-साधन है, तथा साथ में जो शुभराग है, उसे उपचार से साधन कहा है; परन्तु वह राग यथार्थ साधन नहीं है।

राग से भिन्न प्रज्ञाछैनी द्वारा जो अनुभव प्रगट हुआ, वह निश्चय साधन है। साथ में जो राग है, उस पर आरोप करके उपचार से साधन कहा है। निश्चय-व्यवहार का यथार्थ अर्थ न समझे और अन्य प्रकार से अर्थ करे तो अनर्थ ही होगा, वस्तुस्थिति को समझेगा नहीं। अतः निश्चय-व्यवहार की कथनपद्धति से सुपरिचित होना अति आवश्यक है।

इसप्रकार आत्मा अपने राग का तथा मोक्षमार्ग का कर्त्ता-भोक्ता है, पुद्गलकर्म का कर्त्ता-भोक्ता नहीं है। आत्मा अपने विकारी-निर्विकारी परिणमन का कर्त्ता-भोक्ता तो है, परन्तु पर का – पुद्गलकर्म का कर्त्ता-भोक्ता नहीं है। ऐसा ही वस्तुस्वरूप है, इसे यथार्थ समझना चाहिए

सुबुधि विकास यहु भ्रम नसै

जीव ग्यानगुन सहित, आपगुन-परगुन ज्ञायक।
आपा-परगुन लखै, नांहि पुग्गल इहि लायक॥
जीव दरव चिद्रूप सहज, पुद्गल अचेत जड़।
जीव अमूरति मूरतीक, पुद्गल अन्तर बड़॥
जब लग न होई अनुभौ प्रगट,
तब लग मिथ्यामति लसै।
करतार जीव जड़ करमकौ,
सुबुधि विकास यहु भ्रम नसै॥

– पं० बनारसीदासजी, नाटक समयसार कर्त्ता-कर्म-क्रिया द्वार, छंद ६

अथ व्यवहारं दर्शयति—

ववहारस्स दु आदा पोग्गलकम्मं करेदि णेयविहं।
तं चेव पुणो वेयइ पोग्गलकम्मं अणेयविहं ॥८४॥

व्यवहारस्य त्वात्मा पुद्गलकर्म करोति नैकविधम्।
तच्चैव पुनर्वेदयते पुद्गलकर्मानेकविधम् ॥८४॥

यथांतर्व्याप्यव्यापकभावेन मृत्तिकया कलशे क्रियमाणे भाव्यभावकभावेन मृत्तिकयैवानुभूयमाने च बहिर्व्याप्यव्यापकभावेन कलशसंभवानुकूलं व्यापारं कुर्वाणः कलशकृततोयोपयोगजां तृप्तिं भाव्यभावकभावेनानुभवंश्च कुलालः कलशं करोत्यनुभवति चेति लोकानामनादिरूढोऽस्ति तावद्व्यवहारः, तथांतर्व्याप्यव्यापकभावेन पुद्गलद्रव्येण कर्मणि क्रियमाणे भाव्यभावकभावेन पुद्गलद्रव्येणैवानुभूयमाने च बहिर्व्याप्यव्यापकभावेनाज्ञानात्पुद्गल-

---

अब व्यवहार बतलाते हैं:—

आत्मा करे बहुभाँति पुद्गलकर्म, मत व्यवहार का।
अरु वह हि पुद्गलकर्म आत्माऽनेकविधमय भोगता ॥८४॥

गाथार्थ:— [व्यवहारस्य तु] व्यवहारनय का यह मत है कि [आत्मा] आत्मा [अनेकविधम्] अनेक प्रकार के [पुद्गलकर्म] पुद्गलकर्म को [करोति] करता है [पुनः च] और [तद् एव] उसी [अनेकविधम्] अनेक प्रकार के [पुद्गलकर्म] पुद्गलकर्म को [वेदयते] भोगता है।

टीका:— जैसे भीतर व्याप्य-व्यापकभाव से मिट्टी घड़े को करती है और भाव्य-भावकभाव से मिट्टी ही घड़े को भोगती है; तथापि बाह्य में व्याप्य-व्यापकभाव से घड़े की उत्पत्ति में अनुकूल — ऐसे (इच्छारूप और हाथ आदि की क्रियारूप अपने) व्यापार को करता हुआ तथा घड़े के द्वारा किये गये पानी के उपयोग (पीने) से उत्पन्न तृप्ति को (अपने तृप्तिभाव को) भाव्य-भावकभाव के द्वारा अनुभव करता हुआ — भोगता हुआ, कुम्हार घड़े का कर्त्ता है और भोक्ता है — ऐसा लोगों का अनादि से रूढ़ व्यवहार है। उसीप्रकार भीतर व्याप्य-व्यापकभाव से पुद्गलद्रव्य कर्म को करता है और भाव्य-भावकभाव से पुद्गलद्रव्य ही कर्म को भोगता है, तथापि बाह्य में

कर्मसंभवानुकूलं परिणामं कुर्वाणः पुद्गलकर्मविपाकसंपादितविषयसन्निधि-प्रधावितां सुखदुःखपरिणतिं भाव्यभावकभावेनानुभवंश्च जीवः पुद्गलकर्म करोत्यनुभवति चेत्यज्ञानिनामासंसारप्रसिद्धोऽस्ति तावद्व्यवहारः ।

व्याप्य-व्यापकभाव से अज्ञान के कारण पुद्गलकर्म के होने में अनुकूल (अपने रागादिक) परिणामों को करता हुआ और पुद्गलकर्म के विपाक से उत्पन्न हुई विषयों की निकटता से उत्पन्न (अपनी) सुखदुःखरूप परिणति को भाव्य-भावकभाव के द्वारा अनुभव करता हुआ – भोगता हुआ जीव पुद्गलकर्म को करता है और भोगता है – ऐसा अज्ञानियों का अनादि संसार से प्रसिद्ध व्यवहार है ।

भावार्थ :– पुद्गलकर्म को परमार्थ से पुद्गलद्रव्य ही करता है; जीव तो पुद्गलकर्म की उत्पत्ति के अनुकूल अपने रागादिक परिणामों को करता है और पुद्गलद्रव्य ही कर्म को भोगता है । तथा जीव तो पुद्गलकर्म के निमित्त से होनेवाले अपने रागादिक परिणामों को भोगता है, परन्तु जीव और पुद्गल का – ऐसा निमित्त-नैमित्तिकभाव देखकर अज्ञानी को ऐसा भ्रम होता है कि जीव पुद्गलकर्म को करता है और भोगता है । अनादि अज्ञान के कारण ऐसा अनादिकाल से प्रसिद्ध व्यवहार है ।

परमार्थ से जीव-पुद्गल की प्रवृत्ति भिन्न होने पर भी जबतक भेदज्ञान न हो, तबतक बाहर से उनकी प्रवृत्ति एक-सी दिखाई देती है । अज्ञानी को जीव-पुद्गल का भेदज्ञान नहीं होता; इसलिये वह ऊपरी दृष्टि से जैसा दिखाई देता है, वैसा मान लेता है । इसलिये वह यह मानता है कि जीव पुद्गलकर्म को करता है और भोगता है । श्रीगुरु भेदज्ञान कराकर परमार्थजीव का स्वरूप बताकर, अज्ञानी के इस प्रतिभास को व्यवहार कहते हैं ।

गाथा ८४ की उत्थानिका, गाथा एवं उसकी टीका पर प्रवचन

अब अज्ञानी का रूढ़ व्यवहार दिखाते हैं । अज्ञानी क्या मानता है, उसे स्पष्ट करके भेदज्ञान कराते हैं :–

"जैसे अन्दर में व्याप्य-व्यापकभाव से मिट्टी घड़े को उत्पन्न करती है तथा भाव्य-भावकभाव से मिट्टी ही घड़े को भोगती है; तथापि बाहर में व्याप्य-व्यापकभाव से घड़े की उत्पत्ति के अनुकूल व्यापार को करता हुआ तथा घड़े द्वारा किए गये पानी के उपयोग से उत्पन्न हुई तृप्ति को भाव्य-भावकभाव से अनुभव करता हुआ – भोगता हुआ कुम्हार घड़े को करता है व भोगता है – ऐसा लोगों का अनादिरूढ़ व्यवहार है ।"

आचार्य कहते हैं कि व्याप्य-व्यापकभाव से मिट्टी ही घड़े की पर्याय को करती है, कुम्हार नहीं। यद्यपि यह बात आसानी से गले नहीं उतरती, परन्तु तत्त्व समझना हो तो उतारनी ही पड़ेगी; क्योंकि वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। यहाँ तो यह कहते हैं कि जो व्यवहार अर्थात् शुभराग को अपना कर्त्तव्य मानकर उसका कर्त्ता होता है, उसे आत्मा हेय हो जाता है। राग को उपादेय माननेवालों ने अमृतस्वरूप भगवान आत्मा को हेय माना है। जैसे कोई महापुरुष अपने घर आवे और हम उसे छोड़कर घर के छोटे-छोटे बालकों से बात करने लग जावें तो उस महापुरुष का अनादर है। उसीप्रकार तीनलोक का नाथ भगवान आत्मा अन्दर विराजमान है, उसके सन्मुख न होकर राग का लक्ष्य करके आनन्द मानें तो यह भगवान आत्मा का अनादर है।

परमात्मप्रकाश की ३६वीं गाथा में लिखा है कि :–

"अत्र सदैव परमात्मा वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतानामुपादेयो भवत्यन्येषां हेय इति भावार्थः"

सदा ही वीतराग निर्विकल्प समाधि में लीन साधुओं को तो आत्मा उपादेय है, किन्तु मूढ़ों को नहीं। अहाहा......! क्या कहते हैं, सुन तो सही। भाई ! आत्मा शुद्ध चैतन्यघन पूर्णानन्दस्वरूप भगवान है, वह निर्विकल्प समाधि में लीन साधुओं को सदैव उपादेय है और राग हेय है। तथा जो राग को उपादेय मानकर राग की रुचि में पड़े हैं, उन्हें आत्मा हेय है। राग हेय है – ऐसा कथन तो आता है, परन्तु यहाँ तो यह कह रहे हैं कि राग की रुचिवालों को आत्मा हेय हो रहा है।

यह अन्तरंग की अति सूक्ष्म बात है। तत्त्व से अपरिचित लोगों के कहने से क्या होता है ? दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का राग विभावभाव है। वह स्वभाव से विपरीत – भिन्न वस्तु है। जो उस विभाव का कर्त्ता बनता है, उसके विभाव का परिणमन नये कर्मबन्ध में निमित्त होता है; तब अज्ञानी यह मानता है कि मैंने नये कर्म को बाँधा है। उसीप्रकार अज्ञानी जो हर्ष-शोक भोगता है, उसमें कर्म निमित्त है। वहाँ अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैं कर्म को भोगता हूँ – यह उसकी मिथ्या मान्यता है।

यहाँ दो द्रव्यों के मध्य भेदज्ञान कराना है। अज्ञानी रागरूप परिणमन के व्याप्य-व्यापकभाव से स्वयं से स्वयं में करता है। राग मेरा व्याप्य – कर्म तथा मैं राग का व्यापक – कर्त्ता – ऐसा अज्ञानी माने तो अज्ञानपने यह बात ठीक है। अज्ञानी अपनी वस्तु को भूलकर व्याप्य-

व्यापकभाव से विकाररूप परिणमन करता है। यह बात अज्ञानदशा में तो बराबर है, परन्तु उसका विकारी परिणमन नवीन कर्मबन्ध में निमित्त है; वहाँ निमित्त देखकर 'मैंने कर्म बाँधा' – ऐसा जो अज्ञानी मानता है, वह विपरीत है। हर्ष-शोक के भोगने के काल में कर्म निमित्त है, इसकारण 'मैं कर्म का भोक्ता हूँ' – ऐसा मानना मिथ्या है।

यहाँ तो भेदज्ञान कराने का प्रयोजन है। अतः यह कहा है कि कर्मबन्धन के काल में ज्ञानी (आत्मा) उस कर्मबन्ध का निमित्त भी नहीं है। अहाहा! आत्मद्रव्य कर्मबन्ध में निमित्त नहीं होता – ऐसा इसका स्वभाव है।

समयसार की १०५वीं गाथा में आता है – "इस लोक में वास्तव में आत्मा स्वभाव से पौद्‌गलिक कर्म का निमित्तभूत नहीं होने पर भी, अनादि अज्ञान के कारण पौद्‌गलिक कर्म को निमित्तरूप होते हुए अज्ञानभाव में परिणमित होने से निमित्तभूत होने पर पौद्‌गलिक कर्म उत्पन्न होता है; इसकारण 'पौद्‌गलिक कर्म आत्मा ने किया' – ऐसा निर्विकल्प विज्ञानघन-स्वभाव से भ्रष्ट, विकल्पपरायण अज्ञानियों का विकल्प है; वह विकल्प उपचारमात्र ही है, परमार्थ नहीं।"

अज्ञानी मान लेता है कि मैं कर्मबन्ध का कर्त्ता व भोक्ता हूँ, वस्तुतः ऐसा नहीं है। मात्र उपचार से ही अज्ञानी को कर्मबन्ध का कर्त्ता कहा जाता है।

आत्मा स्वभाव से पौद्‌गलिक कर्म का निमित्त नहीं है। अरे, द्रव्य निमित्त कैसे हो सकता है? और जब द्रव्य निमित्त नहीं है तो जिसकी दृष्टि द्रव्य पर है – ऐसा ज्ञानी भी नये कर्मबन्धन में निमित्त नहीं है।

भगवान वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है। बाहर में रूपवान शरीर वगैरह में जो रुचि है, वह सब मिथ्यात्वभाव है। अन्दर पूर्णानन्द का नाथ परमात्मा त्रिकाल पड़ा है; उसकी रुचि छोड़कर जो परवस्तु के प्रति आकर्षण है, वही अज्ञान है। अज्ञानी इन बाह्य संयोगों की चमक-दमक देखकर उनके आकर्षण में रुक जाता है, राजी हो जाता है; परन्तु यह तो हाड़-माँस में रहनेवाले फास्फोरस की चमक है। अन्दर तीन लोक का नाथ चैतन्यस्वरूप भगवान है, वह चमत्कारिक वस्तु है। अहाहा! ऐसा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप भगवान ज्ञायक नये कर्मबन्धन में निमित्त हो – ऐसा इसका स्वभाव ही नहीं है। यदि स्वभाव से आत्मा निमित्त हो तो आत्मा विकारस्वरूप ही हो जायगा। कर्मबन्धन का उपादान तो जड़ (कर्म) है, तथा उसमें अज्ञानियों का अज्ञानभाव निमित्त है, आत्मद्रव्य निमित्त नहीं है।

देखो ! यह तो भगवान की कही हुई धर्मकथा है। यहाँ से लक्ष्य अन्यत्र चला जाये तो जिनवाणी का अनादर है। जिनवाणी को सुनने एक भवावतारी इन्द्र भी आते हैं – ऐसी यह भगवान की दिव्यध्वनि है। यह महान सौभाग्य से ही सुनने-समझने को मिल पाती है।

नियमसार की १०८वीं गाथा में आया है कि "भगवान अरहन्त के मुखारविन्द से निकली हुई, (श्रवण के लिये आई हुई) सकल जनता को श्रवण का सौभाग्य प्राप्त हो – ऐसी सुन्दर आनन्दस्यन्दी, अनक्षरात्मक दिव्यध्वनि के परिज्ञान में कुशल चतुर्थज्ञानधर (मनःपर्ययज्ञान के धारी) गौतम महर्षि के मुखकमल से निकली हुई चतुर वचनरचना के गर्भ में विद्यमान राद्धाँतादि (सिद्धान्तादि) समस्त शास्त्रों के अर्थसमूह के सार सर्वस्वरूप, शुद्ध-निश्चय-परम-आलोचना के चार भेद हैं।"

यद्यपि दिव्यध्वनि भगवान के मुख से नहीं निकलती, सर्वांग से ॐकारध्वनिरूप निकलती है; तथापि जगज्जनों की अपेक्षा उसे 'मुखारविन्द से निकली' – ऐसा कहा जाता है। अहो ! आनन्द बरसाती हुई वाणी निकलती है, उस वाणी द्वारा आनन्दस्वरूप आत्मा का निरूपण होता है, इसलिए उस वाणी को आनन्द देनेवाली कहा है – यह निमित्तापेक्षा कथन है। भगवान की वाणी में वीतरागता की बात आती है। वीतरागता तभी प्रगट होती है, जबकि स्व का आश्रय हो। आनन्द की अनुभवदशा का प्रगट होना ही जिनवाणी का सार है। इस दिव्यध्वनि को सुनकर चार ज्ञान के धारी गणधरदेव सिद्धान्त शास्त्रों की रचना करते हैं। ऐसी दिव्यवाणी जिनके कानों में पड़ती है, उनका महासौभाग्य है। अहो ! इस दिव्यध्वनि का सार ही कुन्दकुन्द के पाँच परमागमों में अंकित हो गया है।

प्रश्न :– इस काल में आपने भी यह सरस कार्य किया है ?

उत्तर :– पर का कार्य कौन कर सकता है ? छहों द्रव्यों में जिससमय जो पर्याय होने का काल हो, वही पर्याय प्रगट होती है। उस पर्याय का वही जन्मक्षण है।

प्रवचनसार की गाथा १०२ में आया है कि द्रव्य की जिस पर्याय की उत्पत्ति का जो काल होता है, वह पर्याय अपने स्वकाल में स्वयं से उत्पन्न होती है। उसकी पर्याय को दूसरा कोई कर दे – ऐसा तो होता ही नहीं है। जन्मक्षण अर्थात् जिस पर्याय की उत्पत्ति का जो काल हो, उसीसमय वह स्वतंत्ररूप से उत्पन्न होती है। इस परमागम मन्दिर के निर्माण का यही काल था, इससे यह इसी काल में बना है, किसी दूसरे ने

इसे बनाया ही नहीं है। दूसरे ने बनाया या बनवाया – ऐसा कहकर तो उससमय इस कार्य में निमित्त कौन था, मात्र इसका ज्ञान कराया है।

जिनवाणी में जो दो कारणों का कथन आता है, उनमें एक यथार्थ कारण है तथा दूसरा उपचार से कारण है। अज्ञानी व्याप्य-व्यापकरूप से राग को करता है। राग का व्यापक आत्मा एवं राग आत्मा का व्याप्य – ऐसा अज्ञानपने से है, वह राग नये कर्मबन्ध में निमित्त है। वहाँ निमित्त देखकर 'मैंने कर्मबन्ध किया' – ऐसा अज्ञानी मानता है। अज्ञानी ने किया तो राग-द्वेष है; तथापि कर्मबन्ध मैंने किया – ऐसा जो विकल्प है, वह उपचार ही है, परमार्थ नहीं है।

जड़कर्म के बन्ध की पर्याय का कर्त्ता आत्मा नहीं है। जड़कर्म की जो पर्याय होती है, वह पुद्‌गल का व्याप्य है तथा पुद्‌गल उसमें व्यापक अर्थात् कर्त्ता है। यह आत्मा का व्याप्य – कर्म नहीं है। अज्ञानी जितना राग-द्वेष करता है, उतने ही प्रमाण में नया कर्मबन्ध होता है। वहाँ राग-द्वेष में अज्ञानी को व्याप्य-व्यापकपना है, परन्तु कर्मबन्ध के साथ इसका व्याप्य-व्यापकपना नहीं है। अज्ञानी रागादि करता है, परन्तु कर्मबन्ध का काम नहीं करता। यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि जो राग-द्वेष को उपादेय मानकर परिणमन करता है – ऐसा अज्ञानी का परिणमन नये कर्मबन्ध में निमित्त होता है। अरे, जिसको भगवान आत्मा हेय हो गया है – ऐसा अज्ञानी जीव नये कर्मबन्ध का निमित्त होता है। अरे प्रभु! ऐसा मनुष्य जन्म मिला, इसमें अपनी शुद्ध त्रिकाली वस्तु की दृष्टि न हुई तो पता नहीं, तुम्हारा पुनर्जन्म कहाँ होगा? वहाँ तुझे किसकी शरण मिलेगी? इसलिए हे भाई! आज ही आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) कर लेने योग्य है – यह अवसर चूकने जैसा नहीं है।

आचार्य कहते हैं कि अन्दर में व्याप्य-व्यापकभाव से मिट्टी घड़े को करती है तथा भाव्य-भावकभाव से मिट्टी ही घड़े को भोगती है। देखो, मिट्टी ही घड़े की कर्त्ता व भोक्ता है, कुम्हार नहीं। मिट्टी कर्त्ता होकर घड़ेरूप कार्य को करती है तथा मिट्टी स्वयं भाव्य अर्थात् भोगने योग्य घड़ा पर्याय को भावकपने भोगती है। श्री अकलंकदेव ने तत्त्वार्थ राजवार्तिक में यह बात कही है कि पुद्‌गल भी पुद्‌गल को भोगता है, पुद्‌गल में भी भोक्ता नाम की शक्ति है। पुद्‌गल अपनी पर्याय को करता है तथा अपनी पर्याय को भोक्ता है। अहाहा! जैनदर्शन बहुत सूक्ष्म है। भाई! इसे समझने के लिए उपयोग सूक्ष्म करके खूब प्रयत्नशील होना

पड़ेगा। अनादि से आज तक अपनी वास्तविक निजवस्तु लक्ष्य में नहीं ली; इसलिए दुर्लभ लगती है; परन्तु अशक्य नहीं है।

मिट्टी घड़े की पर्याय की कर्त्ता व भोक्ता है। यहाँ घड़े की पर्याय में मिट्टी अन्तर्व्यापक कही है – इसका अर्थ यह नहीं है कि वाह्य व्यापक कोई अन्य वस्तु है। बाहर में दूसरी वस्तु कुम्हार है तो वह अपने में व्याप्य-व्यापकभाव से घड़े की उत्पत्ति के अनुकूल अपनी इच्छारूप व्यापार व हस्तादि की क्रियारूप व्यापार को करता है तथा घड़े द्वारा किये गये पानी के उपयोग से उत्पन्न तृप्ति को भाव्य-भावकभाव से भोगता है।

कुम्हार घड़े की उत्पत्ति में अनुकूल अपनी इच्छा एवं हस्तादि की क्रियारूप अपने व्यापार को करता है तथा घड़े के उपयोग से उत्पन्न तृप्ति को भोगता है। इसप्रकार कुम्हार घड़े को करता है व भोगता है – ऐसा लोक का अनादिरूढ़ व्यवहार है। अन्दर में मिट्टी घड़े की पर्याय का कर्त्ता-भोक्ता है। तथा वाहर में कुम्हार अपनी इच्छा व योग के कम्पनरूप अपने कार्य को करता है तथा घड़े के उपयोग से उत्पन्न हुई तृप्ति को स्वयं भोगता है – इसे देखकर अज्ञानी को ऐसा लगता है कि घड़े का कर्त्ता व भोक्ता कुम्हार है। परन्तु ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं।

घड़े की पर्याय में व्याप्य-व्यापक पुद्गल है तथा भाव्य-भावक भी पुद्गल है। आत्मा (कुम्हार) घड़े को व्याप्य-व्यापकभाव से न तो करता है तथा न ही भाव्य-भावकपने भोक्ता है – यह दृष्टान्त कहा। अव सिद्धान्त कहते हैं :– 'उसीप्रकार अन्दर में व्याप्य-व्यापकभाव से पुद्गलद्रव्य कर्म का कर्त्ता है तथा भाव्य-भावकभाव से पुद्गलद्रव्य ही कर्म का भोक्ता है।' देखो! पुद्गल व्यापक है व कर्म उसका व्याप्य है – इसप्रकार व्याप्य-व्यापकभाव से पुद्गल ही जड़कर्म को करता है और पुद्गलद्रव्य ही भाव्य-भावकभाव से जड़कर्म का भोक्ता है। पुद्गलद्रव्य में ऐसी भोक्ता शक्ति है, जिससे वह पुद्गलकर्म को भोगता है।

कर्मबन्ध के चार प्रकार हैं :– प्रकृति बन्ध, प्रदेश बन्ध, स्थिति बन्ध तथा अनुभाग वन्ध।

यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र में ऐसा आता है कि 'विपाकोऽनुभवः' अर्थात् कर्म के विपाक का अनुभव जीव करता है, परन्तु वह निमित्त की अपेक्षा से व्यवहार का कथन है। वस्तुतः कर्म का अनुभव जीव नहीं करता है; कर्म का विपाक तो कर्म में है, जीव तो अपने राग-द्वेष का अनुभव करता है।

यद्यपि यहाँ कह रहे हैं कि व्याप्य-व्यापकभाव से पुद्गल ही कर्म का कर्त्ता है और भाव्य-भावकभाव से पुद्गल ही जड़कर्म का भोक्ता है। तथापि बाहर में व्याप्य-व्यापकभाव से अज्ञान के कारण पुद्गलकर्म की उत्पत्ति में अनुकूल – ऐसे अपने रागादि परिणाम को करता हुआ, तथा पुद्गलकर्म के विपाक से उत्पन्न हुई विषय की जो निकटता एवं उससे उत्पन्न हुई अपनी सुख-दुःखरूप परिणति को भाव्य-भावकभाव से अनुभव करता हुआ, भोगता हुआ – ऐसा जीव पुद्गलकर्म को करता है तथा भोगता है – ऐसा अज्ञानियों का अनादि संसार से प्रसिद्ध व्यवहार है।'

बाहर में जीव अज्ञान के कारण व्याप्य-व्यापकभाव से अपने रागादिक परिणाम को करता है तथा विषयों की निकटता से उत्पन्न हुई अपनी सुख-दुःखरूप परिणति को भाव्य-भावकभाव से भोगता है। जैसे घड़े की अवस्था में कुम्हार का राग व्यापक होकर उसको नहीं करता, उसीप्रकार पुद्गलकर्म की अवस्था में जीव का राग व्यापक होकर पुद्गलकर्म को नहीं करता। पुद्गलद्रव्य ही व्याप्य-व्यापकपने से कर्म करता है तथा पुद्गलद्रव्य ही भाव्य-भावकभाव से जड़कर्म को भोगता है। जिस काल में पुद्गल जड़कर्म का कर्त्ता व भोक्ता होता है, उसी काल में जीव उसके अनुकूल राग-द्वेष करता है। **निमित्त को अनुकूल कहा है, तथा उपादान को अनुरूप कहा है।** ८६वीं गाथा में यह अनुकूल व अनुरूप की बात आयी है। वहाँ नैमित्तिक को अनुरूप कहा है। कर्म स्वयं से बँधता है, उसमें अज्ञानी का राग-द्वेष अनुकूल है, अर्थात् निमित्त है तथा कर्मबन्ध स्वयं उपादान के अनुरूप है।

यह तो सिद्धान्त की भाषा है, अतः थोड़े शब्दों में गम्भीर भाव भरा है। जड़कर्म अपने में अपने कारण व्याप्य-व्यापकरूप से अर्थात् कर्त्ता-कर्मभाव से परिणमित होता है, उसमें जीव का विकारी परिणाम अनुकूल निमित्त है। उसीतरह जड़कर्म अपने में भाव्य-भावकपने स्वयं को भोगता है, वहाँ जीव का विकारी परिणाम अनुकूल निमित्त है। कर्त्ता-भोक्तापने पुद्गलकर्म की अवस्था तो स्वयं से हुई है, उस काल में जीव के रागादि परिणाम अनुकूल निमित्त हैं। निमित्त है, इसलिए उसके कारण पुद्गलद्रव्य की पर्याय हुई – ऐसा नहीं है। जैसे कोई नदी के किनारे खड़ा रहकर पानी को देखे; उसीतरह जब पुद्गल में कार्य होता है, तब नजदीक में विद्यमान जो भिन्न वस्तु है, उसे इसका निमित्त कहा जाता है। भाई! यह सर्वज्ञ परमेश्वर की दिव्यध्वनि में आई हुई बात है।

प्रथम मिट्टी का दृष्टान्त देकर सिद्धान्त समझाया है। कर्म की जो ज्ञानावरणी अवस्था होती है, उसमें परमाणु स्वयं अन्तर्व्यापक होकर

व्याप्य – कर्म की पर्याय को करता है, उसमें जीव का राग निमित्त है। वैसे ही विपाक को प्राप्त हुई कर्म की जो पर्याय छूट जाती है, उस कर्म की पर्याय को पुद्गल भोगता है। कर्म की अवस्था भाव्य और पुद्गल उसका भावक है; तथा अज्ञानी का राग उसमें अनुकूल निमित्त है। वह अज्ञानी राग को करता हुआ और विषयों की निकटता से उत्पन्न हुई अपनी सुख-दुःख परिणति को भोगता हुआ पुद्गलकर्म को भी करता है तथा भोगता है – ऐसा अज्ञानियों का अनादि संसार से प्रसिद्ध व्यवहार है, किन्तु यह व्यवहार असत्यार्थ है।

देखो, अज्ञानी भाव्य-भावकभाव से विषयों की निकटता से उत्पन्न हुई अपनी सुख-दुःखरूप परिणति को भोगता है, परन्तु विषयों को नहीं भोगता। स्त्री के शरीर या दाल, भात, लाडू या मौसमी के रस को नहीं भोगता। स्त्री, शरीर, कुटुम्ब, धन, सम्पत्ति आदि जो निकट होते हैं, संयोग में आते हैं – उनका लक्ष्य करके अज्ञानी अपने हर्ष-शोक के परिणाम को भाव्य-भावकपने से भोगता है; किन्तु पर-पदार्थों को वह भी नहीं भोगता। बिच्छू काटे तो उसके डंक को नहीं भोगता, किन्तु उस डंक के समय जो द्वेष का विकारी परिणाम होता है, वह उसे भोगता है। कर्म विपाक के अनुकूल जो-जो कल्पना होती है, उसका वह अनुभव करता है। अनुकूल का अर्थ है कि निमित्त है, परन्तु निमित्त करता नहीं है। इष्टोपदेश की ३५वीं गाथा में आता है कि कार्य की उत्पत्ति में जो जो अनुकूल निमित्त होते हैं, वे सब धर्मास्तिकायवत् उदासीन निमित्त हैं। निमित्त प्रेरक हो या उदासीन, कार्य की उत्पत्ति में सब निमित्त उदासीन ही हैं। पर को निकट देखकर 'मैं पर को भोगता हूँ' – ऐसी मान्यता अज्ञान है, मिथ्यात्व है।

ऐसी परमसत्य बात वर्तमान में प्रचार-प्रसार में आई है। कोई माने या न माने, कोई निन्दा करे या स्तुति करे; परन्तु भाई! मार्ग तो यही सत्य है। नियमसार की १८६वीं गाथा में आया है कि ऐसा लोकोत्तर जिनेश्वर भगवान का मार्ग किसी को नहीं जँचे – समझ में नहीं बैठे और ऐसे स्वरूपविकल लोग यदि सन्मार्ग की निन्दा करें तो तू उसे सुनकर सन्मार्ग की अभक्ति मत करना, भक्ति का भाव ही रखना।

एक लड़का था, उसको दूसरे लड़के ने चाँटा मार दिया, उसी समय वहाँ से कोई सज्जन व्यक्ति ने मार्ग में चलते हुए उस घटना को देखकर मारनेवाले लड़के को ठपका (उलहना) देते हुए कहा कि 'इसतरह किसी को नहीं मारना चाहिए।' तब वह मारनेवाला लड़का कुतर्क करते

हुए बोला कि 'शास्त्र में तो ऐसा लिखा है कि कोई किसी को मार ही नहीं सकता' तो मैंने मारा – ऐसा तुम कैसे कह सकते हो ? अरे भाई ! यह कुतर्क है, जो तुझे शोभा नहीं देती । तुझे मारने का जो क्रोधभाव हुआ वह आत्मा का कार्य है तथा वह अपनी आत्मा की हिंसा का ही भाव है । यद्यपि आत्मा परद्रव्य का कर्त्ता-भोक्ता नहीं है, किन्तु अज्ञानी अपने राग-द्वेष परिणामों का कर्त्ता तो है ही – ऐसा समझना, कुतर्क नहीं करना ।

गाथा ८४ के भावार्थ पर प्रवचन

'परमार्थ से पुद्गलद्रव्य को पुद्गलद्रव्य ही करता है । जीव तो पुद्गलकर्म की उत्पत्ति के अनुकूल अपने रागादिक परिणाम को ही करता है ।'

देखो, पुद्गलकर्म पर्याय है तथा उसे पुद्गल ही करता है, जीव नहीं करता । जीव तो पुद्गलकर्म की उत्पत्ति में अनुकूल अपने राग-द्वेष परिणाम को करता है । कर्मबन्धन में जीव के परिणाम निमित्त हैं, किन्तु इनसे पुद्गलकर्म की पर्याय उत्पन्न नहीं होती । यहाँ तो यह स्पष्ट कहा है कि कार्य निमित्त से नहीं होता ।

तथा 'पुद्गलद्रव्य ही पुद्गलकर्म को भोगता है; तथा जीव तो पुद्गलकर्म के निमित्त से होनेवाले अपने रागादिक परिणामों को ही भोगता है ।' यहाँ ऐसा कहा है कि जीव तो पुद्गलकर्म के निमित्त से हुए अपने विकारी परिणामों को ही करता है तथा भोगता है, कर्म को नहीं ।

जीव और पुद्गल का ऐसा निमित्त-नैमित्तिकभाव देखकर अज्ञानी को ऐसा भ्रम होता है कि जीव पुद्गलकर्म को करता है तथा भोगता है । 'मैं राग-द्वेष करता हूँ इसलिए पुद्गलकर्म का बन्ध होता है, तथा मैंने राग-द्वेष किये, इसकारण मुझे कर्म से बँधना पड़ा' – ऐसा अज्ञानी मानता है; परन्तु ऐसा नहीं है । जिससमय जो कर्म की पर्याय होने योग्य थी, वही उसीसमय पुद्गल से हुई है; उसकी उत्पत्ति का वही जन्मक्षण है । राग किया, इसकारण कर्म का बन्ध हुआ – ऐसा नहीं है । कर्म का परिणमन स्वयं से स्वकाल में स्वतंत्र हुआ है – ऐसी वस्तुस्थिति है, तथापि जीव पुद्गलकर्म को करता है तथा भोगता है – ऐसा अज्ञानी का अनादिकाल से प्रसिद्ध व्यवहार है ।

परमार्थ से जीव-पुद्गल की प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न होने पर भी जबतक भेदज्ञान न हो, तबतक बाहर से उनकी प्रवृत्ति एक-जैसी दिखाई देती है । जब राग के निमित्त से कर्मबन्धन हुआ, तब निमित्त को देखनेवालों को 'स्वयं

से पर में कार्य हुआ' – ऐसा दिखता है। अज्ञानी जीव-पुद्गल का भेद-ज्ञान नहीं होने से, दोनों की भिन्नता भासित नहीं होने से ऊपर से जैसा दिखे वैसा मान लेता है; कि जीव पुद्गल को करता है एवं भोगता है।

'श्रीगुरु भेदज्ञान कराकर परमार्थ जीव का स्वरूप बताकर अज्ञानी के इस प्रतिभास को व्यवहार कहते हैं।' कर्म की पर्याय को आत्मा नहीं करता और कर्म की पर्याय विकार उत्पन्न नहीं करती – ऐसा समझाने का प्रयोजन पर से अपना भेदज्ञान कराने का है। अहो! जड़कर्म का कर्त्ता तो आत्मा नहीं; किन्तु जिससमय जो राग होता है, उस राग का कर्त्ता भी निश्चय से आत्मा नहीं है।

श्रीगुरु भेदज्ञान कराते हैं अथवा भेदज्ञान करने का उपदेश देते हैं। 'उपदेश देते हैं' – ऐसा कहना भी व्यवहार का वचन है। वाणी के काल में वाणी निकलती है, वाणी की उत्पत्तिरूप कर्म का वही जन्मक्षण है, इससे ही वाणी उत्पन्न हुई है; 'मैं बोलूं' ऐसे विकल्प के कारण भाषा की पर्याय नहीं हुई है। श्रीगुरु भेदज्ञान कराने के लिए समझाते हैं कि – भाई! राग तेरा कर्त्तव्य नहीं है; राग को कर्त्तव्य माने, तबतक अज्ञान है। उसने राग किया, इसकारण उसे कर्मबन्ध हुआ – ऐसा माने तो मिथ्यात्व है। अज्ञानी के इस प्रतिभास को व्यवहार कहते हैं।

प्रश्न :– अज्ञानी को तो व्यवहार होता ही नहीं है?

उत्तर :– हाँ, जिस ज्ञानी को निज चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा का भान हुआ है – उसे सहचरपने जो राग होता है, उसे व्यवहार कहते हैं; किन्तु यहाँ वह बात नहीं है। यहाँ तो अज्ञानी के राग को व्यवहार कहा है – इसका अर्थ यह है कि अज्ञानी अनादि से रूढ़पने 'मैं परद्रव्य का कर्त्ता-भोक्ता हूँ' – ऐसी विपरीत मान्यतासहित रागादि की प्रवृत्ति करता है, उसे यहाँ 'अज्ञानियों का प्रसिद्ध व्यवहार है' – ऐसा कहा है। अहा! जो राग हुआ, वह (अज्ञानी) जीव की पर्याय है; तथा उसके निमित्त से जो कर्मबन्ध हुआ, वह जड़ पुद्गल की पर्याय है। ऐसा होते हुए भी अनादि संसार से अज्ञानीजन भ्रम से मानता है कि 'मुझे राग हुआ तो कर्मबन्धन हुआ' – ऐसे विपरीत अज्ञानमय विकल्प को यहाँ अज्ञानियों का प्रसिद्ध व्यवहार कहा है।

अथैनं दूषयति:—

जदि पोग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा ।
दोकिरियावदिरित्तो पसज्जदे सो जिणावमदं ।।८५।।

यदि पुद्गलकर्मेदं करोति तच्चैव वेदयते आत्मा ।
द्विक्रियाव्यतिरिक्तः प्रसजति स जिनावमतम् ।।८५।।

इह खलु क्रिया हि तावदखिलापि परिणामलक्षणतया न नाम परिणामतोऽस्ति भिन्ना, परिणामोऽपि परिणामपरिणामिनोरभिन्नवस्तुत्वात्परिणामिनो न भिन्नः । ततो या काचन क्रिया किल सकलापि सा क्रियावतो न भिन्नेति क्रियाकर्त्रोरव्यतिरिक्ततायां वस्तुस्थित्या प्रतपत्यां यथा व्याप्यव्यापकभावेन स्वपरिणामं करोति भाव्यभावकभावेन तमेवानुभवति च जीवस्तथा व्याप्यव्यापकभावेन पुद्गलकर्मापि यदि कुर्यात् भाव्य

अब इस व्यवहार को दूषण देते हैं :—

पुद्गलकरम जीव जो करे, उनको ही जो जीव भोगवे ।
जिन को असंमत द्विक्रिया से एकरूप आत्मा हुवे ।।८५।।

गाथार्थ :— [यदि] यदि [आत्मा] आत्मा [इदं] इस [पुद्गलकर्म] पुद्गलकर्म को [करोति] करे [च] और [तद् एव] उसी को [वेदयते] भोगे तो [सः] वह आत्मा [द्विक्रियाव्यतिरिक्तः] (अपनी और पुद्गलकर्म की) दो क्रियाओं से अभिन्न [प्रसजति] ठहरे—ऐसा प्रसंग आता है, [जिनावमतं] जो कि जिनदेव को सम्मत नहीं है ।

टीका :— पहले तो जगत में जो क्रिया है, सो सब ही परिणामस्वरूप होने से वास्तव में परिणाम से भिन्न नहीं है (परिणाम ही है); परिणाम भी परिणामी से (द्रव्य से) भिन्न नहीं है, क्योंकि परिणाम और परिणामी अभिन्न वस्तु है (भिन्न-भिन्न दो वस्तु नहीं हैं); इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि) जो कुछ क्रिया है, वह सब ही क्रियावान से (द्रव्य से) भिन्न नहीं है—इसप्रकार वस्तुस्थिति से ही (वस्तु की ऐसी ही मर्यादा होने से) क्रिया और कर्त्ता की अभिन्नता सदा ही प्रगट होने से, जैसे जीव व्याप्य-व्यापकभाव से अपने परिणाम को करता है और भाव्य-भावकभाव से उसी का अनुभव

भावकभावेन तदेवानुभवेच्च ततोऽयं स्वपरसमवेतक्रियाद्वयाव्यतिरिक्ततायां प्रसजंत्यां स्वपरयोः परस्परविभागप्रत्यस्तमनादनेकात्मकमेकमात्मानमनुभवन्मिथ्यादृष्टितया सर्वज्ञावमतः स्यात् ।

करता है – भोगता है; उसीप्रकार यदि व्याप्य-व्यापकभाव से पुद्गलकर्म को भी करे और भाव्य-भावकभाव से उसी को भोगे तो वह जीव अपनी और पर की एकत्रित हुई दो क्रियाओं से अभिन्नता का प्रसंग आने पर स्व-पर का परस्पर विभाग अस्त (नाश) हो जाने से, अनेक द्रव्यस्वरूप एक आत्मा का अनुभव करता हुआ मिथ्यादृष्टिता के कारण सर्वज्ञ के मत से बाहर है ।

भावार्थ :– दो द्रव्यों की क्रिया भिन्न ही है । जड़ की क्रिया को चेतन नहीं करता और चेतन की क्रिया को जड़ नहीं करता । जो पुरुष एक द्रव्य को दो क्रियायें करता हुआ मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि दो द्रव्य की क्रियाओं को एक द्रव्य करता है – ऐसा मानना जिनेन्द्र भगवान का मत नहीं है ।

गाथा ८५ की उत्थानिका, गाथा एवं टीका पर प्रवचन

अब अज्ञानी के इस व्यवहार को दूषण देते हैं । मैं पर का कर्त्ता-भोक्ता हूँ – ऐसा अज्ञानी का जो व्यवहार है, वह सदोष है, मिथ्यात्वसहित है – ऐसा कहते हैं ।

गाथा ८४ में जो व्यवहार दर्शाया है, वह अनादिरूढ़ अज्ञानी का प्रतिभास है, अब इस ८५वीं गाथा में उस व्यवहार को दूषण देते हैं ।

'प्रथम तो इस जगत में जो क्रिया है सो सब ही परिणामस्वरूप होने से वास्तव में परिणाम से भिन्न नहीं हैं ।' यहाँ परिणाम को क्रिया कहने का आशय यह है कि वस्तु में सहजरूप से पलटनेवाली अवस्था (परिणाम) होती है, उस अवस्था को क्रिया कहा जाता है । कहा भी है :–

> **"करता परिणामी दरव, करमरूप परिणाम ।**
> **किरिया परजय की फिरन, वस्तु एक त्रय नाम ।"**

प्रश्न :– पलटनेवाली अवस्थाओं में जो एक अवस्था मिटकर दूसरी अवस्था हुई है, वह निमित्त के कारण ही हुई है न ?

उत्तर :– नहीं, ऐसा नहीं है । क्रिया अर्थात् परिणाम (पर्याय) के रूप में पलटना वस्तु का स्वरूप है । जहाँ एक अवस्था पलटकर दूसरी अवस्था होती है; वहाँ लोगों को भ्रम से ऐसा लगता है कि यह जो निमित्त मिला है – इसी के कारण यह दूसरी अवस्था हुई है, परन्तु ऐसा बिल्कुल

नहीं है। यहाँ स्पष्ट कहा है कि प्रथम तो जगत में जड़ व चेतन की पलटनेवाली अवस्थारूप जो क्रिया है, वह सब परिणामस्वरूप ही है।

भाई ! यह तो तत्त्वज्ञान की मूल प्रयोजनभूत वात है दूसरी वात को जानो या न जानो, किन्तु इस प्रयोजनभूत मूलवात को तो अवश्य जानना ही चाहिये। कहते हैं कि क्रिया परिणामस्वरूप है और वह परिणाम ही है। पलटनेवाली क्रिया द्रव्य का कार्य है। परिणाम, कर्म, कार्य या व्याप्य – सव एक ही हैं। क्रिया वास्तव में परिणामस्वरूप है, परिणाम से भिन्न नहीं है। इस शरीर की हलन-चलन या बदलनेवाली अवस्थारूप जो भी क्रिया हुई, वह आत्मा के विकल्प करने से नहीं हुई है। ये पलटनेरूप क्रिया अपने द्रव्य के परिणामस्वरूप है। अहाहा ! यह अँगुली की हिलनेरूप जो क्रिया हुई है, वह अपने परिणामस्वरूप है। क्रिया व परिणाम भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

'परिणाम भी परिणामी से (द्रव्य से) भिन्न नहीं हैं, क्योंकि परिणाम व परिणामी अभिन्न वस्तु है।' देखो, जड़ व चेतन में जो क्रिया है, वह सव परिणामस्वरूप है, और परिणाम से परिणामी भिन्न नहीं है क्योंकि परिणाम व परिणामी अभिन्न वस्तु ही है।

प्रश्न :– 'परिणाम परिणामी से भिन्न है' – ऐसा कथन भी तो आता है, उसका क्या आशय है ?

उत्तर :– हाँ, आता है; परन्तु वह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो पर से भिन्न करने की अर्थात् भेदज्ञान करने की वात है। समयसार गाथा ३२० की टीका में तथा परमात्मप्रकाश की ६८वीं गाथा में जो ऐसा कहा है कि आत्मा मोक्षपरिणाम का कर्त्ता नहीं है, वह तो वहाँ त्रिकाली शुद्ध चैतन्यस्वरूप की दृष्टि कराने की अपेक्षा से परिणाम व परिणामी को भिन्न कहा है। जवकि यहाँ तो वस्तु को पर से भिन्न तथा अपने द्रव्य-पर्याय से अभिन्न सिद्ध करना है; इसलिए कहते हैं कि क्रिया परिणामस्वरूप होने से परिणाम से भिन्न नहीं है तथा परिणाम भी परिणामी से भिन्न नहीं है। परिणाम व परिणामी अभिन्न वस्तु हैं, दोनों भिन्न-भिन्न वस्तु नहीं हैं। परिणाम परिणामी ने किया है, कोई परवस्तु उसका कर्त्ता नहीं है। यह वस्तुस्थिति ही यहाँ सिद्ध की गई है।

प्रवचनसार की ८६वीं गाथा में ऐसा कहा है कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्रव्य के कर्त्ता, करण तथा अधिकरण हैं। द्रव्य उत्पाद-व्यय का कर्त्ता है – ऐसा कथन तो आता है, परन्तु वहाँ तो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्रव्य के कर्त्ता है एवं द्रव्य कार्य है – ऐसा कहा है। वहाँ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से द्रव्य

का अस्तित्व सिद्ध करने की बात है। भाई! जिस अपेक्षा से जहाँ जो बात हो, उस अपेक्षा से उसे यथार्थ समझना चाहिए।

यहाँ परिणाम व परिणामी भिन्न नहीं हैं – यह सिद्ध करना है। परिणाम पर से भिन्न है तथा वह पर से नहीं होता, यह बताना चाहते हैं। क्रिया परिणाम से भिन्न नहीं है और परिणाम परिणामी से भिन्न नहीं है। देखो! मिट्टी के पिण्ड में से घड़ा हुआ – यह क्रिया हुई, यह क्रिया परिणामस्वरूप है, मिट्टी के कर्मस्वरूप अर्थात् कार्यस्वरूप है। यह क्रिया परिणामस्वरूप होने से परिणाम ही है तथा वह घड़ारूप परिणाम परिणामी से (मिट्टी से) अभिन्न है; तथापि वह घड़ारूप परिणाम कुम्हार से भिन्न है, कुम्हार से घड़ा बना ही नहीं है। उसीप्रकार चावल पानी से नहीं पकता। चावल पकने की जो क्रिया होती है, वह पलटनेवाली क्रिया है, जो कि परिणामस्वरूप है तथा परिणाम परिणामी द्रव्य से अभिन्न है; इसलिए चावल पकनेरूप परिणाम का कर्त्ता चावल द्रव्य है, पानी नहीं। भाई! यह तो अध्यात्म का कोई अलौकिक तार्किक सिद्धान्त है।

प्रश्न :– पानी तो अग्नि से उष्ण होता है न?

उत्तर :– नहीं भाई! ऐसा नहीं है। पानी अग्नि से उष्ण नहीं होता। पानी की पूर्व पर्याय शीतल थी, वह पलटकर उष्ण हुई है। वह क्रिया परिणामस्वरूप है – परिणाम से अभिन्न है और वह परिणाम भी परिणामी से भिन्न नहीं है; और अग्नि से भिन्न है, इसलिए अग्नि से पानी उष्ण नहीं होता।

विश्व में अनन्त द्रव्य हैं, वे अनन्त द्रव्य अनन्तपने कैसे रहें? वे अपने-अपने परिणाम को स्वयं उत्पन्न करें तो ही अनन्त द्रव्य अनन्तपने रह सकें। पर से उत्पन्न हो तो सब परस्पर मिल जायेंगे – खिचड़ी हो जायेंगे, अनन्त द्रव्य अनन्तरूप से नहीं रह सकेंगे।

प्रश्न :– क्या अग्नि के बिना ही पानी गरम हो जाता है?

उत्तर :– हाँ; पानी अग्नि के विना ही गरम होता है, क्योंकि अग्नि व पानी की पर्याय के बीच अन्योन्याभाव है। जैसे – जड़ व चेतन इन दो द्रव्यों के बीच अत्यन्ताभाव है, उसीतरह परमाणु-परमाणु की पर्याय के बीच अन्योन्याभाव है। बापू! यह तो धर्म की अति सूक्ष्म बात है। इसको समझने के लिए बुद्धि को सूक्ष्म करना चाहिए।

जैसे भरी हुई बैलगाड़ी जाती है, उसके नीचे साथ-साथ कुत्ता चलता है। कुत्ते का सिर गाड़ी को स्पर्श करता था, अतः कुत्ता ऐसा मानने लगा कि 'मैं भरी हुई गाड़ी को खींचकर चला रहा हूँ'; उसीतरह दुकानदार दुकान पर बैठकर माल लेने या बेचने का विकल्प करता है और मान लेता है कि इस व्यापार की सारी क्रियाएँ मैं करता हूँ या मुझसे होती हैं। ऐसा माननेवाला अज्ञानी है, कुत्ते जैसी मिथ्याकल्पनायें करता है।

प्रश्न :– आपका कहना बराबर है कि गाड़ी को कुत्ता नहीं चलाता, परन्तु बैल तो चलाते हैं न ?

उत्तर :– नहीं, भाई ! गाड़ी बैलों से भी नहीं चलती, वह तो स्वयं से चलती है। एक-एक रजकण अपनी क्रियावतीशक्ति से स्वतंत्र गमन करता है, पर के कारण गमन नहीं होता।

प्रश्न :– मोटर पेट्रोल से चलती है, यह तो सत्य है न ?

उत्तर :– नहीं, मोटर पेट्रोल से नहीं चलती। मोटर का एक-एक रजकण – परमाणु अपनी क्रियावतीशक्ति से स्वतन्त्र गति करता है।

प्रश्न :– जब मोटर चलती है तो मोटर के अन्दर बैठा यात्री तो मोटर के कारण ही अपने गन्तव्य पर पहुँचता है न ?

उत्तर :– नहीं, ऐसा भी नहीं है। मोटर की गति मोटर के कारण होती है और मुसाफिर की गति मुसाफिर के कारण होती है। किसी के कारण किसी अन्य की गति नहीं होती।

शंका :– बात समझ में तो आती है, परन्तु बैठती नहीं है, जमती नहीं है।

समाधान :– भाई ! समझकर बात को बैठाने का पुरुषार्थ करे तो बात क्यों नहीं बैठेगी, अवश्य बैठेगी। प्रत्येक परमाणु व प्रत्येक जीव की अवस्था जो पूर्व में थी, वह पलटकर दूसरी हुई – वह क्रिया है। यह क्रिया परिणामस्वरूप होने से परिणाम से भिन्न नहीं है तथा परिणाम परिणामी से भिन्न नहीं है; इसलिए वह परिणाम दूसरे किसी भिन्न पदार्थ से नहीं होता, बल्कि अपने परिणामी द्रव्य से ही होता है।

मोक्षमार्ग के परिणाम का कर्त्ता द्रव्य नहीं है – ऐसा जो कहा है, वह दूसरी बात है। वहाँ यह कहा है कि सामान्य ध्रुव नित्य एकरूप वस्तु पर्याय में नहीं आती, वह अपेक्षा अलग है। यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि पर्याय द्रव्य की है और पर की नहीं है। परिणाम कहो या पर्याय कहो –

एक ही बात है। परिणाम परिणामी द्रव्य का है, पर (निमित्त) का नहीं तथा पर (निमित्त) के कारण से भी नहीं। देखो, आटे में से लोया (पिण्ड) बदलकर रोटी बनना क्रिया है, वह क्रिया परिणामस्वरूप होने से परिणाम ही है। रोटी परिणाम ही है तथा रोटीरूप परिणाम परिणामी से (आटे के परमाणु से) भिन्न नहीं है, इसलिए पर से अर्थात् बाई से या बेलन वगैरह निमित्तरूप परद्रव्य से रोटी बनती ही नहीं है।

इस परमागम मन्दिर के संगमरमर (मार्बल) के पाटियों पर अक्षरें उकेरने की मशीन परदेश से आई, वह उसकी परिणामस्वरूप क्रिया हुई है, वह क्रिया परिणाम से भिन्न नहीं है तथा परिणाम परिणामी से भिन्न नहीं है, इसलिए मशीन किसी अन्य के कारण से यहाँ आई ही नहीं है।

प्रश्न :– दूसरा लानेवाला व्यक्ति, निमित्त तो है न ?

उत्तर :– भाई ! यह निमित्त की ही बात चलती है। अरे ! जो क्रिया हुई, वह निमित्त से नहीं हुई; तभी तो इसे निमित्त कहा जाता है।

प्रश्न :– लानेवाले ने मेहनत की, तभी तो मशीन यहाँ आई है न ?

उत्तर :– मेहनत की अर्थात् विकल्प किया। यह विकल्प पहले नहीं था और बाद में हुआ, यह क्रिया हुई। यह क्रिया परिणामस्वरूप होने से परिणाम से अर्थात् विकल्प से भिन्न नहीं है तथा वह परिणाम – विकल्प परिणामी द्रव्य से भिन्न नहीं है। इसकारण विकल्प का कर्त्ता जीवद्रव्य है, परन्तु मशीन के परिणमन का कर्त्ता जीव नहीं है। अरे ! मशीन के कारण विकल्प नहीं है और विकल्प के कारण मशीन का परिणमन नहीं है।

भाई ! नवतत्त्व की श्रद्धा हुई – यह तभी कहा जायेगा, जबकि 'अजीव की पर्याय अजीव के द्रव्य-गुण-पर्याय से होती है, पर से नहीं होती' – ऐसा निश्चित हो। यह भी व्यवहार-श्रद्धा ही है। निश्चय-श्रद्धा तो तब कही जावेगी, जबकि परिणाम निजात्मद्रव्यसन्मुख होकर त्रिकाली ध्रुव द्रव्यस्वभाव की प्रतीति करे।

मिथ्यात्व पलटकर जो सम्यग्दर्शन की पर्याय होती है, वह क्रिया है। वह क्रिया परिणामस्वरूप होने से परिणाम ही है तथा परिणाम परिणामी द्रव्य से अभिन्न है, इसलिए सम्यग्दर्शन का कर्त्ता जीव है। दर्शनमोह का अभाव हुआ, इसलिए सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ – ऐसा नहीं है।

घातियाकर्मों का क्षय होने पर कर्मरूप दशा अकर्मरूप होने के कारण जीव को केवलज्ञान प्रगट नहीं हुआ है। क्षयोपशमज्ञान की पर्याय पलटकर केवलज्ञान हुआ – यह क्रिया परिणामस्वरूप होने से परिणाम से

भिन्न नहीं है और परिणाम अर्थात् केवलज्ञान परिणामी आत्मा से भिन्न नहीं है, इसकारण केवलज्ञान आत्मा का कार्य है। घातियाकर्मों के क्षय, वज्र-वृषभनाराचसंहनन तथा मनुष्यपर्याय आदि के कारण केवलज्ञान नहीं हुआ।

प्रश्न :— भगवान की दिव्यध्वनि से तत्त्वज्ञान होता है या नहीं ?

उत्तर :— नहीं; दिव्यध्वनि से तत्त्वज्ञान नहीं होता, ज्ञान स्वयं से होता है। दिव्यध्वनि को वेद भी कहते हैं। पंचास्तिकाय व परमात्मप्रकाश में उसे वेद कहा है। वेद व शास्त्र दो शब्द आते हैं। वेद का अर्थ दिव्य-ध्वनि किया है तथा शास्त्र का अर्थ महामुनियों की वाणी किया है। उन दोनों शब्दों को लेकर यहाँ कहते हैं कि — दिव्यध्वनि (वेद) तथा महामुनियों के शास्त्रों से ज्ञान नहीं होता; क्योंकि ज्ञान की अवस्था पूर्वज्ञान की अवस्था पलटकर हुई है, इसलिए क्रिया है। क्रिया परिणामस्वरूप होने से परिणाम से भिन्न नहीं है और वह परिणाम परिणामी द्रव्य से भिन्न नहीं है — इसप्रकार ज्ञान स्वयं से हुआ है, दिव्यध्वनि से नहीं। (दिव्यध्वनि तो पुद्गल की पर्याय है)

दर्शनपाहुड़ में आया है कि हे सकर्ण ! सम्यग्दर्शन विना जीव वन्दन करने योग्य नहीं है अर्थात् जिसकी श्रद्धा में भूल है तथा जिसकी ऐसी मान्यता है कि 'मैं राग का कर्त्ता हूँ, देहादिक परद्रव्य की क्रिया कर सकता हूँ, देश-कुटुम्ब आदि को सुधार सकता हूँ तथा देशसेवा मेरा धर्म है,' वह सम्यग्दर्शन से रहित है। ऐसा सम्यग्दर्शन से रहित अज्ञानी वन्दन करने योग्य नहीं है, क्योंकि धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। चारित्र तो साक्षात् धर्म है ही, किन्तु जैसे मूल के विना वृक्ष खड़ा नहीं रह सकता, उसीप्रकार सम्यग्दर्शन के विना चारित्र नहीं होता। इसकारण किसी ने द्रव्यलिंग धारण किया हो तथा पंचमहाव्रत पालन करता हो, किन्तु ऐसा मानता हो कि पंचमहाव्रत की क्रिया मैं कर सकता हूँ, यह मेरा कर्त्तव्य है और इनसे मुझे लाभ या धर्म होता है।' तो ऐसा माननेवाला सम्यग्दर्शन से रहित मिथ्या-दृष्टि है और वह वन्दन करने योग्य नहीं है। भाई ! ऐसा भगवान ने शिष्यों को उपदेश में कहा है। वात कड़क वहुत है, परन्तु यथार्थ व सत्य है।

सूत्रपाहुड़ की १०वीं गाथा में कहा है कि "वस्त्ररहित दिगम्बर मुद्रा तथा पाणिपात्र अर्थात् हाथरूपी पात्र में खड़े रहकर आहार करना — ऐसा एक अद्वितीय मोक्षमार्ग तीर्थंकर परमदेव जिनेन्द्रदेव ने कहा है। इसके सिवाय दूसरे सव अमार्ग हैं।" मोक्षमार्गप्रकाशक के पाँचवें अधिकार में दिगम्बर मत के सिवा दूसरे सभी को अन्य मत में सम्मिलित किया है।

अन्य सभी मत उन्मार्ग हैं — यह बात किसी का विरोध करने के लिए नहीं कही है, बल्कि वस्तुस्थिति ही ऐसी है। सूत्रपाहुड़ की २३वीं गाथा में कहा है कि "वस्त्र धारण करनेवाला सिद्ध नहीं होता, मोक्ष प्राप्त नहीं करता। तीर्थंकर भगवान भी जबतक गृहस्थदशा में रहते हैं, तबतक मोक्ष नहीं पाते। दीक्षा लेकर दिगम्बररूप धारण करें, तब मोक्ष पाते हैं; क्योंकि नग्नपना मोक्षमार्ग है, शेष सब लिंग उन्मार्ग हैं।"

वस्त्रसहित मुनिपना माने तो इसमें नौ तत्त्वों की भूल रह जाती है। मुनि की भूमिका में मन्द आस्रव होता है, परन्तु वस्त्र रखने का विकल्प तीव्र आस्रव है — अतः ऐसी मान्यता में आस्रवतत्त्व की भूल हुई। मुनि की भूमिका में संवर उग्र होता है, उसे वस्त्र रखने का भाव ही नहीं होता; तथापि वस्त्र धारण करे तो यह संवरतत्त्व की भूल है। मुनि-भूमिका में कषाय बहुत मन्द होती है, अतः वहाँ वस्त्र ग्रहण की इच्छा सहज ही नहीं रहती — उस स्थिति में ही बहुत निर्जरा होती है; तथापि वस्त्रसहित दशा में बहुत निर्जरा माने — यह निर्जरा तत्त्व की भूल है। छठवें गुणस्थान में वस्त्र-पात्र का संयोग नहीं होता, तथापि वस्त्र सहित मुनिपना मानना तो अजीव तत्त्व की भूल है। तीन कषाय के अभावपूर्वक छठवाँ गुणस्थान होता है, वहाँ मुनि को अन्तर्बाह्य निर्ग्रन्थता होती है, उसे वस्त्रग्रहण की वृत्ति होती ही नहीं है। अहाहा! जिसे तीन कषाय का अभाव है — ऐसे सच्चे भावलिंगी मुनि को सदैव बाहर में वस्त्ररहित नग्न दिगम्बर दशा ही निमित्तरूप होती है।

तीर्थंकरदेव को भी जबतक वस्त्रसहित दशा हो, तबतक मुनिपना नहीं है, तथा तबतक उन्हें केवलज्ञान भी प्रगट नहीं होता। कोई ऐसा माने कि पंचमहाव्रत को दिगम्बरधर्म में आस्रव कहा है, परन्तु श्वेताम्बर मत में तो इसे निर्जरा कहा है। तो कहा होगा, पर ऐसा है नहीं। तत्त्वार्थसूत्र में पंचमहाव्रत को स्पष्टरूप से पुण्यास्रव कहा है। महाव्रत का शुभभाव राग है, राग धर्म का साधन नहीं होता; बल्कि राग से बन्ध होता है, निर्जरा नहीं। पंचमहाव्रत को निर्जरा का कारण मानना सर्वथा मिथ्या है।

अरे! जिन लोगों ने तत्त्वदृष्टि का विरोध करके अन्यथा माना है, वे कहाँ जायेंगे? जिन्हें ऐसा सुन्दर अवसर मिला, तथापि तत्त्व की विपरीत दृष्टि ही रही, सत्य को नहीं समझा, उनकी क्या गति होगी? इसी शास्त्र की ७४वीं गाथा में यह स्पष्ट कहा है कि 'शुभराग वर्तमान में दुःखरूप है तथा भविष्य में भी दुःख का कारण है,' वहाँ यह बात इसलिए कही गई है कि शुभराग वर्तमान में तो आकुलतारूप है ही तथा इससे जो

पुण्यबन्ध होगा; उसके फल में भी संयोग मिलेंगे; परन्तु उन संयोगों पर लक्ष्य जाने पर पुनः दुःखस्वरूप राग ही उत्पन्न होगा।

प्रश्न :— राग होगा यह तो ठीक, परन्तु मन्दराग होगा — इतना तो लाभ हुआ न ?

उत्तर :— भले मन्दराग ही क्यों न हो, परन्तु वह भी वर्तमान में दुःखरूप ही है तथा भविष्य में दुःख के कारणरूप ही है। पुण्य से कदाचित् वीतरागदेव व वीतराग की वाणी का संयोग भी मिले परन्तु संयोगी वस्तु पर लक्ष्य जाने से राग ही होता है।

छहढाला में राग के स्वरूप व फल के बारे में कहा ही है :—

'यह राग आग दहै सदा, तातैं समामृत सेइये।'

राग चाहे शुभ हो या अशुभ, सभी प्रकार का राग आग ही है, इसलिए समतारूपी अमृत का सेवन करो। जन्म-मरण के अन्त का उपाय कोई अलौकिक ही है। बापू ! किसी को दुःख हो तो हो, परन्तु मार्ग तो यही है। प्रत्येक बात सबको अच्छी ही लगे — ऐसा कैसे हो सकता है ?

मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि **"जैसे — मदिरा की निन्दा करने से कलाल दुःखी हो, कुशील की निन्दा करने से वेश्यादिक दुःख पायें और खोटा-खरा पहिचानने की परीक्षा बतलाने से ठग दुःखी हों तो क्या करें ? इसीप्रकार यदि पापियों के भय से धर्मोपदेश न दें तो जीवों का भला कैसे होगा ? ऐसा तो कोई उपदेश है नहीं, जिससे सभी चैन पायें ? तथा वे विरोध उत्पन्न करते हैं; सो विरोध तो परस्पर करें तो होता है; परन्तु हम लड़ेंगे नहीं, वे आप ही उपशान्त हो जायेंगे। हमें तो अपने परिणामों का फल होगा।"** (पाँचवाँ अधिकार, पृ० १३८)

अष्टपाहुड़ की २३वीं गाथा के भावार्थ में कहा है कि श्वेताम्बर आदि वस्त्रधारियों को भी मोक्ष होने का कथन करना मिथ्या है, जिनमत नहीं है। अरे भाई ! एक मिथ्यात्व का परिणाम छूटा, दूसरा मिथ्यात्व का परिणाम हुआ — यह क्रिया है, और क्रिया परिणामस्वरूप होने से परिणाम से भिन्न नहीं है तथा वह परिणाम परिणामी आत्मा से भिन्न नहीं है। मिथ्यात्व के परिणाम को भी आत्मा करता है, दर्शनमोह कर्म नहीं करता। यहाँ तो परिणाम को पर से भिन्न सिद्ध करने की बात है। परिणाम से परिणामी भिन्न है — यह बात इससमय यहाँ नहीं बतलाना है। यहाँ तो द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि की बात बताना है। अहो ! अपने परिणाम की क्रिया भी आत्मा करे तथा पर की क्रिया भी करे — ऐसा माननेवाला

द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि है। दयारूप राग की क्रिया भी करे तथा पर की दया भी करे – ऐसा माननेवाला द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि है। ऐसी तत्त्व की बात सुननेवाले विरले ही होते हैं। योगसार में आता है कि –

'विरला जाने तत्त्व को, अरु सुनन्त है कोय।
विरला ध्यावे तत्त्व को, विरला धारे कोय॥'

संयोगदृष्टिवाले को ऐसा लगता है कि अग्नि जली, इसलिए पानी गर्म हुआ; बेलन फिरा, इसलिये रोटी गोल हुई; परन्तु स्वभावदृष्टि से देखें तो भ्रम मिट जाय। देखो! आटे की पर्याय पलटकर रोटी हुई है, यह क्रिया परिणामस्वरूप होने से परिणाम से अभिन्न है तथा परिणाम परिणामी (आटे) से अभिन्न है। इसमें बेलन ने क्या किया? कुछ नहीं। बेलन में भी जो फेरने की क्रिया हुई है, वह अपने परिणामस्वरूप है; वह क्रिया परिणाम से भिन्न नहीं है तथा वह परिणाम (बेलन के) परमाणुओं से भिन्न नहीं है तो दूसरी वस्तु ने इसमें क्या किया? अर्थात् कुछ नहीं किया; मात्र दूसरी वस्तु उसमें सहचरपने निमित्त है – इतना समझना।

इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि **'जो भी क्रिया है, वह सब क्रियावान् द्रव्य से भिन्न नहीं है।'** अज्ञानी को ऐसा लगता है कि पहले की अवस्था पलटकर जो नवीन अवस्था हुई, वह पर से हुई; परन्तु ऐसा नहीं है। आत्मज्ञानी स्त्री हो, वह रोटी बनने में निमित्त है, परन्तु निमित्तकर्त्ता नहीं है। रोटी की अवस्था तो स्वयं रोटी के कारण ही हुई है, किन्तु जिसका योग व रागरूप उपयोग निमित्त होता है – ऐसे अज्ञानी को निमित्तकर्त्ता कहा जाता है। जिसको राग का कर्त्तापना छूट गया है तथा ज्ञाता-दृष्टारूप भगवान आत्मा दृष्टि में आया है, उस धर्मी जीव का राग यद्यपि रोटी होने की क्रिया में निमित्त है, तथापि निमित्तकर्त्ता नहीं। धर्मी को जो ज्ञान हुआ, उसमें रोटी की पर्याय निमित्त है। यह बात इसी शास्त्र की १००वीं गाथा में आ चुकी है।

इस बात को सुनकर कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि ये उपादानवादी निमित्त का आश्रय तो खूब लेते हैं, और कहते ऐसा हैं कि निमित्त से कार्य नहीं होता; देखो न! इस सोनगढ़ में परमागममन्दिर के निर्माण में छब्बीस लाख रुपया खर्च हुआ, क्या यह सब निमित्त के आश्रय बिना ही हुआ है?

उनसे कहते हैं कि अरे भाई! पर को कौन कर सकता है? जगत में आत्मा की या परमाणु की जो भी क्रिया होती है, वह सब परिणाम-

स्वरूप है, परिणाम से भिन्न नहीं है; तथा परिणाम परिणामी द्रव्य से भिन्न नहीं है – यह महासिद्धान्त है। अत: जो भी क्रिया है, वह अपने द्रव्य से होती है; अन्य किसी से नहीं। ७६वीं गाथा में प्राप्य, विकार्य तथा निर्वर्त्य कर्म की बात आई है। जो पर्याय जिससमय होती है, उसे उसीसमय द्रव्य प्राप्त करता है; इसलिए वह प्राप्य कर्म है। वह पर्याय पूर्व की पर्याय पलटकर हुई है, इसलिये वह विकार्य कर्म है। तथा वह नवीन उत्पन्न हुई है, इसलिए वह निर्वर्त्य कर्म है। उससमय वही पर्याय होनी है, इसलिए उसे ध्रुव भी कहते हैं।

इसप्रकार परिणामस्वरूप क्रिया का कर्त्ता द्रव्य स्वयं है, क्योंकि क्रिया से द्रव्य अभिन्न है; इसलिये क्रिया पर से कभी भी नहीं होती।

इसीप्रकार और भी समझ लेना। जैसे :–

(१) ये जो होंठ हिलते हैं, यह पुद्‌गलस्कन्ध की उत्पादरूप पर्याय है। यह पर्याय पूर्व की पर्याय पलटकर हुई है, इसलिए यह क्रिया है और क्रिया अपने परिणाम से भिन्न नहीं है तथा परिणाम अपने परिणामी से भिन्न नहीं है; इसलिये यह पर्याय जीभ से या इच्छा से या आत्मा से नहीं हुई है।

(२) यह जो श्वास चलती है, यह पुद्‌गल की क्रिया है। क्रिया परिणाम से भिन्न नहीं है तथा परिणाम उसके परमाणु से भिन्न नहीं हैं; इसलिए श्वास का कर्त्ता पुद्‌गल है, आत्मा नहीं।

(३) मृत्यु के समय श्वास अटक जाती है, वह क्रिया पुद्‌गल से अभिन्न है। श्वास की क्रिया पर आत्मा का अधिकार नहीं है, जड़ की क्रिया को आत्मा कैसे करे?

लोक में भी कहा जाता है कि भाई! 'श्वास सगी नहीं होती', क्योंकि वह जड़ की क्रिया है। आत्मा तो जानने के परिणाम का कर्त्ता है। श्वास की क्रिया करने की आत्मा में शक्ति नहीं है। भाई! श्वास तेरी वस्तु नहीं है तथा तुझमें श्वास नहीं है। परमाणु की क्रिया क्रियावान से भिन्न नहीं है। यह द्रव्य की क्रिया कर्त्ता से भिन्न नहीं है, अभिन्न है। यह महासिद्धान्त भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य आदि सन्तों ने जगत के समक्ष प्रगट किया है। श्वास की क्रिया तो अजीव की क्रिया है, जीव उसे नहीं कर सकता। अरे भाई! जब श्वास की क्रिया भी तू नहीं कर सकता तो ये बड़े-बड़े कारखाने जो चलते हैं, उनकी क्रिया का कर्त्ता तू कैसे हो सकता है? एक-एक परमाणु के पलटने की जो क्रिया होती है, वह

क्रियावान पदार्थ से भिन्न नहीं है अर्थात् भिन्न वस्तु से कोई भी क्रिया नहीं होती – यह वस्तु की स्थिति है।

अब कहते हैं कि "इसप्रकार वस्तुस्थिति से ही (वस्तु की ऐसी ही मर्यादा होने से) क्रिया और कर्त्ता की अभिन्नता सदा ही प्रगट होने से, जैसे जीव व्याप्य-व्यापकभाव से अपने परिणाम को करता है, और भाव्य-भावकभाव से उसी का अनुभव करता व भोगता है; उसीप्रकार यदि व्याप्य-व्यापकभाव से पुद्गलकर्म को भी करे और भाव्य-भावकभाव से उसको भी भोगे तो वह जीव अपनी और पर की एकत्रित हुई दो क्रियाओं से अभिन्नता का प्रसंग आने पर स्व-पर का परस्पर विभाग अस्त (नाश) हो जाने से, अनेक द्रव्यस्वरूप एक आत्मा का अनुभव करता हुआ मिथ्यादृष्टिपने के कारण सर्वज्ञ के मत से बाहर है।"

वस्तु की मर्यादा ही ऐसी है कि वस्तु की पर्याय स्वयं में स्वयं से होती है। वह पर से कभी भी नहीं होती। प्रत्येक पदार्थ की वर्तमान पर्याय दूसरे द्रव्य की पर्याय में प्रवेश करके उसे बदल दे – ऐसी वस्तुस्थिति ही नहीं है। 'ही' लगाने से एकान्त नहीं होता, यह तो स्याद्वाद मार्ग है। अपनी पर्याय अपने से ही होती है, पर से नहीं होती – इसका नाम अनेकान्त है। कथंचित् पर्याय स्वयं से हो व कथंचित् पर से हो – ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है। स्वयं से भी हो और पर से भी हो – यह तो 'फूदड़ीवाद' है। हे भाई! रोटी के टुकड़े होते हैं, वह पुद्गल की क्रिया है; अँगुली के कारण टुकड़े नहीं होते। रोटी के टुकड़े होते हैं, वह टुकड़े होने की क्रिया है, वह क्रियावान परमाणु से भिन्न नहीं है, अर्थात् वह क्रिया भिन्न पदार्थ से नहीं हुई है। देखो! यह भेदज्ञान की बात है। कहते हैं कि किसी के घर में कोई प्रवेश करे – ऐसी मर्यादा ही नहीं है। अपनी पर्याय में दूसरे की पर्याय प्रवेश करे अथवा दूसरे की पर्याय में अपनी पर्याय प्रवेश करे – ऐसी वस्तु की मर्यादा ही नहीं है।

कुम्हार से घड़ा हो – ऐसी वस्तु की मर्यादा नहीं है। घड़े की पर्याय मिट्टी से हुई है। मिट्टी के परमाणु पलटकर घड़े की पर्यायरूप हुए हैं, यह क्रिया परिणामस्वरूप है तथा परिणाम से भिन्न नहीं हैं और वह घड़ारूप परिणाम द्रव्य से (मिट्टी के परमाणुओं से) भिन्न नहीं है। अहो! भगवान का कोई अद्भुत अलौकिक मार्ग है। भगवान ने मार्ग बनाया नहीं है; जैसा है, उसे वैसे का वैसा मात्र बताया है। छहों द्रव्य अपनी-अपनी क्रिया के स्वयं कर्त्ता हैं, उनमें पर का रंचमात्र भी हस्तक्षेप नहीं है। परमाणु में परमाणु की क्रिया क्रियावान से भिन्न नहीं है, अभिन्न

है – ऐसी वस्तु की मर्यादा है । आत्मा रोटी का टुकड़ा कर सके, दाँत हिला सके या पर का कुछ कर सके – ऐसी वस्तुस्थिति ही नहीं है, ऐसी आत्मा की सामर्थ्य ही नहीं है ।

संयोगदृष्टिवालों को दिखता है कि आत्मा हाथ से रोटी का टुकड़ा तोड़ता है; परन्तु ऐसी वस्तु की स्थिति ही नहीं है । संयोग से देखनेवाले मिथ्यादृष्टि अपनी मान्यता में वस्तु की मर्यादा को खण्डित कर डालते हैं । देखो ! 'भगवान ने उपदेश दिया' – यह कहना भी व्यवहारनय का कथन है । वाणी वाणी के कारण निकलती है, उसमें ज्ञान निमित्त है । वाणी की पर्याय का उत्पाद वाणी के परमाणुओं से होता है; आत्मा से नहीं, इच्छा से भी नहीं । (भगवान के तो इच्छा के निमित्त बिना ही वाणी खिरती है)

धवला शास्त्र में आया है कि लोकालोक केवलज्ञान में निमित्त है – इसका अर्थ यह नहीं है कि केवलज्ञान की पर्याय लोकालोक से या लोकालोक के कारण हुई है । केवलज्ञान की पर्याय लोकालोक में निमित्त है अर्थात् केवलज्ञान है, इसलिए लोकालोक है – ऐसा नहीं है । न लोकालोक की सत्ता के लिए केवलज्ञान की अपेक्षा है और न केवलज्ञान के अस्तित्व के लिये लोकालोक की । दोनों अपने-अपने में पूर्ण स्वतंत्र व स्वाधीन हैं । लोकालोक तो ज्ञान का परज्ञेय है, स्वज्ञेय तो अपने द्रव्य-गुण-पर्याय हैं । ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है ।

७५वीं गाथा में आ चुका है कि आत्मा के ज्ञानपरिणाम में राग निमित्त है । ऐसा राग को जाननेवाला ज्ञान ही जीव का कार्य है, राग जीव का कार्य नहीं है । ज्ञान की पर्याय स्व-परप्रकाशक होने से स्व को भी जानती है तथा राग को भी जानती है । राग है, इसलिए राग का जानपना नहीं है; बल्कि ज्ञान में स्वयं स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य है । ज्ञान अपनी उस सामर्थ्य से स्व-पर को जानता है । यद्यपि ज्ञान की परिणति में धर्मी जीव को राग निमित्त है, तथापि धर्मी जीव अपनी ज्ञान की परिणति को राग के कारण नहीं जानता । अपनी ज्ञान की पर्याय स्वयं परिणामस्वरूप क्रिया है, वह परिणाम द्रव्य से अभिन्न है; इसकारण उस पर्याय का कर्त्ता आत्मद्रव्य है, निमित्त (राग) नहीं ।

आजकल तो इस बारे में बहुत स्थूल भूल चल रही है । पर से या निमित्त से कार्य होता है – इस मान्यता के मूल में ही भूल है । स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है कि प्रत्येक पदार्थ की तत्समय होनेवाली पर्याय अपनी काललब्धि से प्रगट हुई है । प्रत्येक पर्याय का जन्मक्षण है,

उत्पत्ति का स्वकाल है, उस ही से वह पर्याय हुई है, निमित्त से नहीं। प्रवचनसार की १०२वीं गाथा में पर्याय के जन्मक्षण की बात आई है। द्रव्य की पलटती हुई अवस्था के काल में सहचर पदार्थ देखकर वह पर्याय निमित्त के कारण हुई है – ऐसी मान्यता का यहाँ स्पष्ट निषेध किया है।

देखो, यह लकड़ी ऊँची हुई है, यह इस लकड़ी की पलटनेरूप क्रिया है; यह क्रिया परिणामस्वरूप होने से परिणाम से भिन्न नहीं है, तथा परिणाम (लकड़ी के) परमाणुओं से भिन्न नहीं है। उस क्रिया को करनेवाले वे परमाणु ही हैं – उस क्रिया की कर्त्ता अँगुली नहीं है। लकड़ी ऊँची होने की क्रिया का कर्त्ता आत्मा तो है ही नहीं, परन्तु अँगुली ने भी इस लकड़ी को ऊँचा नहीं किया है।

रोटी तवे पर गर्म होती है, वह आटेरूप परमाणुओं की क्रिया है, उन परमाणुओं के उष्ण होने की योग्यता के कारण रोटी गर्म हुई है; तवे से नहीं, अग्नि से भी नहीं। रोटी को तवे पर उलटने-पलटनेवाली बाई के द्वारा भी रोटी गर्म नहीं हुई है। वहाँ तवे पर रोटी की उलटने-पलटनेरूप क्रिया अपने परमाणुओं से अभिन्न है, बाई उसको हाथ द्वारा पलट सके – ऐसा है ही नहीं। अहो ! वस्तु की ऐसी अबाधित मर्यादा है।

क्रिया व कर्त्ता का अभिन्नपना सदैव प्रगट ही है; इसलिए प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय स्वयं से ही होती है; पर से नहीं – ऐसा सिद्ध होता है। निमित्त कर्त्ता होता है – यह मान्यता सर्वथा मिथ्या है। घड़े की पर्याय मिट्टी से होती है, कुम्हार से कदापि नहीं। वस्तु अपनी पर्याय में है तथा पर्याय की कर्त्ता वस्तु स्वयं है। द्रव्य व पर्यायस्वरूप क्रिया का अभिन्नपना सदा ही प्रगट है। अहाहा ! ये जो अक्षर लिखे हैं, ये पेन से नहीं लिखे हैं क्योंकि अक्षर की क्रिया व पेन भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। अक्षर का लिखा जाना अक्षर के परमाणुओं की क्रिया है, अतः वह परमाणुओं से अभिन्न है, उसका कर्त्ता वे परमाणु ही हैं, परन्तु हाथ से या पेन-पेन्सिल से उन अक्षरों के लिखने की क्रिया नहीं हुई है। गजब बात है भाई ! परन्तु क्या करें, वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है।

समयसार के अन्तिम २७८वें कलश में श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि "जिनने अपनी शक्ति से वस्तुतत्त्व को यथार्थरूप से भलीभाँति कहा है, उन शब्दों ने इस 'समय' (समयसार) की व्याख्या की है; स्वरूपगुप्त अमृतचन्द्रसूरि का इसमें किञ्चित् भी कर्तव्य नहीं है

अहाहा……! आचार्य कहते हैं कि यह टीका (व्याख्या) शब्दों ने की है, मैंने नहीं की। मैं तो अपने स्वरूप में गुप्त हूँ। भाषा की पर्याय से शब्द परिणमे हैं, उनको मैं (आत्मा) नहीं परिणमा सकता।

प्रवचनसार के अन्त में २१वें कलश में भी आचार्यदेव कहते हैं कि वास्तव में पुद्गल ही स्वयं शब्दरूप से परिणमित होते हैं, आत्मा उन्हें परिणमा नहीं सकता। तथा वास्तव में सर्व पदार्थ ही स्वयं ज्ञेयरूप-प्रमेयरूप परिणमित होते हैं, शब्द उन्हें ज्ञेय बनाकर समझा नहीं सकते; इसलिए 'आत्मा सहित विश्व व्याख्येय है, वाणी का गुंथन व्याख्या है और अमृतचन्द्रसूरि व्याख्याता हैं'—ऐसा कहकर हे मनुष्यो! मोह में मत नाचो। अहाहा………! मैंने शब्द बोले और उन शब्दों से तुम्हें ज्ञान हुआ—ऐसे मोह से अभिमान मत करो, क्योंकि यह मान्यता वस्तुस्वरूप के अनुरूप नहीं है। ऐसा कहकर आचार्य ने अपनी लघुता बताई है—इतना ही नहीं, बल्कि वस्तु की मर्यादा भी प्रगट की है। भाई! कौन व्याख्या का कर्त्ता और कौन समझाये? शब्द या भाषावर्गणा आत्मा का कार्य नहीं है, शब्द सुनने से जीव को ज्ञान नहीं होता है।

ज्ञान के परिणमन की उससमय जो क्रिया हुई, वह तेरी है, तेरा आत्मा ही उस क्रिया का कर्ता है; वाणी उस ज्ञान क्रिया का कर्त्ता नहीं है। वर्तमान में प्रवचन सुनने से जो ज्ञान हुआ है, वह शब्द सुनने से नहीं हुआ है। भगवान! इसमें किसी को विवाद करना हो तो भले करे, परन्तु वस्तु की मर्यादा ही ऐसी है कि वस्तु की पलटनेरूप क्रिया (वस्तु से) स्वयं से होती है, पर से नहीं होती। अहो! वस्तुस्वरूप बहुत गम्भीर है। यह चश्मा जो इसप्रकार ऊँचा होकर आँखों पर लगा है, इसे जीव नहीं कर सकता; अँगुली या हाथ का भी यह कार्य नहीं है। तथा चश्मा है, इसलिए हम शास्त्र पढ़ते हैं—ऐसा भी नहीं है। ज्ञान की पर्याय ज्ञान से होती है, पर से नहीं। शब्द कानों में पड़ने से भी ज्ञान नहीं होता।

प्रश्न :— स्वामी समन्तभद्राचार्य ने तो बाह्य और अभ्यन्तर—दो कारण कहे हैं, उसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर :— हाँ, कहे हैं; परन्तु उक्त दो कारण कहकर स्वामी समन्तभद्र ने प्रमाणज्ञान दर्शाया है। अभ्यन्तर कारण निश्चय तथा बाह्य निमित्तकारण व्यवहार—इसप्रकार दोनों के प्रमाणज्ञान में भी 'पर्याय स्वयं से होती है'—इसप्रकार निश्चय को अन्दर में रखकर बात है। कार्य तो अभ्यन्तर कारण से ही होता है—इस बात को रखकर ही वहाँ बाह्य

निमित्त का ज्ञान कराया है। निमित्त का ज्ञान कराने हेतु बाह्य कारण कहा है, परन्तु निमित्त कार्य का वास्तविक कारण नहीं है। धवला शास्त्र के छठवें भाग में स्पष्ट कहा है कि अभ्यन्तर कारण से हीं सर्व कार्य होते हैं, बाह्य कारण से नहीं।

भाई! वाणी से या अन्य (शुभरागादि) निमित्तों से ज्ञान नहीं होता। ज्ञान की पर्याय का स्व-परप्रकाशक स्वभाव है, इसकारण स्व का अनुभव होता है, उसमें पर का भी ज्ञान होता है—ऐसा ज्ञान की पर्याय का धर्म है। अहाहा……! ज्ञान की पर्याय में स्व-पर को प्रकाशित करने की सहज सामर्थ्य होने से पूर्णानन्द का नाथ चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा पर्याय में जानने में आता है; परन्तु अज्ञानी की दृष्टि अन्तर्मुख नहीं है, अनादि से राग के वश हुए अज्ञानी का लक्ष्य निज आत्मद्रव्य पर नहीं जाता है; इसकारण जिस राग व पर्याय को वह बाहर में जानता है, उस राग व पर्याय में एकत्व स्थापित कर लेता है। यह बात समयसार की १७-१८वीं गाथा में भी आ चुकी है, वहाँ कहा है कि—

"ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा आबाल-गोपाल सबको सदाकाल स्वयं ही अनुभव में आता है; तथापि अनादिबन्ध के वश से पर (परद्रव्यों) के साथ एकपने के निश्चय में मूढ़ जो अज्ञानी हैं, उनको 'यह जो अनुभूति है, वही मैं हूँ'—ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता।" यहाँ जो अनुभूतिस्वरूप आत्मा कहा, वह त्रिकाली ध्रुव की बात है। जिसमें स्व-पर को जानने की सामर्थ्य है—ऐसा आत्मा ज्ञान की पर्याय में आबाल-गोपाल सबको जानने में आता है। अज्ञानी को भी वर्तमान ज्ञान की पर्याय में अपना द्रव्य अनुभव में आता है, परन्तु अज्ञानी की द्रव्य पर दृष्टि नहीं है; इसकारण वह जिस राग या पर (निमित्त) को जानता है, उसे ही 'यह मैं हूँ'—ऐसा भ्रम से मान लेता है।

इसप्रकार अज्ञानी को द्रव्यदृष्टि के बिना आत्मज्ञान उदित नहीं होता।

अहाहा! आचार्यों ने कैसा गजब का काम किया है। केवलज्ञान को प्रसिद्ध कर दिया है। वे कहते हैं कि भगवन्! तेरी एकसमय की ज्ञानपर्याय में स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य है। अरे! अज्ञानदशा में भी एकसमय की ज्ञानपर्याय में स्व-परप्रकाशक स्वभाव है। अकेला परप्रकाशक ज्ञान कभी नहीं रहता। प्रत्येक समय पर्याय में स्व-परप्रकाशक स्वभाव होने से ज्ञान में अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा जानने में आता है, परन्तु अज्ञानी की वहाँ दृष्टि नहीं है; इसकारण उसे ऐसा भ्रम रहता है कि मैं राग व पर्याय को जानता हूँ। (वस्तुतः तो वह ज्ञान को ही जानता है।)

देखो ! आत्मा जब राग-द्वेष आदि भाव करता है, उससमय कर्म का बन्ध होता है। वहाँ जो राग की क्रिया होती है, आत्मा उसके साथ अभिन्न है; इसलिए आत्मा राग की क्रिया का तो कर्त्ता है, परन्तु उससमय जो कर्मबन्ध की अवस्था होती है, उस क्रिया का कर्त्ता आत्मा नहीं है। आत्मा जिसतरह अपनी विकारी पर्याय का कर्त्ता है, उसीतरह यदि कर्म-बन्ध की क्रिया का भी कर्त्ता होवे तो उसे द्विक्रियावादी होने का दोष उत्पन्न होता है, अर्थात् वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

यहाँ यह कहा है कि क्रिया व क्रियावान की अभिन्नता सदैव प्रगट है; इसलिए जो आत्मा की पर्याय होती है, उससे आत्मा अभिन्न है। अतः आत्मा अपनी पर्याय का कर्त्ता है। वास्तव में बात यह है कि आत्मा में जो पर्याय होती है, वह संयोग है; तथा उसका जो व्यय होता है, वह वियोग है। अपने द्रव्य की पर्याय का संयोग त्रिकाली स्वभाव की अपेक्षा से कहा है। जो वर्तमानपर्याय उत्पन्न हुई, वह संयोग तथा उसका व्यय हुआ, वह वियोग – इसतरह उत्पाद – संयोग एवं व्यय – वियोग है। पंचास्तिकाय की १८वीं गाथा की टीका में भी यह संयोग-वियोग की बात कही है। जहाँ अपनी पर्याय के उत्पाद-व्यय को संयोग-वियोग कहा है; वहाँ परद्रव्य की तो बात ही क्या है, वह तो प्रत्यक्ष पर ही है। आत्मा में जो संयोगी पर्याय उत्पन्न हुई, आत्मा अभिन्नपने उसका कर्त्ता है; किन्तु उससमय संयोग में जो पुद्गलकर्म बँधा, उसका कर्त्ता आत्मा नहीं है।

जीव जितने प्रमाण में जैसे-जैसे मिथ्यात्व व राग-द्वेष के परिणाम करता है, उसी प्रमाण में तत्संबंधी जड़कर्मों का बन्ध होता है; परन्तु आत्मा उस कर्मबन्ध की क्रिया का कर्त्ता नहीं है। क्रिया व कर्त्ता का अभिन्नपना सदा ही प्रगट होने से प्रत्येक आत्मा की व परद्रव्य की पर्याय तत्-तत् समय में अपनी-अपनी योग्यता से उत्पन्न होती है, निमित्त से नहीं। जीव ने जो राग किया, वह कर्मबन्ध में निमित्त है; परन्तु निमित्त ने उस कर्मबन्ध की क्रिया को नहीं किया है।

आत्मद्रव्य नवीन कर्मबन्धन में निमित्त नहीं है। जिसे द्रव्यस्वभाव की दृष्टि हुई है, उसे नवीन कर्म नहीं बँधता; परन्तु जिसे द्रव्यदृष्टि का अभाव है तथा जो पुण्य-पाप के भावों का कर्त्ता होता है, उस अज्ञानी के राग-द्वेषादिभाव कर्मबन्धन में निमित्त होते हैं; परन्तु निमित्त से कर्मबन्धन की परिणति कभी नहीं होती।

कर्त्ता व क्रिया का अभिन्नपना सदा ही प्रगट होने से जीव व्याप्य-व्यापक-भाव से अपने विकारी परिणाम का कर्त्ता है। व्यापक अर्थात् कर्त्ता

(द्रव्य) तथा व्याप्य अर्थात् कर्म (विकारी पर्याय) अज्ञानी जीव व्याप्य-व्यापकभाव से विकारी पर्याय का कर्त्ता होता है तथा भाव्य-भावकभाव से विकारी पर्याय का अनुभव करता है। भाव्य अर्थात् भोगने योग्य भाव और भावक अर्थात् उस भाव को भोगनेवाला (भोक्ता) – यह अज्ञानी की बात है। इसीप्रकार यदि जीव विकारी भाव के समान व्याप्य-व्यापकभाव से पुद्गलकर्म को करे तो उसे दो क्रियाओं के कर्त्ता होने का प्रसंग आयेगा। आत्मा जैसा व्यापक होकर अपनी पर्याय का कर्त्ता है, वैसा ही व्यापक होकर कर्म की पर्याय का कार्य भी करे तो वह दो क्रियाओं का कर्त्ता हुआ – ऐसा कहा जायेगा; जबकि जीव दो क्रियाएं कभी भी नहीं कर सकता; अतः ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि उसकी यह मान्यता मिथ्या है।

जब जीव को दया का मन्दकषायरूप भाव होता है, तब उसी प्रमाण में उसे सातावेदनीय आदि कर्मबन्ध होता है। यदि तीव्र करुणा का भाव हो तो उस प्रमाण में सातावेदनीय आदि कर्मबन्ध होता है। जो दया का परिणाम हुआ, उसका कर्त्ता तो आत्मा है; परन्तु उसीसमय जो सातावेदनीयकर्म बँधा, उसका कर्त्ता आत्मा नहीं है। जितनी मात्रा में जीव विकार करता है, उतनी ही मात्रा में कर्मबन्ध होता है; तथापि कर्मबन्ध की पर्याय का कर्त्ता आत्मा नहीं है। जब कर्मबन्ध का कर्त्ता आत्मा नहीं है तो फिर शरीर-मन-वाणी, खान-पान, धन्धा, व्यापार आदि परद्रव्य की पर्यायों का कर्त्ता आत्मा कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। हाथ-पैर का हिलना, होंठ का हिलना, भाषा बोलने की क्रिया होना इत्यादि तो जड़ की क्रियाएं हैं, इनका कर्त्ता आत्मा कदापि नहीं है। आत्मा अपनी राग की क्रिया का कर्त्ता भी रहे तथा जड़ की क्रिया भी कर दे – ऐसा कभी नहीं हो सकता।

भाई! मुख्यरूप से निम्नांकित पाँच बातें समझने योग्य हैं :– उपादान, निमित्त, निश्चय, व्यवहार तथा क्रमबद्धपर्याय।

वर्तमान में इन पाँचों की चर्चा भी खूब चलती है। दिगम्बर सन्तों ने जगत के समक्ष सत्य जाहिर कर दिया है। वे यहाँ कहते हैं कि अज्ञानी जीव राग का कर्त्ता व हर्ष-शोक का भोक्ता है, परन्तु जड़कर्म का कर्त्ता-भोक्ता कदापि नहीं है। तत्त्वार्थसूत्र में 'विपाकोऽनुभवः' ऐसा जो कहा है, वह व्यवहारनय से निमित्त का कथन किया है। जो ऐसी कथनशैली के अभिप्राय को नहीं समझता और उस कथन को उसीरूप में यथार्थ मान लेता है, वैसा ही श्रद्धान कर लेता है; उसकी यह मान्यता मिथ्या है।

यदि कोई ऐसा माने कि जीव व्याप्य-व्यापकभाव से पुद्गलकर्म को करता है अथवा भाव्य-भावकभाव से पुद्गलकर्म को भोगता है, तो वह जीव अपनी व पर की – दोनों क्रियाओं को मिलाता है और ऐसा करने से दोनों क्रियाओं के अभिन्नपने का प्रसंग आने पर स्व-पर का विभाग ही अस्त हो जाता है। यदि आत्मा दो क्रियाओं का कर्त्ता बनता है तो अपनी पर्याय व पर की पर्याय की भिन्नता के अस्त होने का प्रसंग प्राप्त होता है, जबकि ऐसा बिल्कुल नहीं है; इसकारण ऐसी मान्यता मिथ्यादर्शन ही है।

अरे भाई! यह बात समझनी पड़ेगी। रोटी, दाल, भात, चटनी आदि खाने की इच्छा का कर्त्ता आत्मा है; परन्तु रोटी, दाल, भात आदि खाने की क्रिया का कर्त्ता आत्मा नहीं है। यह जड़ की क्रिया है, 'इसे मैंने किया' – ऐसा जो मानता है, वह द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि है।

प्रश्न :– यदि ऐसा है कि एक द्रव्य का कर्त्ता दूसरा द्रव्य नहीं है तो ज्ञानावरणी कर्म का उदय ज्ञान को रोकता है – ऐसा जो शास्त्रों में कथन आता है, उसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर :– ज्ञानावरणी कर्म जड़ पुद्गल की पर्याय है, वह ज्ञान की हीनदशा में निमित्त है; परन्तु ज्ञान की हीनदशा जड़कर्म के कारण नहीं हुई है। शास्त्रों में व्यवहारनय से निमित्त का कथन है और संसारी जीवों को भी चिरकाल से अपनी निमित्ताधीन दृष्टि होने से ऐसा अभ्यास है कि 'निमित्त से कार्य होता है', – इसकारण स्वतंत्रता की बात हृदय में बैठना कठिन पड़ती है, परन्तु भाई! शास्त्र में जिस अपेक्षा जो कथन हो, उसे यथार्थ समझना चाहिए। ज्ञान की हीनाधिक अवस्था अपनी पर्याय की योग्यता से होती है; उसमें ज्ञानावरणी कर्म का कोई कर्त्तव्य नहीं है, वह तो मात्र निमित्तरूप से उपस्थित होता है। इसीप्रकार वीर्यान्तराय कर्म का उदय है, इसलिए आत्मा में शक्ति की हीनदशा हुई है – ऐसा भी नहीं है। वीर्यान्तराय कर्म का उदय उसमें कुछ नहीं करता।

यह बात अबतक सुनने नहीं मिली, इसलिए अटपटी-सी, नयी-सी लगती है; परन्तु भाई! यह तो भगवान की दिव्यध्वनि से प्रगट हुई सत्य बात है। कर्म का उदय जड़ की पर्याय है, वह आत्मा की अवस्था को हीन कैसे कर सकता है? जीव की पर्याय कर्म का स्पर्श ही नहीं करती और कर्म भी जीव की पर्याय को स्पर्श नहीं करता – ऐसी वस्तुस्थिति है।

ज्ञानी को जो विकल्प होता है, वह उसका जाननेवाला है। ज्ञानी जानने की क्रिया भी करे और राग की क्रिया भी करे – ऐसा नहीं होता।

इसीतरह अज्ञानी राग की क्रिया करे व पर की क्रिया करे – ऐसा भी नहीं होता । यद्यपि यह बहुत गम्भीर व सूक्ष्म बात है; तथापि सुखी होना हो तो समझना ही पड़ेगा । जो इसे नहीं समझता, उसकी तो मूल में ही भूल है । प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय उसकी स्वयं की योग्यता से ही होती है, पर से नहीं । कहा भी है – **'योग्यता हि शरणम्'** अर्थात् कार्य होने में तत्समय की योग्यता ही शरण है । फिर भी यदि कोई ऐसा माने कि 'कार्य पर के कारण होता है' तो स्व-पर की क्रिया को अभिन्न माननेवाले उस जीव के मत में स्व-पर का विभाग नष्ट हो जाता है – उसकी मान्यता में स्व-पर का एकपना हो जाता है । द्रव्य अपनी पर्याय को करे तथा पर की पर्याय को भी करे – ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है, सर्वज्ञ के मत के बाहर है । किसी को ऐसा लगता होगा कि हम तो सब जगह एकान्त की ही बात करते हैं, परन्तु भाई ! यह सम्यक् एकान्त है । जीव अपनी पर्याय का कर्त्ता है तथा पर की पर्याय का कर्त्ता नहीं है – इसप्रकार जब सम्यक् एकान्त होता है, तभी निमित्त का भी यथार्थ ज्ञान होता है, उसे ही सच्चा अनेकान्त कहते हैं । निमित्त है, किन्तु निमित्त से कार्य नहीं होता ।

गोम्मटसार में आता है कि ज्ञानावरणी कर्म से ज्ञान रुकता है, वीर्यान्तराय कर्म के उदय से वीर्य रुकता है, दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से मिथ्यात्व होता है; चारित्रमोहनीय कर्म से राग-द्वेष होते हैं, आयु कर्म के उदय से निश्चित समय तक देह में रुकना पड़ता है आदि; परन्तु हे भाई ! उपरोक्त ये सब तो व्यवहारनय के कथन है । आत्मा अपनी योग्यता से विकाररूप परिणमन करता है । आत्मा पर के कारण रागादि पर्यायरूप होता हो – ऐसा नहीं है ।

प्रश्न :– जब साता के उदय से लक्ष्मी मिलती है, तो निमित्त से कार्य हुआ या नहीं ?

उत्तर :– भाई ! वह तो निमित्त का कथन है । पैसा तो पैसे के कारण है, उसमें सातावेदनीय कर्म निमित्त भले हो । लक्ष्मी आवे, शरीर निरोग रहे, इत्यादि पर्यायों का कार्य अपने-अपने से होता है, निमित्त से नहीं ।

प्रश्न :– कहावत है कि **'कर्म राजा कर्म रंक; कर्म वाल्यो आडो अंक'**[1] – इसका क्या अर्थ है ?

प्रश्न :– अरे भाई ! ये सब निमित्त की मुख्यता के कथन हैं । राजा या रंक की पर्याय स्वयं से होती है; कर्म से नहीं । देखो ! रामचन्द्रजी

[1] **हिन्दी अर्थ :–** जगत में जीव कर्म से राजा होता है, कर्म से रंक होता है एवं जितने भी अनुकूल-प्रतिकूल संयोग होते हैं, वे भी कर्म से ही होते हैं ।

वनवास गये; वहाँ सीताजी का अपहरण हो गया। रामचन्द्रजी सीताजी को ढूंढने निकले। वहाँ वन में पत्थर और पहाड़ से भी पूछते हैं कि हे पर्वतमाला ! क्या तुमने सीताजी को कहीं जाते या किसी के द्वारा ले जाते देखा है – ऐसा विकल्प रामचन्द्रजी की अपनी पर्याय का दोष है; कर्म के कारण नहीं। तथा पश्चात् विकल्प टूट गया तो भी वह कर्म के अभाव से नहीं, किन्तु स्वयं के निर्विकल्पस्वरूप में स्थिर होने से विकल्प टूटा है।

जब रावण सीताजी का अपहरण करके विमान में ले जा रहा था, तब रास्ते में सीताजी ने अपने पैर का जेवर, बिछूड़ी, हार आदि फेंक दिये थें, सीताजी को ढूंढते समय रास्ते में हार के मिल जाने पर, जब लक्ष्मण को दिखाकर पूछा गया कि क्या यह हार सीताजी का है ? तो लक्ष्मण ने कहा कि मैं नित्य सीता माता के चरणस्पर्श करता था; अतः मैंने नीची नजर से पग में पहनी बिछूड़ी ही देखी थी, ऊँची नजर करके मैंने सीताजी को कभी देखा ही नहीं, अतः हार आदि नहीं पहचान सकता। अहो, देखो ! लक्ष्मण की सज्जनता व नैतिकता ! वे तीन खण्ड के अधिपति वासुदेव थे, सज्जनता व नैतिकता की मूर्ति थे। रामचन्द्रजी बलभद्र थे; 'लक्ष्मणजी जंगल में रामचन्द्रजी की अनेक प्रकार से सेवा करते थे' – यह कहना तो व्यवहार का कथन है। सेवा का विकल्प आया, इसलिये बाहर में सेवारूप क्रिया हुई – ऐसा नहीं है; क्योंकि सेवा का विकल्प आत्मा की रागरूप क्रिया है तथा बाह्य सेवारूप क्रिया जड़ की क्रिया है, और 'एक द्रव्य अपनी व दूसरे द्रव्य की दो क्रियाएँ कभी कर ही नहीं सकता' – यह नियम है।

कोई ऐसा माने कि आत्मा अपनी व पर की दो क्रियाएँ करता है, तो वह द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि है, सर्वज्ञ के मत से बाहर है। कर्म ने ज्ञान रोक दिया तथा कर्म का कर्त्ता व भोक्ता आत्मा है – ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य के शब्दों में तो वह 'जिणावमदम्' अर्थात् जिनेन्द्र की आज्ञा से बाहर है।

यहाँ तो आत्मा की बात की है। पञ्चास्तिकायसंग्रह में भी कहा है कि एक रजकण अपनी क्रिया करे तथा दूसरे रजकण की क्रिया भी करे – ऐसा त्रिकाल में नहीं हो सकता यह तो मूल सिद्धान्त है, छहों द्रव्यों में लागू पड़ता है। एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य की पर्याय को नहीं करती – यह सिद्धान्त छहों द्रव्यों की प्रत्येक पर्याय में लागू पड़ता है।

'जीव पर की दया का भाव करता है तथा पर की दया पाल भी सकता है – ऐसा माननेवाला जीव जिनमत के बाहर है' – यह बात जो

नहीं समझता, वह इसका विरोध करता है। पर की दया का जो शुभराग है, वह हिंसा है। अरे ! जिस भाव से तीर्थंकरनामक कर्म बँधता है वह भाव भी हिंसा है, अपराध है; क्योंकि बन्धन अपराध से होता है, निरपराध से बन्धन नहीं होता। जिस भाव से बन्धन हो, वह भाव अपराध है। यहाँ तो विशेषरूप से यह कहा है कि 'मैं पर की दया पाल सकता हूँ' – यह मान्यता ही मिथ्यादर्शन है, महा-अपराध है।

जिस सोलहकारणभावना से तीर्थंकरप्रकृति नामकर्म बँधता है – वह सोलह प्रकार का भाव राग है, अपराध है, गुनाह है। अज्ञानी को तो तीर्थंकरप्रकृति के बन्ध का कारणभूत राग होता ही नहीं है। हाँ, ज्ञानी को वैसा राग हो सकता है; किन्तु वह ज्ञानी उसका ज्ञाता रहता है। जिसका स्वभाव की ओर झुकाव हुआ है, उस ज्ञानी के अल्पराग शेष है, इसकारण उस जाति का विकल्प आने पर तीर्थंकरप्रकृति बँध जाती है; परन्तु वह उस विकल्प को तोड़कर अल्पकाल में ही मोक्ष जाता है। वहाँ भी तीर्थंकर-प्रकृति अथवा उसके राग के कारण मोक्ष होता हो – ऐसी बात नहीं है।

भगवान सर्वज्ञदेव एवं आचार्य कहते हैं कि भाई ! हमारी श्रद्धा व तेरी (अज्ञानी की) श्रद्धा में बहुत फेर है, फर्क है अर्थात् यदि कोई ऐसा माने कि जीव अपने राग की क्रिया भी करता है तथा पर की क्रिया भी करता है तो ऐसा माननेवाला सर्वज्ञ की आज्ञा से बाहर है। उसे जैनमत की श्रद्धा नहीं है। 'मैं पर की दया पाल सकता हूँ, जीवित रख सकता हूँ, अथवा उपदेश देकर ज्ञान दे सकता हूँ' – ऐसा माननेवाला जिन-आज्ञा से बाहर है।

बन्ध अधिकार में तो यहाँ तक कहा है कि 'मैं दूसरों को मोक्ष में पहुँचा सकता हूँ' – ऐसा जो तू मानता है तो क्या उसकी वीतराग परिणति बिना तू उसे मोक्ष पहुँचा देगा ? और यदि उसे वीतराग परिणति प्राप्त हो तथा उसका मोक्ष हो तो क्या तूने उसकी वीतराग परिणति की है ? नहीं भाई ! ऐसा नहीं है। 'मैं दूसरे को बन्ध या मोक्ष करा सकता हूँ' – ऐसा मानना मिथ्यादृष्टि का लक्षण है।

कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि यदि उपदेश से दूसरों को ज्ञान नहीं दे सकते तो उपदेश देकर दूसरों को क्यों समझाते हो ? उनसे कहते हैं कि अरे प्रभु ! सुनो तो सही, जरा धैर्य से व शान्ति से सुनो ! वाणी के काल में वाणी निकलती है तथा उपदेश के विकल्प के काल में विकल्प होता है। यद्यपि दोनों का समकाल है, तथापि दोनों स्वतन्त्र हैं – एक-दूसरे के

आधीन नहीं हैं। तथा आत्मा तो सबका ज्ञायक जानने-देखने वाला ज्ञाता-दृष्टा है। आत्मा उपदेश की वाणी का कर्त्ता नहीं है तथा वाणी ज्ञान की पर्याय का कर्त्ता नहीं है। भाषा की पर्याय तो पर की (जड़ की) है; आत्मा उसको कैसे करे ? और वह आत्मा का ज्ञान कैसे करे ? द्रव्य अपना कार्य करता है तथा पर का भी कार्य करता है — ऐसा जो मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है, जिन-आज्ञा से बाहर है।

प्रवचनसार के अन्तिम २२वें श्लोक में ऐसा कहा है कि — "इसप्रकार (इस परमागम में) अमन्दरूप से (जोर से, तेज स्वर में) जो थोड़ा बहुत तत्त्व कहा गया है, वह सब चैतन्य में वास्तव में अग्नि में होमी गई वस्तु के समान (स्वाहा) हो गया है।" अर्थात् आत्मा के स्वरूपवर्णन में वाणी की सामर्थ्य कुछ भी नहीं है।

भाई ! समझनेवाला अपने कारण से समझता है; वाणी तो उसमें निमित्तमात्र है। वाणी के कारण ज्ञान नहीं होता। लोगों को अटपटा लगता है, परन्तु क्या करें ? वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। द्रव्य अपनी पर्याय को करे तथा अन्य द्रव्य की पर्याय को भी करे — ऐसा वस्तु का स्वरूप ही नहीं है।

कोई श्रावक हो या साधु हो, परन्तु यदि वह ऐसा माने कि 'मैं दया का भाव भी करता हूँ तथा परजीवों की दया भी पालता हूँ' तो वह दो द्रव्यों की क्रिया का कर्त्ता हुआ, इसीकारण वह मिथ्यादृष्टि है। **'जियो और जीने दो'** — यह वीतराग की वाणी नहीं है। (यह तो किसी अज्ञानी अँग्रेज के कथन 'Live and let live' का रूपान्तर है।) भगवान तो कहते हैं कि तेरे दया के भाव से दूसरा जीव जीवित रहता है, सुखी-दुःखी होता है — ऐसा तीनकाल में भी सम्भव नहीं है। सब जीव अपनी आयु की स्थिति से जीवित रहते हैं, तू उन्हें जीवित नहीं रखता। बन्ध अधिकार में आता है कि 'मैं पर को मारूँ या जीवित रखूँ — ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है, जिन-आज्ञा से बाहर है।' जीव पर की हिंसा कर ही नहीं सकता। मारने व बचाने का भाव आता है, जीव उस भाव का कर्त्ता भी है, परन्तु पर के साथ उस जीव का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के ४४वें छन्द में कहा है कि राग का भाव हिंसा है; शुभराग का भाव भी आत्मा की हिंसा करनेवाला है; पंचमहाव्रत के परिणाम का राग धर्मी जीवों को आता है, परन्तु वह आस्रव है, हिंसा है। तत्त्वार्थसूत्र में भी शुभराग को आस्रव कहा है।

इसप्रकार रागादि परिणमन ही हिंसा है, पर की दया या हिंसा तो आत्मा कर ही नहीं सकता।

गाथा ८५ के भावार्थ पर प्रवचन

"दो द्रव्यों की क्रिया भिन्न ही है। जड़ की क्रिया को चेतन नहीं करता और चेतन की क्रिया को जड़ नहीं करता। जो पुरुष एक द्रव्य को दो क्रियाएं करता हुआ मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि दो द्रव्यों की क्रियाओं को एक द्रव्य करता है – ऐसा मानना जिनेन्द्र भगवान का मत नहीं है।"

जगत में जीव अनन्त हैं और पुद्गल अनन्तानन्त हैं। इनमें प्रत्येक पदार्थ की परिणति की क्रिया प्रत्येक समय भिन्न-भिन्न है। किसी द्रव्य की क्रिया कोई दूसरा करे – ऐसा त्रिकाल में सम्भव नहीं है। दूसरे का जीवन परद्रव्य की क्रिया है, वह अपनी आयु की स्थिति से जीवित रहता है और आयु के क्षय से मरता है; इसलिए दूसरा जीव दूसरे जीव को जिलाता है अथवा दूसरे जीव की दया पालता है – ऐसा बिल्कुल नहीं है। इसीप्रकार आत्मा सत्य या झूठ भाषा नहीं बोल सकता।

आत्मा अपनी पर्याय को करता है, परन्तु पर की पर्याय को नहीं कर सकता। आत्मा भाषा को जानता है परन्तु भाषा का कर्त्ता नहीं है। भाषा में स्व-पर को कहने की तथा आत्मा में स्व-पर को जानने की स्वयं की ताकत है। भाषा में स्व-पर का कथन करने की शक्ति स्वतः स्वयं से है, आत्मा के कारण नहीं है। अरे भाई! यह उपदेश सुनते समय वचन की क्रिया भिन्न है तथा ज्ञान की क्रिया भिन्न है।

बोधपाहुड़ की ६१वीं गाथा में आता है कि "शब्दों के विकार से उत्पन्न, अक्षररूप परिणमित भाषासूत्रों में जिनदेव ने कहा, वह सुनने में अक्षररूप आया; तथा जिसप्रकार जिनदेव ने कहा, उसीतरह परम्परा से भद्रबाहु नामक पाँचवें श्रुतकेवली ने जाना........।"

अरे भाई! भाषा की पर्याय को भगवान भी नहीं कर सकते। जो दिव्यध्वनि खिरती है, वह तो शब्दों का परिणमन है। वह दिव्यध्वनि अपनी स्वयं की योग्यता से अपने स्वकाल में खिरती है, केवली के कारण दिव्यध्वनि नहीं खिरती अर्थात् दिव्यध्वनि के कर्त्ता भगवान नहीं हैं, क्योंकि दो द्रव्यों की क्रिया भिन्न-भिन्न हैं। तथा ज्ञान की क्रिया यानि आत्मा की परिणति भिन्न है, अतः ज्ञान की परिणति से शब्द के विकाररूप भाषा की परिणति हुई – यह बात भी त्रिकाल में सम्भव ही नहीं है। क्या आत्मा

भाषा बोल सकता है ? नहीं बोल सकता । श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कहा है कि भाषा शब्द के विकार से बनी है, हमसे नहीं बनी, केवली भगवान तथा वीतरागी सन्तों से भी नहीं बनी । भाषा को निमित्त की अपेक्षा नहीं है । अहो ! आचार्य कहते हैं कि 'यह शास्त्र मैंने बनाया है' – ऐसा कहकर मोह में मत नाचो; तथा इनसे (शब्दों से) ज्ञान होता है, ऐसा सोचकर भी मोह में मत नाचो । (प्रवचनसार, कलश २१)

यह तो अबाधित सिद्धान्त है कि 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्यों की क्रिया नहीं कर सकता,' अन्यथा सब मिलकर एक हो जायेंगे, जो कि सर्वज्ञ की आज्ञा के बाहर है । बहुक्रियावादी तो मिथ्यादृष्टि हैं ।

यहाँ कहते हैं कि जिसतरह जड़ की क्रिया को चेतन नहीं करता, उसीतरह जड़कर्म का उदय अपनी पर्याय को करे तथा जीव के राग परिणाम को भी करे – ऐसा नहीं बनता । अरे ! दो तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं, उनकी पर्यायें भी भिन्न-भिन्न हैं । प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रिया करने में समर्थ है तथा पर का कार्य करने में सर्वथा पंगु है ।

समयसार में अजीव अधिकार के ४४वें कलश में कहा है कि अनादिकालीन इस महा अविवेक के नाटक में पुद्गल ही नाचता है अन्य कोई नहीं और यह जीव रागादि पुद्गलविकारों से विलक्षण शुद्ध चैतन्यधातुमय मूर्ति है । अहाहा........! भगवान आत्मा चैतन्यसूर्य ज्ञायकस्वभाव के नूर का पूर है । वह भाषा को कैसे करे ? शरीर को वह कैसे चलावे ? भाई ! पूजा करते समय जो 'स्वाहा-स्वाहा' इत्यादि बोलते हैं, वह आत्मा की क्रिया नहीं है । हाथ ऊँचा-नीचा होता है – वह आत्मा का कार्य नहीं है ।

प्रत्येक तत्त्व भिन्न-भिन्न है, वेदान्त की तरह सब एक नहीं हैं । प्रवचनसार की १७२वीं गाथा में अलिंगग्रहण के १५वें बोल में कहा है कि "लिंग के द्वारा अर्थात् अमेहनाकार के द्वारा जिसका ग्रहण नहीं है अर्थात् लोक में व्यापकत्व नहीं है, वो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार आत्मा पाखण्डियों के प्रसिद्ध साधनरूप आकारवाला, लोकव्याप्तिवाला नहीं है – ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है ।"

सब मिलकर एक आत्मा है – ऐसा अज्ञानी पाखण्डियों का प्रसिद्ध मत है । जो कोई कहे कि निश्चय की बात तो वेदान्तियों की बात जैसी लगती है, उनका यहाँ निषेध करते हैं । आत्मा सर्वव्यापक है – ऐसा माननेवाले वेदान्तियों की बात यथार्थ नहीं है । सब आत्माएँ जाति की अपेक्षा से समान हैं, किन्तु सभी मिलकर एक आत्मा नहीं हैं ।

यहाँ कहते हैं कि चेतन जड़ की क्रिया का कर्त्ता नहीं है तथा चेतन की राग-द्वेषमयी क्रिया या ज्ञानक्रिया का कर्त्ता कर्म का उदय नहीं है। जो व्यक्ति एक द्रव्य को दो क्रियाओं का कर्त्ता मानता है, वह जैन नहीं है, मिथ्यादृष्टि है। अरिहन्त भगवान ने घातियाकर्मों का नाश किया तथा ज्ञानावरणी कर्म ज्ञान का घात करता है – इत्यादि कथन निमित्त की अपेक्षा से हैं, व्यवहारनय के हैं। वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है। क्या परद्रव्य ज्ञान के घातरूप क्रिया कर सकता है? नहीं कर सकता; इसीतरह आत्मा भी कर्मों को नाश करने की क्रिया नहीं कर सकता।

प्रवचनसार की १६वीं गाथा की टीका में घातियाकर्मों के दो प्रकार कहे हैं :– (१) द्रव्यघाति तथा (२) भावघाति। अपनी पर्याय भावघाति है तथा निमित्त द्रव्यघाति है। जब भावघातिकर्म अपनी पर्याय का घात करता है, तब बाह्य में द्रव्यघातिकर्म का बन्धन होता है। जड़कर्म की अवस्था आत्मा नहीं करता। जब केवलज्ञान होता है, उससे जीव घाति कर्मों का नाश करता है – यह बात यथार्थ नहीं है। जीव केवलज्ञान की क्रिया करता है – यह तो सत्य है, किन्तु साथ में घातिकर्मों के नाश की क्रिया भी करने लगे तो जीव दो क्रियाओं का कर्त्ता ठहरेगा; किन्तु ऐसा होता नहीं है, वस्तु के स्वरूप में ही ऐसा सम्भव नहीं है। भाई! बात बहुत सूक्ष्म व गम्भीर है, किन्तु ध्यान से समझने की कोशिश करे और समझ में न आये – ऐसी कठिन भी नहीं है, समझ में आसानी से आ सकती है।

बापू! 'मैं क्या कर सकता हूँ और क्या नहीं कर सकता' – इसकी भी जिसे खबर नहीं हो, उसे आत्मा का अनुभव कैसे होगा? यहाँ तो अत्यन्त स्पष्ट कहते हैं कि जो दो भिन्न द्रव्यों की क्रिया का कर्त्ता एक द्रव्य को माने, वह भगवान जिनेन्द्रदेव के मत के बाहर है, उसे सम्यग्दर्शन न है और न हो सकता है। जो दुकान की पैड़ी पर बैठकर मन में ऐसा अभिमान करता है कि 'मैंने व्यापार-धन्धे का राग भी किया और दुकान के व्यापार की बाह्यप्रवृत्ति भी की', वह मिथ्यादृष्टि है।

धर्मसभा में गौतमगणधर पधारे, उनके कारण भगवान महावीर की दिव्यध्वनि खिरी – ऐसा नहीं है। यदि ऐसा मानोगे तो गौतमगणधर को इन्द्र ने पहले से ही उपस्थित क्यों नहीं किया? उसका उत्तर है कि काललब्धि बिना इन्द्र गौतम को लाने में असमर्थ था। स्वामी कार्तिकेय-अनुप्रेक्षा बाइस सौ वर्ष पुराना ग्रन्थ है, समयसार से भी प्राचीन है। उसमें

कहा है कि "छहों द्रव्य, जो संख्या अपेक्षा अनन्त हैं, उन सबकी – प्रत्येक द्रव्य की समय-समय की जो पर्याय जिस क्षण होनी हो, उसी-उसी क्षण में होती है, वही उसकी काललब्धि है।

प्रवचनसार के ज्ञेय अधिकार की १०२वीं गाथा में प्रत्येक द्रव्य की समय-समय होनेवाली पर्याय के जन्मक्षण की बात कही गई है। जिस समय जो पर्याय होनी हो, वही होती है; वही उसका जन्मक्षण है। यही समयसार की ९९वीं गाथा में सिद्ध किया है कि प्रत्येक पर्याय अपने स्व-अवसर में होती है, आगे-पीछे नहीं। मोती के हार का दृष्टान्त देकर वहाँ समझाया है कि जहाँ-जहाँ जो-जो मोती हैं, वहाँ-वहाँ वे अपने-अपने स्थान पर हैं, आगे-पीछे नहीं। उसीप्रकार आत्मा में व जड़ में क्रमशः जो-जो पर्यायें जिस-जिस समय होनी हों, वही-वही उस-उस समय होती हैं। जैसे माला में मोती आगे-पीछे नहीं हो सकते, उसीतरह द्रव्य की प्रत्येक पर्याय आगे-पीछे नहीं होती – ऐसा वस्तुस्वरूप है।

योग से आत्मप्रदेशों के कम्पन की क्रिया भी होती है तथा कर्मों का प्रकृति व प्रदेश बन्ध भी होता है – इसप्रकार दो क्रियाएं एक द्रव्य करे – ऐसा नहीं बनता। योगों से प्रकृति-प्रदेश बन्ध होता है तथा कषाय से स्थिति-अनुभाग बन्ध होता है – ये सब निमित्त की अपेक्षा किये गये कथन हैं। जो कर्म का संक्रमण होता है, वह उसकी अपनी योग्यता से होता है, आत्मा से नहीं होता। जब केवलज्ञान होता है, तब जो घातिकर्मों की कर्मरूप अवस्था बदलकर अकर्मरूप होती है, वह कर्मों के कारण ही होती है, उसका कर्त्ता आत्मा नहीं है, अर्थात् आत्मा घातिकर्मों को अकर्मरूप नहीं करता।

अज्ञानीजन ऐसा मानते हैं कि इससे वह हुआ, उससे यह हुआ अर्थात् एकद्रव्य को दूसरे का कर्त्ता मानकर वस्तुव्यवस्था में गड़बड़ी उत्पन्न करते हैं; परन्तु भाई! वह यथार्थ मार्ग नहीं है। सन्तों ने तो स्वतन्त्रता का ढिंढोरा पीटा है। अहा! केवलज्ञान की पर्याय जो अमुक काल में स्वयं स्वतः उत्पन्न होनेवाली थी, वह उसी काल में स्वयं से उत्पन्न हुई है। मोक्षमार्ग के कारण भी मोक्ष की पर्याय प्रगट नहीं हुई है। मोक्षमार्ग की पर्याय के व्यय होने का क्रम था, तथा उसीसमय मोक्ष पर्याय के प्रगट होने का क्रम था, तब ही मोक्ष पर्याय स्वतंत्रपने प्रगट हुई है।

शास्त्र में ऐसा आता है कि पूर्व की पर्याय उत्तर पर्याय का उपादान है – इसका क्या अर्थ है? पूर्वपर्याय का व्यय होकर वर्तमानपर्याय प्रगट हुई है, वह स्वतंत्ररूप से हुई है। जैनतत्त्वमीमांसा में पण्डित फूलचन्दजी ने इस विषय का बहुत सुन्दर स्पष्टीकरण किया है। पूर्वपर्याय का व्यय होकर

उत्तरपर्याय प्रगट होती है, वहाँ उत्तरपर्याय कार्य है व पूर्वपर्याय उसका कारण है – यह व्यवहार का कथन है। वैसे तो जिस द्रव्य की जो पर्याय जिससमय होनी हो, वह अपने षट्कारकों के परिणमन से होती है। वह पर्याय न द्रव्य-गुण से हुई, न परनिमित्त से हुई और न पूर्वपर्याय के कारण से हुई। जैनधर्म ऐसी स्वतंत्रता का ही मार्ग है।

प्रश्न :– जिससमय जो पर्याय होनी हो, उससमय वही होती है – ऐसा निर्णय किसको होता है ?

उत्तर :– जो अपने ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख होता है, उसे ऐसा यथार्थ निर्णय होता है। यहाँ फिर प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि जब जैसा भगवान ने देखा है; तदनुसार ही भव का अभाव होगा, तो हम उसमें क्या कर सकते हैं ? उनसे कहते हैं कि भाई ! जैसा भगवान ने देखा, वैसा ही होगा – ऐसा निर्णय किसने किया ? जो केवलज्ञान की एक समय की पर्याय की सत्ता को अपने ज्ञान में स्वीकार करता है, उसे स्व-सन्मुखता होती है तथा उसके अधिक भव नहीं होते। भगवान ने भी उसके भविष्य में अधिक भव देखे ही नहीं हैं। 'केवलज्ञानी ने देखे हैं, उसी प्रमाण होंगे' – यह बात तो बाद में करना, पहले यह तो बता कि तुझे जगत में केवलज्ञान की सत्ता स्वीकार है ? अरे प्रभु ! जबतक केवलज्ञान की सत्ता को स्व-सन्मुख होकर स्वीकार नहीं किया, तबतक 'केवली ने जैसा देखा, तत्प्रमाण भव होंगे' – यह बात ही उत्पन्न नहीं होती। भगवान तीन लोक तीन काल को जानते हैं – यह तो निमित्त की अपेक्षा से व्यवहार का कथन है। वास्तव में तो वे अपनी पर्याय को जानते हैं, जिसमें तीन लोक व तीन काल जाने जाते हैं, प्रतिबिम्बित होते हैं।

अहो ! जिस एकसमय की पर्याय में तीन लोक तीन काल प्रतिभासित होते हैं, जिसमें अनन्त केवली ज्ञात होते हैं, उस पर्याय की क्या, कितनी और कैसी सामर्थ्य होगी ? ऐसे अनन्त-अनन्त सामर्थ्ययुक्त केवलज्ञान को जिसने स्वीकार किया, वह पर्याय अल्पज्ञ है तथा जो सर्वज्ञ हैं, वे 'परद्रव्य' हैं। वास्तव में केवलज्ञान की स्वीकृति अल्पज्ञ पर्याय या परद्रव्य-स्वरूप सर्वज्ञ पर्याय के सन्मुख देखने से नहीं होती। अतः उसकी सत्ता की स्वीकृति के लिए शुद्ध चैतन्यस्वभावमय निजज्ञायकस्वभाव के सन्मुख होकर उसकी प्रतीति होना चाहिए, तब ही उसकी (केवलज्ञान की) यथार्थ स्वीकृति होती है तथा यही अनन्त पुरुषार्थ है। अहाहा ! केवलज्ञान की पर्याय जिसके ज्ञान में बैठ जाती है, उसकी दृष्टि स्वभावसन्मुख होती है।

प्रवचनसार की ८०वीं गाथा में कहा है कि जो अरिहन्त को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानते हैं, उनका आत्मसन्मुख लक्ष्य होने से मोह नष्ट होता है।

अहाहा...! जिस पर्याय में त्रिकालवर्ती अनन्त सिद्ध व केवली प्रत्यक्ष ज्ञात होते हों, उस केवलज्ञान पर्याय की परम अद्‌भुत ताकत है। उसको स्वीकार करते ही दृष्टि स्वद्रव्य पर जाती है, इसी में स्वभावसन्मुखता का अनन्त पुरुषार्थ भी आ जाता है और एक साथ पाँचों समवाय – स्वभाव, नियति, काल, पुरुषार्थ व निमित्त आ जाते हैं। कार्य की सिद्धि में ये पाँचों समवाय होते ही हैं।

गजकुमार भगवान के पास वाणी सुनने के लिए गए। हाथी के तलवे सदृश उनका कोमल शरीर था। भगवान की वाणी सुनकर बोले 'प्रभु ! मैं दीक्षा लेना चाहता हूँ।' और दीक्षा धारण करके द्वारिका नगरी के श्मशान में ध्यान करने लगे। वहाँ गृहस्थावस्था में जिस कन्या के साथ उनका विवाह हुआ था, उसके पिता ने आकर उन पर उपसर्ग किया। उनके मस्तक पर मिट्टी की सिगड़ी बनाई तथा उसमें धधकते अंगारे भर दिए। तब मुनिराज निजस्वरूप के ध्यान में इतने लीन हो गये कि उपसर्गजयी होकर केवलज्ञान प्राप्तकर मोक्ष पधार गये। देखो, पुरुषार्थ की गति ! भगवान की वाणी में पुरुषार्थ की बात आयी है; अतः जो पुरुषार्थहीनता की बात करे, वह भगवान का सच्चा भक्त नहीं है, उसने भगवान के द्वारा बताये गये पुरुषार्थ के मार्ग को समझा ही नहीं है। यहाँ कहते हैं कि एक द्रव्य दो द्रव्यों की क्रिया को करे – ऐसा भगवान का मार्ग ही नहीं है। परद्रव्य के कर्तृत्व की बात सर्वज्ञ की आज्ञा से बाहर है।

एक परमाणु दूसरे परमाणु का कार्य नहीं करता, क्योंकि दो द्रव्यों के मध्य अत्यन्ताभाव है। एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता। शास्त्र में आता है कि चार गुण स्निग्धवाला परमाणु छह गुण स्निग्धवाले परमाणुओं के साथ मिले तो वे बदलकर छह गुण स्निग्धरूप हो जाते हैं, परन्तु यह तो निमित्त का कथन है। चार गुण स्निग्धवाले छह गुण स्निग्धरूप जो परिणमते हैं, वे स्वयं परिणमते हैं। स्वतंत्रपने परमाणु जो सूक्ष्म परिणमा है, वह जब स्थूल स्कन्ध में मिलता है, तब स्थूल होता है। वह स्वयं के कारण स्थूल होता है, संयोग के कारण स्थूल नहीं होता। अहाहा ! दो द्रव्यों की क्रिया एक द्रव्य करता है – ऐसा मानना जैनमत के बाहर की बात है। जिनमत के अनुसार एकद्रव्य दूसरे द्रव्य की क्रिया नहीं करता।

इसप्रकार ८५वीं गाथा पूर्ण हुई।

कुतो द्विक्रियानुभावी मिथ्यादृष्टिरिति चेत्—

जम्हा दु अत्तभावं पोग्गलभावं च दो वि कुव्वंति ।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो हुंति ॥८६॥

यस्मात्त्वात्मभावं पुद्गलभावं च द्वावपि कुर्वंति ।
तेन तु मिथ्यादृष्टयो द्विक्रियावादिनो भवंति ॥८६॥

यतः किलात्मपरिणामं पुद्गलपरिणामं च कुर्वंतमात्मानं मन्यन्ते द्विक्रियावादिनस्ततस्ते मिथ्यादृष्टय एवेति सिद्धांतः । मा चैकद्रव्येण द्रव्यद्वयपरिणामः क्रियमाणः प्रतिभातु । यथा किल कुलालः कलशसंभवानुकूलमात्मव्यापारपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तमात्मनोऽव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति, न पुनः कलशकरण-

---

अब पुनः प्रश्न करता है कि दो क्रियाओं का अनुभव करनेवाला मिथ्यादृष्टि कैसे है ? उसका समाधान करते हैं :—

जीवभाव पुद्गलभाव – दोनों भाव को आत्मा करे ।
इससे ही मिथ्यादृष्टी – ऐसे द्विक्रियावादी हुए ॥८६॥

गाथार्थ :– [यस्मात्] क्योंकि [आत्मभावं] आत्मा के भाव को [च] और [पुद्गलभाव] पुद्गल के भाव को – [द्वौ अपि] दोनों को [कुर्वंति] आत्मा करता है – ऐसा वे मानते हैं; [तेन तु] इसलिये [द्विक्रियावादिनः] एक द्रव्य के द्वारा दो क्रियाओं का होना माननेवाले [मिथ्यादृष्टयः] मिथ्यादृष्टि [भवंति] हैं ।

टीका :– निश्चय से द्विक्रियावादी यह मानते हैं कि आत्मा के परिणाम को और पुद्गल के परिणाम को स्वयं आत्मा करता है, इसलिए वे मिथ्यादृष्टि ही हैं – ऐसा सिद्धान्त है । एक द्रव्य के द्वारा दो द्रव्यों के परिणाम किये गये प्रतिभासित न हों । जैसे कुम्हार घड़े की उत्पत्ति में अनुकूल अपने (इच्छारूप और हस्तादि की क्रियारूप) व्यापारपरिणाम को, जो कि अपने से अभिन्न है और अपने से अभिन्न परिणतिमात्र क्रिया से किया जाता है, उसे करता हुआ प्रतिभासित होता है; परन्तु घड़ा बनाने के अहंकार से भरा हुआ होने पर भी (वह कुम्हार) अपने व्यापार

हंकारनिर्भरोपि स्वव्यापारानुरूपं मृत्तिकायाः कलशपरिणामं मृत्तिकायाः अव्यतिरिक्तं मृत्तिकायाः अव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति; तथात्मापि पुद्गलकर्मपरिणामानुकूलमज्ञानादात्मपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तमात्मनोऽव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभातु, मा पुनः पुद्गलपरिणामकरणाहंकारनिर्भरोऽपि स्वपरिणामानुरूपं पुद्गलस्य परिणामं पुद्गलादव्यतिरिक्तं पुद्गलादव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभातु ।

के अनुरूप मिट्टी के घट परिणाम को, जो कि मिट्टी से अभिन्न है और मिट्टी से अभिन्न परिणतिमात्र क्रिया से किया जाता है, उसे करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता; इसीप्रकार आत्मा भी अज्ञान के कारण पुद्गलकर्मरूप परिणाम के अनुकूल अपने परिणाम को जो कि, अपने से अभिन्न है और अपने से अभिन्न परिणतिमात्र क्रिया से किया जाता है, उसे करता हुआ प्रतिभासित हो; परन्तु पुद्गल के परिणाम को करने के अहंकार से भरा हुआ होने पर भी (वह आत्मा) अपने परिणाम के अनुरूप पुद्गल के परिणाम को, जो कि पुद्गल से अभिन्न है और पुद्गल से अभिन्न परिणतिमात्र क्रिया से किया जाता है, उसे करता हुआ प्रतिभासित न हो ।

भावार्थ :– आत्मा अपने ही परिणाम को करता हुआ प्रतिभासित हो; (परन्तु) पुद्गल के परिणाम को करता हुआ कदापि प्रतिभासित न हो; आत्मा की और पुद्गल की – दोनों की क्रिया एक आत्मा ही करता है – ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं । जड़ चेतन की एक क्रिया हो तो सर्व द्रव्यों के पलट जाने से सबका लोप हो जायेगा – यह महादोष उत्पन्न होगा ।

गाथा ८६ की उत्थानिका, गाथा एवं टीका पर प्रवचन

अब शिष्य ने पुनः प्रश्न किया कि दो क्रियाओं का अनुभव करने वाला पुरुष मिथ्यादृष्टि क्यों है ? इस शंका का समाधान इस गाथा में किया गया है । आचार्य अमृतचन्द्र टीका करते हुए कहते हैं :– "निश्चय से द्विक्रियावादी यह मानते हैं कि आत्मा के परिणाम को व पुद्गल के परिणाम को स्वयं आत्मा करता है; इसलिए वे मिथ्यादृष्टि ही हैं – ऐसा सिद्धान्त है ।"

'आत्मा राग भी करता है तथा बोलने की भाषारूप क्रिया भी करता है' – ऐसा जो मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है । भाई ! यदि सत्य

समझना हो तो उसके लिए आगम से एवं युक्ति से सिद्ध की हुई यह बात समझना होगी। विषयवासना का भाव भी जीव करता है तथा तद्रूप शरीर की अवस्था भी जीव ही करता है – यह मान्यता सिद्धान्तविरुद्ध है।

मोक्षमार्गप्रकाशक के चौथे अधिकार में मिथ्यादर्शन का स्वरूप समझाया है; वहाँ स्पष्ट कहा है कि "जीव को कषायभाव होने पर शरीर की चेष्टा भी कषायभाव के अनुसार हो जाती है। जैसे क्रोधादिक होने पर नेत्रादि रक्त हो जाते हैं, हास्यादि होने पर वदन (मुख) प्रफुल्लित हो जाता है – इन सबको एकरूप मानकर अज्ञानी ऐसा मान लेता है कि ये सब कार्य मैं करता हूँ।" इसप्रकार द्विक्रियावादी निश्चय से ऐसा मान लेता है कि आत्मा के तथा पुद्गल के परिणाम को स्वयं आत्मा करता है, परन्तु ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है; अतः ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि ही है।

अब टीकाकार आगे कहते हैं कि "एक द्रव्य के द्वारा दो द्रव्यों के परिणाम किये गये प्रतिभासित न हों। जैसे कुम्हार घड़े की उत्पत्ति में अनुकूल अपने इच्छारूप और हस्तादि की क्रियारूप व्यापारपरिणाम को, जो कि अपने से अभिन्न है और अपने से अभिन्न परिणतिमात्र क्रिया से किया जाता है, उसे करता हुआ प्रतिभासित होता है, परन्तु घड़ा बनाने के अहंकार से भरा हुआ होने पर भी वह कुम्हार अपने व्यापार के अनुरूप मिट्टी के घट परिणाम को, जो कि मिट्टी से अभिन्न है और मिट्टी से अभिन्न परिणतिमात्र क्रिया से किया जाता है, उसे करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता।"

कुम्हार घड़े की उत्पत्ति के अनुकूल है। वह अपने से अभिन्न अपनी रागादि क्रिया करता है, परन्तु वह घड़े की क्रिया को नहीं कर सकता। देखो, यह भेदज्ञान की बात है। घड़ा मिट्टी ने किया है। मिट्टी में घड़ा होने की योग्यता का काल था, घड़े की उत्पत्ति का वही जन्मक्षण था; इसलिए घड़ा मिट्टी में से उत्पन्न हुआ है, कुम्हार ने उसकी उत्पत्ति में कुछ भी नहीं किया है। स्त्रियाँ हलुआ बनाती हैं, मिष्टान्न बनाती हैं; तब लोग ऐसा कहते हैं कि जो बाई होशियार (चतुर) हो, उसके हाथ से अच्छा हलुआ बनता है; परन्तु यह बात सर्वथा असत्य है। अरे भाई! हलुआ तो बाई के हाथ से बनता ही नहीं है, कढ़ाई से भी नहीं बनता। हलुआ बनने की जो क्रिया हुई, उसके कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान व अधिकरण – ये छह कारक स्वयं उसमें होते हैं और उन्हीं से हलुआ बनता है।

यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि समय-समय में होनेवाली पर्यायों का कर्त्ता निमित्त अर्थात् परद्रव्य नहीं है। पर की क्रिया का कर्त्ता आत्मा नहीं है तथा आत्मा की क्रिया का कर्त्ता निमित्त या परद्रव्य नहीं हैं।

घड़े की पर्याय में कुम्हार का परिणाम अनुकूल है अर्थात् निमित्त है, परन्तु घड़े की पर्याय (परिणाम) स्वयं से हुई है, निमित्त से नहीं। घड़े की पर्याय का कुम्हार के परिणाम से होना त्रिकाल सम्भव नहीं है। कुम्हार घड़ा बनाने के अहंकार से भरा होने पर भी उसके व्यापार के अनुरूप मिट्टी की घट पर्याय, जो कि मिट्टी से अभिन्न है तथा मिट्टी से अभिन्न परिणतिमात्र क्रिया से करने में आती है, उसे कुम्हार करता है—ऐसा प्रतिभासित नहीं होता। अहो! भगवान का यह ऐसा अलौकिक मार्ग है। किसी की पर्याय में किसी अन्य का अधिकार है ही नहीं।

बन्ध अधिकार में यहाँ तक बात की है कि 'कोई उपदेश देनेवाला ऐसा माने कि मेरे द्वारा दूसरे मोक्ष प्राप्त करते हैं तो वह ऐसा माननेवाला मूढ़ है। जीव के वीतरागरूप परिणामों का कर्त्ता जीव स्वयं है। वे परिणाम स्वयं जीव से अभिन्न हैं तथा स्वयं से ही अभिन्न परिणतिमात्र क्रिया द्वारा करने में आते हैं। उन्हें दूसरे उपदेशक ने किये हैं—ऐसा प्रतिभासित ही नहीं होता।

आचार्यदेव आगे कहते हैं कि "इसीप्रकार आत्मा भी अज्ञान के कारण पुद्गलकर्मरूप परिणाम के अनुकूल अपने परिणाम को, जो कि अपने से अभिन्न है, अपने से अभिन्न परिणतिमात्र क्रिया से किया जाता है, उसे करता हुआ प्रतिभासित हो; परन्तु पुद्गल के परिणाम को करने के अहंकार से भरा हुआ होने पर भी (वह आत्मा) अपने परिणाम के अनुरूप पुद्गल के परिणाम को, जो कि पुद्गल से अभिन्न है और पुद्गल से अभिन्न परिणतिमात्र क्रिया से किया जाता है, उसे करता हुआ प्रतिभासित न हो।"

जीव अपने रागपरिणाम को करता है; यह राग पुद्गलकर्म के बन्धन में निमित्त है; परन्तु उस पुद्गलकर्म के परिणाम को जीव करता है—ऐसा बिल्कुल नहीं है। यहाँ कहते हैं कि जीव स्वयं अपने से अभिन्न राग परिणाम को करता है—ऐसा प्रतिभासित होता है, किन्तु कर्मबन्धन की पर्याय को, जो कि पुद्गल से अभिन्न है, उसे जीव करता है—ऐसा प्रतिभासित नहीं होता। आत्मा पुद्गलकर्म को बाँधता है अथवा नष्ट करता है—ऐसा वस्तुस्वरूप ही नहीं है। जीव अपने परिणाम में राग का नाश करके वीतरागता प्रगट करता है, उससमय कर्म का नाश हो जाता है; परन्तु कर्मनाश की क्रिया आत्मा नहीं करता।

गाथा ८६ के भावार्थ पर प्रवचन

"आत्मा अपने ही परिणाम को करता हुआ प्रतिभासित हो, पुद्गल के परिणाम को करता हुआ प्रतिभासित नहीं हो।" जीव राग की क्रिया करता है, परन्तु पर की क्रिया नहीं करता। शरीर चलता है तो अज्ञानी मानता है कि 'मैं शरीर को चलाता हूँ', परन्तु यह तो विपरीत मान्यता है। मोक्षमार्गप्रकाशक के चौथे अधिकार में मिथ्यादर्शन का स्वरूप कहा है। वहाँ लिखा है कि 'जीव की ज्ञानादिक व क्रोधादिक की अधिकता-हीनतारूप अवस्थाएँ होती हैं तथा पुद्गलपरमाणुओं की वर्णादि पलटनेरूप अवस्थाएँ होती हैं, उन सबको अपनी अवस्था मानकर उनमें ऐसी ममकार-बुद्धि करता है कि 'ये मेरी अवस्थाएँ हैं' तथा जीव में व शरीर में निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध हैं, उनसे जो क्रिया होती है, उन्हें अपनी मानता है। अपना स्वभाव दर्शन-ज्ञान है, उसकी प्रवृत्ति को निमित्तमात्र शरीर के अंगरूप स्पर्शनादिक द्रव्य-इन्द्रियाँ हैं। यह जीव उन सबको एक मानकर ऐसा मानता है कि मैंने हाथ से स्पर्श किया, जीभ से चखा, नासिका से सूँघा, नेत्र से देखा, कान से सुना, इत्यादि अज्ञानी की विपरीत मान्यता है।

आँख आदि के फड़कनेरूप एवं खाने-पीनेरूप शरीर की क्रियायें जड़ की क्रियाएँ हैं, जो जड़ से ही होती हैं; परन्तु अज्ञानी ऐसा मानता है कि वह क्रिया मुझसे होती है, उसकी यह मान्यता मिथ्या है। जीभ, कान आदि इन्द्रियाँ जड़ हैं। जीभ से चखा व कान से सुना – ऐसा मानना अज्ञान है, मिथ्यादर्शन है; क्योंकि इन्द्रियों से वह जानता नहीं है, ज्ञान की पर्याय से जानता है। इन्द्रियाँ निमित्त हैं, परन्तु निमित्त का अर्थ यह है कि जो पर में कुछ करे नहीं। अहो! वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है।

कोई माने या न माने, परन्तु वस्तुस्थिति तो यही है। अरे, जिसे सम्यक् स्वरूप को जानने की जिज्ञासा है – दरकार है, वह तो मानेगा ही तथा जो मानेगा, उसका कल्याण होगा। जीव को समय-समय विपरीत मान्यता से मिथ्यात्व कैसे होता है – इसकी यह बात चल रही है। अज्ञानी जीव को जब सुगन्ध का ज्ञान होता है तो वह मानता है कि मैंने नासिका से सूँघा है; किन्तु यह शरीर व इन्द्रियाँ तो जड़ हैं, मिट्टी हैं। क्या आत्मा नासिका से जानता है? नहीं, आत्मा नासिका से नहीं, बल्कि ज्ञान से जानता है। अरे भाई! जड़ व चेतन दोनों का स्वभाव प्रकटरूप से भिन्न है; तथापि अज्ञानी ऐसा मानता है कि राग से मैंने सूँघा है, परन्तु यह असत्यार्थ है। इसीप्रकार द्रव्यमन व ज्ञान को एकरूप जानकर ऐसा मानता है कि

मैं मन से जानता हूँ, जबकि स्मृति (स्मरणज्ञान) तो ज्ञान की पर्याय है, स्मृति मन का कार्य नहीं है। स्मरण जड़ (अचेतन) मन से नहीं होता। तथा जब जीव को बोलने की इच्छा होती है; तब अपने प्रदेशों को जैसे बोलते बने, वैसे हिलाता है। उसीसमय एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध होने से शरीर का अंग हिलने से पुद्गल-परमाणुओं की भाषावर्गणा वचनरूप परिणमती है। अज्ञानी उन सबको एकरूप मानकर ऐसा मानता है कि 'मैं बोलता हूँ', किन्तु यह सब आत्मा का अज्ञान है। अरे! अज्ञानी को यह चौवीस घण्टे की बीमारी है, आत्मसिद्धि में श्रीमद् राजचन्द्र ने लिखा है :–

आत्मभ्रान्ति सम रोग नहीं, सद्गुरु वैद्य सुजान।
गुरु-आज्ञा सम पथ्य नहीं, औषधि विचार ध्यान॥

भाई! लोगों को बाहरी जड़ की क्रियाओं में अपना कर्त्तापना भासित होता है – यह आत्मा का रोग है, बीमारी है, जो स्वरूप के समझने से ही दूर हो सकती है। कुछ लोग तो बल्कि ऐसा कहते हैं कि जो पर को कर्त्ता नहीं मानें, वे दिगम्बर नहीं हैं। परन्तु अरे भाई! यह तू क्या कह रहा है? जीव पर का कर्त्ता तीनलोक व तीनकाल में कभी भी नहीं हो सकता – ऐसा यहाँ श्रेष्ठ दिगम्बराचार्य सिद्ध करते हैं।

सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती को छहखण्ड का राज्य होता है, छियानवै हजार रानियाँ होती हैं, परन्तु वह भी ऐसा मानता है कि राग का एक कण भी मेरा नहीं है तो बाहर के रजकण की क्रिया मेरी है – यह कैसे हो सकता है? श्रेणिक राजा एवं भरत चक्रवर्ती क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे। वे ऐसा मानते थे कि मैं पर की क्रिया का जाननेवाला हूँ, कर्त्ता नहीं। यदि पर का कर्त्ता माने तो दो द्रव्यों की एकताबुद्धि हो जाती है, जो कि बहुत मोटी भूल है। जिसप्रकार कोई 'एक+एक=तीन' कहे, – यह मूल में भूल है और आगे जाकर यही भूल बड़े रूप में हो जाती है; उसीप्रकार मैं जड़कर्म का तथा शरीरादि परद्रव्य की क्रिया का करता हूँ – ऐसा जो मानता है, उसे दो द्रव्यों की एकताबुद्धिरूप मूल में भूल – मिथ्यादर्शन है, जो दुःख का पन्थ है।

भाई! सम्यग्दर्शन कोई अपूर्व वस्तु है, जिसे सम्यग्दर्शन होता है, उसके भव का अन्त आ जाता है। अनादि मिथ्यात्व की गाँठ तोड़कर जिसने पर से भिन्न ज्ञातास्वरूप भगवान आत्मा के अतीन्द्रिय आत्मा का अनुभव किया है, वह सुख – मोक्ष के पन्थ में आ गया है। इसके सिवाय जो बड़े-बड़े कारखाने चलाते हैं, व्यापार की बड़ी-बड़ी पेढ़ियाँ चलती हैं, ये सब जड़ की क्रियाएं हैं; 'इन्हें मैं करता हूँ' – ऐसा जो मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है, दुःख – भव के पन्थ में पड़ा है।

मोक्षमार्गप्रकाशक के चौथे अधिकार में बहुत अच्छी बात कही है :– "शरीर का संयोग होने से एवं छूटने से जन्म-मरण होता है – उसे अपना जन्म-मरण मानकर 'मैं उत्पन्न हुआ, मैं मरूँगा' – ऐसा मानता है; जिनसे शरीर उत्पन्न हुआ, उन्हें अपने माता-पिता मानता है; जो शरीर को रमावे, उसे अपनी स्त्री मानता है; जो शरीर से उत्पन्न हुए, उन्हें बेटा-बेटी मानता है; जो शरीर के उपकारी हैं, उन्हें अपना मित्र मानता है – इत्यादि रूप से अज्ञानी की मान्यता होती है। अधिक क्या कहें – हर प्रकार से आत्मा व शरीर को एकरूप ही मानता है।"

इस मान्यता से बिल्कुल विपरीत, अत्यन्त भिन्न भेदविज्ञान का यथार्थबोध करानेवाली बात प्रवचनसार के चरणानुयोग अधिकार में आई है। दीक्षा के लिए तैयार हुआ विरागी सम्यग्दृष्टि पुरुष ऐसा कहता है :– "अहो! इस पुरुष के शरीर की जननी (माता) के आत्मा! इस पुरुष का आत्मा तुम्हारे द्वारा जनित (उत्पन्न) नहीं है – ऐसा तुम निश्चय से जानो; इसलिए तुम इस आत्मा को छोड़ो। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है – ऐसा यह आत्मा आज अपने आत्मारूपी अनादिजनक के पास जा रहा है। अहो! इस पुरुष के शरीर की रमणी (स्त्री) के आत्मा! तू इस पुरुष के आत्मा को रमण नहीं कराता – ऐसा तू निश्चय से जान; इसलिए तू इस आत्मा को छोड़। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है – ऐसा यह आत्मा आज अपनी स्वानुभूतिरूपी अनादिरमणी के पास जा रहा है।" – इसप्रकार सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि की मान्यता में जमीन-आसमान का अन्तर है।

कोई अज्ञानी व्यक्ति किसी मकान में दस-बीस वर्ष तक रह ले तो ऐसा मानने लगता है कि 'यह मकान मेरा है, इसे मैंने बनाया है' – इसप्रकार उसकी वृत्ति मकानरूप हो जाती है। परन्तु भाई! मकान कौन बनाता है? अरे! इसे तो पुद्गल ने बनाया है। 'मकान मैंने बनाया' – यह बोलने की कथनपद्धति है। परद्रव्य की क्रिया, जड़ की क्रिया आत्मा नहीं करता; आत्मा तो उसका ज्ञान करता है। जड़ की क्रिया का कर्त्ता आत्मा नहीं है।

ज्ञानी परद्रव्य को अन्तरंग में अपना नहीं मानता। सम्यग्दृष्टि को बाहर में छह खण्ड का संयोग होता है तथापि वह अपने को उस राज्य का स्वामी नहीं मानता। पहले ७३वीं गाथा में भी आ गया है कि – "पहले विकल्प द्वारा ऐसा निर्णय करे कि 'मैं राग-द्वेष का स्वामी नहीं हूँ।' राग के स्वामीपने सदा नहीं परिणमन करनेवाला – ऐसा मैं निर्मम हूँ।" स्त्री का मकान का व राज्य का स्वामी मैं नहीं हूँ – ऐसा ज्ञानी समझता है।

लोक में जिसके पास बहुत सम्पत्ति होती है, वह लखपति कहलाता है, तो क्या आत्मा लखपति अर्थात् जड़ का पति है? जैसे भैंस का पति भैंसा (पाड़ा) होता है, उसीप्रकार यदि जड़ लक्ष्मी का पति बने तो जड़ होना पड़ेगा? और आत्मा कभी जड़ नहीं होता; अतः आत्मा जड़ का स्वामी नहीं है। जो अपने को पुण्य का स्वामी मानता है, वह भी जड़ है। ४७ शक्तियों में अन्तिम स्व-स्वामीसम्बन्धमयी शक्ति है। धर्मी मानता है कि मैं तो अपने शुद्ध द्रव्य-गुण व निर्मल पर्याय का स्वामी हूँ तथा वही मेरा स्व है। जो राग के स्वामी बनें, पत्नी के स्वामी बनें, राज्य के स्वामी बनें, संस्था के स्वामी बनें, वे सब मिथ्यादृष्टि हैं। तथा बोलने-चालने, खाने-पीने, घूमने-फिरने आदि शरीर की अनेक क्रियाएं होती हैं, जो इन क्रियाओं को व अपनी आत्मा की क्रियाओं को एक मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

आत्मा की व पुद्गल की – दोनों की क्रियाएं आत्मा ही करता है – ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। यदि जड़-चेतन की एक क्रिया हो तो सर्वद्रव्य पलट जाने से सर्व का लोप हो जाने का प्रसंग प्राप्त होने से बड़ा भारी दोष उत्पन्न होगा। आत्मा का परिणाम व शरीर, मन, वाणी, पैसा का परिणाम यदि एक हो तो सर्वद्रव्य पलट जाने से सबका लोप होने की स्थिति बनती है, जो कि सम्भव नहीं है। अतः ऐसा मानना ही मिथ्या है।

मेरा अस्तित्व पर से एवं पर का अस्तित्व मुझसे – ऐसा हो तो सब द्रव्यों का लोप हो जाये – यह बड़ा भारी दोष उत्पन्न होगा; इसलिए ऐसा स्वीकार करो कि सर्वद्रव्यों का परिणमन स्वतंत्रपने अपने-अपने से होता है, कोई द्रव्य किसी अन्य के स्वभाव का कर्त्ता नहीं है।

अब इसी अर्थ का समर्थक कलशरूप काव्य कहते हैं :-

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥५१॥

श्लोकार्थ :– [**यः परिणमति स कर्ता**] जो परिणमित होता है, सो कर्त्ता है; [**यः परिणामः भवेत् तत् कर्म**] (परिणमित होनेवाले का) जो परिणाम है, सो कर्म है [**तु**] और [**या परिणतिः सा क्रिया**] जो परिणति है, सो क्रिया है। [**त्रयम् अपि**] ये तीनों [**वस्तुतया भिन्नं न**] वस्तुरूप से भिन्न नहीं हैं।

भावार्थ :– द्रव्यदृष्टि से परिणाम व परिणामी का अभेद है और पर्यायदृष्टि से भेद है। भेददृष्टि से तो कर्त्ता, कर्म और क्रिया – ये तीन कहे गये हैं, किन्तु यहाँ अभेददृष्टि से परमार्थतः यह कहा गया है कि कर्त्ता,

कर्म और क्रिया – तीनों ही एक द्रव्य की अभिन्न अवस्थाएँ हैं, प्रदेशभेदरूप भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं।

कलश ५१ पर प्रवचन

जो परिणमित होता है, वह कर्त्ता है तथा जो परिणाम है, वह कर्म है। द्रव्य परिणमन करनेवाला है – परिणामरूप कर्म का कर्त्ता है। जड़ परिणाम का कर्त्ता जड़ है। खाने-पीने के परिणाम की क्रिया का कर्त्ता जड़द्रव्य है। जो स्वयं कार्यरूप परिणमे, वह कर्त्ता है। यह जो अँगुली हिलती है, उसमें हिलनेरूप क्रिया पुद्गल की है, उसका आधार आत्मा नहीं है। अपने द्रव्य-गुण-पर्याय का आधार अपना आत्मा है। पर के परिणाम का आधार तत्सम्बन्धी परमाणु हैं। देह का आधार आत्मा को मानना असत्यार्थ है। लोग कहते हैं कि जबतक जीव है, तबतक शरीर चलता है, परन्तु यहाँ कहते हैं कि शरीर को जीव का आधार नहीं है। शरीर अपने आधार से है, आत्मा के आधार से शरीर नहीं है। भाई! आत्मा पर का कार्य नहीं तथा पर के परिणाम का कर्त्ता भी नहीं; क्योंकि जो परिणमता है, वही कर्त्ता है।

जगत ऐसा मानता है कि यदि चतुर आदमी दुकान पर बैठे तो व्यापार-धन्धा ठीक चलता है, किन्तु यहाँ कहते हैं कि व्यापार की क्रिया का कर्त्ता आत्मा नहीं है, क्योंकि आत्मा व्यापार की क्रियारूप नहीं परिणमता। रेल में माल के डिब्बे आते हैं, उनमें माल के रजकण अपनी क्रियावती शक्ति से कार्य करते है, वे रेल के डिब्बे के कारण नहीं आये। माल की क्रिया माल में तथा रेलगाड़ी के डिब्बों की क्रिया रेलगाड़ी के डिब्बों में अपने-अपने कारण से स्वतन्त्र होती है। आत्मा तो उसका ज्ञायक है, कर्त्ता नहीं। आत्मा वस्तुतः पर को जानता भी नहीं, बल्कि परसम्बन्धी अपने ज्ञान को जानता है।

समयसार गाथा ७५ में आ चुका है कि राग का ज्ञान भी राग का नहीं, किन्तु आत्मा का है। आत्मा स्वयं को जानता है। सामने जैसी वस्तु है, वैसा ही यहाँ ज्ञान हुआ; किन्तु वह ज्ञान आत्मा में स्वयं से हुआ है। यद्यपि वहाँ राग व शरीर है, तथापि राग व शरीर के कारण ज्ञान नहीं हुआ। परवस्तु सम्बन्धी ज्ञान की उत्पत्ति के काल में आत्मा अपने स्व-परप्रकाशक स्वभाव के कारण स्व के साथ पर को भी जानता है। ज्ञान में पर को प्रकाशित करने की सामर्थ्य पर के कारण नहीं है, बल्कि अपनी स्व-परप्रकाशक स्वभाव से है।

आचार्य यहाँ कहते हैं कि – 'जो परिणमता है, वह कर्त्ता है। शरीर के परिणमन का कर्त्ता शरीर है। परजीव की दया पालने का भाव जीव का परिणमन है, उसका कर्त्ता जीव है तथा वह दया का परिणाम जीव का कर्म है।'

जो परिणमता है, वह कर्त्ता है; जो उसका परिणाम है, वह उसका कर्म है अर्थात् कार्य है; और जो परिणति है, वह क्रिया है। पूर्व पर्याय पलटकर जो वर्तमान पर्याय हुई, वह क्रिया है। ये तीनों वस्तुरूप से भिन्न नहीं हैं। पर्यायदृष्टि से तीन भेद पड़ते हैं, वस्तुपने भेद नहीं है। समयसार कलशटीका के ४९वें कलश में तो ऐसा कहा है कि – द्रव्य कर्त्ता व परिणाम उसका कर्म – यह कहना भी उपचार से है। द्रव्य पर का कर्त्ता तो उपचार से – व्यवहार से भी नहीं है। अपना ज्ञानपरिणाम कार्य व उसका कर्त्ता आत्मा – ऐसा भेद उपचार से है, निश्चय से तो परिणाम व परिणामी अभेद है।

यहाँ पर से भिन्न करने की बात है, अतः ऐसा कहा है कि जो परिणमता है, वह कर्त्ता तथा जो परिणाम है, वह कर्म है। वस्तुतः तो जो परिणमित होती है, वह पर्याय है; द्रव्य भी उसका कर्त्ता नहीं है। परिणति की कर्त्ता परिणति स्वयं है, क्योंकि एकसमय में जो परिणति हुई, वह अपने षट्कारक से हुई है; द्रव्य-गुण के आलम्बन से नहीं हुई; पर के आलम्बन से भी नहीं हुई। चाहे शुद्धपरिणति हो या अशुद्धपरिणति, वह समय-समय के अपने षट्-कारक से ही होती है। उस क्रिया का कारण द्रव्य स्वयं नहीं है। परिणति का उपादानकारण परिणति स्वयं है। परिणति ध्रुव से नहीं हुई है, परिणति स्वयं परिणति से ही हुई है।

अहा ! जो परिणमे, वह कर्त्ता; जो परिणाम, वह कर्म; तथा जो परिणति, वह क्रिया – ऐसे तीन भेद करना उपचार है। लोक बाह्य व्रत, तप, भक्ति व ब्रह्मचर्य पालने में धर्म मानता है; परन्तु लोक की यह मान्यता मिथ्यात्व है। व्रतादि आस्रवभाव हैं, आस्रव का पालन करने में धर्म (संवर) मानना मिथ्यात्व है। वस्तुतः वस्तुस्वरूप तो यह है कि परिणति क्रिया; परिणमन करनेवाला कर्त्ता; तथा परिणमन कर्म – ये तीनों ही वस्तुमय हैं, वस्तु से भिन्न नहीं हैं।

कलश ५१ के भावार्थ पर प्रवचन

द्रव्यदृष्टि से परिणाम और परिणामी का अभेद है तथा पर्यायदृष्टि से भेद है। शुद्धपरिणाम हो या अशुद्ध, राग का परिणाम हो या अराग

का, द्रव्यदृष्टि से परिणाम और परिणामी का अभेद है तथा पर्यायदृष्टि से भेद है।

पंचास्तिकायसंग्रह की १५वीं गाथा की टीका से यह सिद्ध होता है कि यद्यपि ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द आदि सब गुण ध्रुव हैं, तथापि पर्यायदृष्टि से गुण परिणमते हैं – ऐसा कहा जाता है। द्रव्यदृष्टि से गुण, अपने आप में ध्रुव हैं तथा पर्यायदृष्टि से गुण परिणमन करते हैं। इन सब दृष्टिकोणों को जानकर यथार्थ निर्णय द्वारा पर्यायबुद्धि छोड़कर द्रव्यदृष्टि करे तो क्षणभर में सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। जो पर्यायबुद्धि है, वह मिथ्यादृष्टि है। प्रवचनसार की ९३वीं गाथा में कहा है कि – 'पज्जयमूढ़ा हि परसमया' पर्यायमूढ़ जीव परसमय है।

यदि कोई कहे कि पर्याय तो अपनी है, उसे अपनी माननेवाला मूढ़ क्यों कहलाता है? उससे कहते हैं कि अरे भाई! एक समय की पर्याय को अपना स्वरूप मानता है, वह परसमय है, क्योंकि त्रिकाली आत्मा एक समय की पर्याय के बराबर नहीं है। जो त्रिकाली आत्मा को एक समय की पर्यायमात्र मानता है तथा त्रिकाली द्रव्य को नहीं पहचानता है; वह पर्यायमूढ़ है, परसमय है, मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दृष्टि जीव की प्रशंसा करते हुए पण्डित बनारसीदासजी ने लिखा है :–

"स्वारथ के साँचे परमारथ के साँचे चित्त,
साँचे-साँचे बैन कहैं साँचे जैनमती हैं।
काहू के विरुद्ध नाहिं परजायबुद्धि नाहिं,
आतमगवेषी न गृहस्थ हैं न जती हैं॥
सिद्धि-रिद्धि-वृद्धि दीसै घट में प्रगट सदा,
अन्तर की लच्छि सौं अजाची लच्छपती हैं।
दास भगवन्त के उदास रहैं जगत सौं,
सुखिया सदीव ऐसे जीव समकिती हैं॥"
(नाटक समयसार, मङ्गलाचरण, छन्द ७)

सम्यग्दृष्टि को पर्यायबुद्धि नहीं होती। धर्मात्मा तो स्वरूप के लक्ष्य के कारण लक्षपति हैं। धनादि सम्पत्ति के स्वामी को लखपति नहीं कहते हैं, बल्कि जिसको निज चैतन्यस्वरूप लक्ष्मी का लक्ष्य हुआ है, वह लक्षपति है। 'अजाची लच्छपति हैं' अर्थात् सम्यग्दृष्टि पुरुष पर से अपना कार्य होना नहीं मानते, अतः उनकी वृत्ति में से याचकता का अभाव हो गया है। जिन अज्ञानियों की ऐसी मान्यता होती है कि पर से मेरा भला-बुरा

होता है, वे दूसरे के याचक बन जाते हैं, दीन बन जाते हैं। ज्ञानियों की अयाचकता का यही रहस्य है कि वे पर से अपना कार्य होना मानते ही नहीं हैं, अतः वे किसी के सामने हाथ क्यों पसारें ?

अहाहा ! जब गृहस्थावस्था में रहनेवाले सम्यक्दृष्टि ऐसे अयाचक होते हैं तो मुनियों की तो क्या बात कहें ? वे तो सिंहवृत्तिवाले होते ही हैं। अहो, मुनिपना ! धन्य घड़ी ! धन्य क्षण !! धन्य अवतार !!! मुनिपना तो साक्षात् चारित्र की आनन्ददशा है। जगतजन सम्यग्दर्शन बिना व्रतादि धारण कर अपने को चारित्रवन्त मान लेते हैं, परन्तु यह यथार्थमार्ग नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि "द्रव्यदृष्टि से परिणाम व परिणामी का अभेद है तथा पर्यायदृष्टि से भेद है। भेददृष्टि से तो कर्त्ता, कर्म और क्रिया – ये तीन कहे जाते हैं, परन्तु यहाँ अभेददृष्टि से परमार्थतः यह कहा गया है कि कर्त्ता, कर्म व क्रिया – तीनों ही एक ही द्रव्य की अभिन्न अवस्थाएँ हैं, प्रदेशभेदरूप भिन्नवस्तुएँ नहीं हैं।" यहाँ पर के प्रदेशों की भिन्नता की अपेक्षा से कथन है। निश्चय से पर्याय के प्रदेश भी भिन्न कहे जाते हैं, परन्तु यहाँ तो पर के प्रदेशों से अपने प्रदेश भिन्न सिद्ध करने की बात है।

निश्चय से तो पर्याय का क्षेत्र भिन्न है और ध्रुवद्रव्य का क्षेत्र भिन्न है। जितने क्षेत्र से पर्याय उत्पन्न होती है, उतना क्षेत्र ध्रुव से भिन्न गिना जाता है। भाई ! अपनी केवलज्ञान की पर्याय का क्षेत्र या सम्यग्दर्शन की पर्याय का क्षेत्र द्रव्य के क्षेत्र से भिन्न है। दोनों के बीच भेद है। द्रव्य का धर्म व पर्याय का धर्म – दोनों भिन्न हैं, स्वतन्त्र हैं।

समयसार के संवर अधिकार में १८१-१८२-१८३ गाथा की टीका में सिद्ध किया है। विकल्प का क्षेत्र भिन्न है तथा स्वभाव का क्षेत्र भिन्न है; विकल्प भिन्न वस्तु है तथा भगवान आत्मा भिन्न वस्तु है। वहाँ तो इतनी बात ही है, किन्तु दूसरी बात यह भी आती है कि निर्मल परिणति का भी क्षेत्र भिन्न, उसकी शक्ति भी भिन्न। पर्याय का कर्त्ता पर्याय, कर्म पर्याय, साधन पर्याय तथा उसका आधार भी वही पर्याय। अहो ! ऐसा भेदज्ञान का स्वरूप अतिसूक्ष्म है।

समयसारकलश के १३१वें कलश में कहा है कि –

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥

अबतक जितने भी सिद्ध हुए हैं वे सब भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं; तथा जो जीव संसारबन्धन में पड़े हैं, वे भी सब इसी भेदविज्ञान के अभाव से ही पड़े हैं।

देखो! यहाँ भी 'भेदज्ञान के अभाव के कारण बँधे' हैं – ऐसा कहा है, 'कर्म के कारण बँधे हैं' – ऐसा नहीं कहा। उसीप्रकार सिद्ध जीवों ने व्यवहार के राग से सिद्धपद नहीं पाया है, परन्तु इससे भिन्नपने का भेदज्ञान करके मुक्ति प्राप्त की है।

यहाँ आचार्य कहते हैं कि आत्मा अज्ञानभाव से विकार के परिणाम का कर्त्ता है तथा ज्ञानभाव से सम्यग्दर्शनादि निर्मलपर्याय का कर्त्ता है। कर्त्ता व कर्म – इन दोनों को भिन्न करने के लिए यह कथन है, उपचार है। निर्मलपर्याय का कर्त्ता आत्मा व निर्मल पर्याय ही इस आत्मा का कर्म – ऐसा भेद करने के लिए यह उपचारकथन है। अतः आत्मा राग का कर्त्ता एवं परद्रव्य का कर्त्ता है – यह बात तो दूर ही रह जाती है। अहाहा! इस भेदज्ञान का फल पर्याय में अनन्त ज्ञान व अनन्त आनन्द की प्राप्ति है।

श्रीमद् रायचन्द्र ने कहा है कि सादिअनन्त अनन्त समाधिसुख में। भेदज्ञान के फल में सादि-अनन्त काल तक जीव अनन्त समाधिसुख की दशा में रहेगा। भूतकाल से भविष्य का काल अनन्त गुना अधिक है। उस अनन्तकालपर्यन्त जीव अनन्तसुख में समाधिस्थ रहेगा – यह भेदज्ञान का फल है।

प्रश्न :– व्यवहार को भी शास्त्रों में मुक्ति का साधन कहा है न? उसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर :– हाँ, कहा है; परन्तु वह उपचार का कथन है। वह कथन अज्ञानी के राग – व्यवहार पर लागू नहीं होता। जिसे निश्चय के भानपूर्वक अभेदरत्नत्रय प्रगट हुआ है; उस ज्ञानी को सहचरपने जो भेदरत्नत्रय का विकल्प होता है, उस पर अभेदरत्नत्रय का आरोप करके व्यवहार से साधन कहा है तथा वह जीव भेदरत्नत्रय के राग का अभाव करके मुक्ति प्राप्त करेगा – इस अपेक्षा से उसे परम्पराकारण भी कहा है। तथा जो यह कहा है कि 'व्यवहार से परम्परा मुक्ति होगी' – वह भी व्यवहारनय का कथन है, असत्यार्थ है; उसे सत्यार्थ मान लेना अज्ञान है।

मुक्ति का साक्षात् कारण तो अभेदरत्नत्रय है, क्योंकि अभेदरत्नत्रय की पर्याय का व्यय होकर केवलज्ञानपर्याय उत्पन्न होती है। वास्तव में तो अभेदरत्नत्रय से केवलज्ञान हुआ – ऐसा कहना भी व्यवहार है। तथा

त्रिकाली शुद्धद्रव्य को उसका कारण कहना भी उपचार है। केवलज्ञान की पर्याय का वास्तविक कारण केवलज्ञान की पर्याय ही है; द्रव्य-गुण नहीं, पूर्व की अभेदरत्नत्रय की शुद्ध पर्याय तथा भेदरत्नत्रय का राग भी नहीं है।

यहाँ तो आचार्य कहते हैं कि कर्त्ता, कर्म, क्रिया – तीनों ही एक द्रव्य की अभिन्न अवस्थाएँ हैं, प्रदेशभेदरूप भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। असंख्यप्रदेश में पर्याय उत्पन्न होती है, उसमें प्रदेशभेद नहीं है। तथा दूसरी बात शास्त्रों में यह आती है कि 'पर्याय का क्षेत्र भिन्न है तथा ध्रुव द्रव्य का क्षेत्र भिन्न है'। – यह द्रव्य-पर्याय में परस्पर भिन्नता की बात है। धर्म व धर्मी – दोनों को निरपेक्ष सिद्ध करने की बात है, परन्तु यहाँ तो स्वद्रव्य-परद्रव्य की भिन्नता की बात चल रही है। द्रव्य का परिणाम द्रव्य से अभिन्न है तथा परद्रव्य से भिन्न है; परद्रव्य इसमें कुछ नहीं करता।

निमित्त, व्यवहार व क्रमबद्धपर्याय – तीनों विषयों में लोगों को अस्पष्टता है, परन्तु क्रमबद्धपर्याय तो वस्तु की स्थिति है। एक के बाद एक – जिससमय जो पर्याय होनी हो, उसमें द्रव्य भी फेरफार नहीं कर सकता। पर्याय क्रमबद्ध होती है, द्रव्य उसको जान सकता है, परन्तु उसमें फेरफार नहीं कर सकता।

आत्मा अनन्त शक्तियों का पिण्ड है। शक्तिवान द्रव्य शुद्ध है, उसके गुण शुद्ध हैं तथा उसकी दृष्टि होने पर पर्याय भी क्रमशः निर्मल परिणमन करती है। शक्ति के वर्णन में विकारी परिणाम की बात नहीं है, क्योंकि अशुद्धता हो – ऐसी द्रव्य में कोई शक्ति ही नहीं है। गुण अक्रम से रहते हैं तथा पर्यायें क्रम से होती हैं। जिसे शक्तिवान द्रव्य की दृष्टि हो जाती है, उसकी निर्मल पर्यायें क्रमशः एक के बाद एक होती ही रहती हैं। यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि कर्ता, कर्म, क्रिया तीनों ही अभिन्न हैं, वे तीन प्रदेशरूप भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। 28-3-2000

इसप्रकार परद्रव्य से भिन्नता कही।

पुनः कहते हैं :–

(आर्या)

एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य।
एकस्य परिणतिः स्यादनेकमप्येकमेव यतः ॥५२॥

श्लोकार्थ :– [एकः परिणमति सदा] वस्तु एक ही सदा परिणमित होती है, [एकस्य सदा परिणामः जायते] एक के ही सदा परिणाम होते

हैं (अर्थात् एक अवस्था से अन्य अवस्था एक द्रव्य की ही होती है) और [एकस्य परिणतिः स्यात्] एक की ही परिणति – क्रिया होती है; [यतः] क्योंकि [अनेकम् अपि एकम् एव] अनेकरूप होने पर भी वस्तु एक ही है, भेद नहीं है।

भावार्थ :– एक वस्तु की अनेक पर्यायें होती हैं; उन्हें परिणाम भी कहा जाता है और अवस्था भी कहा जाता है। वे संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि से भिन्न-भिन्न प्रतिभासित होती हैं; तथापि एक वस्तु ही हैं, भिन्न नहीं हैं – ऐसा ही भेदाभेदस्वरूप वस्तु का स्वभाव है।

कलश ५२ एवं उसके भावार्थ पर प्रवचन

'एक वस्तु की अनेक पर्यायें होती हैं, उन्हें परिणाम भी कहा जाता है और अवस्था भी कहा जाता है।'

प्रत्येक आत्मा व प्रत्येक पुद्गलपरमाणु समय-समय में होनेवाली अपनी-अपनी अनेक पर्यायों से युक्त है अर्थात् प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी अनेक पर्यायों से संयुक्त हैं, इसलिए अन्यद्रव्य उनकी पर्याय करे – ऐसा नहीं है। प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण हैं। प्रतिसमय सभी गुणों की स्वतंत्रपने पर्यायें होती हैं, इसकारण प्रत्येक द्रव्य की एक समय में पर्यायें भी अनन्त होती हैं; इसलिए अनन्त पर्यायरहित कोई द्रव्य नहीं होता। जैसे आत्मद्रव्य अनेक पर्याययुक्त है, उसीतरह अन्य द्रव्य भी अनेक पर्याययुक्त हैं, तो फिर अनेक पर्याययुक्त दूसरे द्रव्य की पर्याय को आत्मा कैसे करे ?

द्रव्य अनेक पर्यायों से युक्त होता है, उन पर्यायों को परिणाम भी कहते हैं। आत्मा अपनी पर्यायें स्वयं प्रसिद्ध करता है अर्थात् प्रगट करता है। यहाँ केवल संसारपर्याय की ही बात नहीं है, अपितु प्रत्येक आत्मा शुद्ध या अशुद्ध अपनी अनन्त पर्यायों से सहित होता है। अपनी अशुद्ध अवस्था में अनन्त अशुद्धपर्यायों से युक्त होता है तथा शुद्धावस्था में शुद्धपर्यायों से युक्त होता है, अतः उसकी अशुद्धपर्यायों को अन्यद्रव्य कैसे करे ?

पर्याय को अवस्था भी कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य अपनी अनन्त गुणों की अवस्थारूप से परिणमन करता है।

अब आचार्य कहते हैं कि 'वे संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि से भिन्न-भिन्न प्रतिभासित होती हैं; तथापि एक वस्तु ही हैं, भिन्न नहीं हैं – ऐसा ही भेदाभेदस्वरूप वस्तु का स्वभाव है।'

द्रव्य का नाम व पर्याय का नाम अलग-अलग है, इसलिए संज्ञा के भेद से द्रव्य व पर्याय में भेद है। द्रव्य एक है व पर्यायें अनेक हैं – ऐसा संख्याभेद

है। द्रव्य त्रिकाल रहता है व पर्याय एकसमय, इसलिए लक्षणभेद है तथा द्रव्य व पर्याय का प्रयोजन भिन्न है, इसलिए प्रयोजन अपेक्षा भी भिन्न हैं; तथापि एक ही वस्तु है। द्रव्य व पर्याय एक ही वस्तु है। ऐसा ही भेदाभेद-स्वरूप वस्तु का स्वभाव है। आत्मा अभेदस्वरूप है – ऐसा भी शास्त्रों में आता है, किन्तु यहाँ वस्तु के भेदाभेदस्वरूप की अपेक्षा से कथन हैं।

समयसार की सातवीं गाथा में भी कहा है कि वस्तु भेदाभेदस्वरूप है। समझाने में जो भेद पड़ते हैं, वे वस्तु के अन्तर्गत भेद हैं। पर से भिन्न करने की अपेक्षा वस्तु को अभेद कहते हैं, परन्तु वस्तु में गुण व पर्यायों के भेद भी हैं। अभेद की दृष्टि से द्रव्य-गुण-पर्याय में अभेद है तथा भेद से देखें तो तीनों भेदरूप भी हैं; अतः वस्तु भेदाभेदस्वरूप है। अनेक अपेक्षाओं से कथन होता है, उसे यथार्थ समझना चाहिए। एकान्त से अभेद कहोगे तो गुण-पर्यायों का भेद सिद्ध नहीं होगा तथा एकान्त से भेद कहोगे तो अभेद सिद्ध नहीं होगा; इसलिए वस्तु का स्वभाव भेदाभेदस्वरूप है।

सातवीं गाथा के भावार्थ के अन्त में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने कहा है कि आत्मा वीतराग होने के बाद भेदाभेदरूप वस्तु का ज्ञाता हो जाता है। तथा वहीं पर यह भी कहा है :– "यहाँ कोई कह सकता है कि *पर्याय भी द्रव्य के ही भेद हैं, अवस्तु नहीं; तब फिर उन्हें व्यवहार कैसे कहा* जा सकता है ? उसका समाधान – यह तो ठीक है, परन्तु यहाँ द्रव्यदृष्टि से अभेद को प्रधान करके उपदेश दिया है। अभेददृष्टि में भेद को गौण कहने से ही अभेद भली-भाँति मालूम हो सकता है, इसलिए भेद को गौण करके उसे व्यवहार कहा है। यहाँ यह अभिप्राय है कि भेददृष्टि में भी निर्विकल्प-दशा नहीं होती और सरागी को विकल्प होते रहते हैं; इसलिए जहाँ तक रागादि दूर नहीं हो जाते, वहाँ तक भेद को गौण करके अभेदरूप निर्विकल्प अनुभव कराया गया है।"

देखो, यह एकान्त ! यह एकान्त अभेद ही सम्यग्दर्शन का विषय है। अनेकान्त लक्ष्य में होते हुए भी सम्यक्-एकान्तस्वरूप त्रिकालशुद्धद्रव्य, अभेद, एकरूप, अखण्डानन्दरूप, चैतन्यभगवान ही दृष्टि का विषय है।

समयसार की १४वीं गाथा की टीका के अन्त में भी सम्यक्-एकान्त का कथन आता है। 'जो स्वयं एकान्त बोधरूप (ज्ञानरूप) है – ऐसे जीव के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर संयुक्तपना अभूतार्थ है, असत्यार्थ है।' एकान्त ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा की दृष्टि हुए बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता – इस अपेक्षा से वस्तु अभेद है, पर से भिन्न है; इसलिए अपनी

अपेक्षा से भी अभेद कहा है। सातवीं गाथा से तो ऐसा सिद्ध होता है कि अभेद त्रिकाली वस्तु में पर्याय नहीं है, ज्ञान नहीं है, दर्शन नहीं है, चारित्र नहीं है, भेद-व्यवहार भी नहीं है; परन्तु यह तो अभेद की दृष्टि कराने के प्रयोजन से कहा है, वस्तु तो भेदाभेदस्वरूप है। वीतराग होने के बाद आत्मा जब भेदाभेद का ज्ञाता हो जाता है, तब द्रव्य व पर्याय – दोनों को जानता है, परन्तु जबतक रागादि नहीं मिटते, तबतक भेद को गौण करके अभेदरूप निर्विकल्प अनुभव करने के लिए कहा गया है।

रागी जीव का भेद पर लक्ष्य जावेगा तो राग ही उत्पन्न होगा। भेद का ज्ञान तो केवलज्ञानी को भी है। केवलज्ञानी भेद-अभेद सब जानते हैं। भेद का जानना राग का कारण नहीं है, किन्तु रागी प्राणी को भेद का लक्ष्य होने पर राग होता है – ऐसा सिद्धान्त है।

अभेददृष्टि में भेद मालूम नहीं पड़ता, इसलिए अभेद की दृष्टि में भेद नहीं हैं – ऐसा कहा है। अन्दर में गुण-पर्यायों का भेद है तो अवश्य, परन्तु अभेद की दृष्टि में भेद मालूम नहीं पड़ता; इसलिए भेद को गौण करके व्यवहार कहा है। भेद को गौण किया है, अभाव नहीं। भाई! आजकल एकान्त और अनेकान्त के बारे में भारी भ्रम है। यहाँ तो अभेद-दृष्टि कराने के लिए आजकल एकान्त से कहा है। पर्याय व भेद का लक्ष्य छुड़ाने के लिए भेद को गौण करके अभूतार्थ कहा गया है।

तब कोई कहेगा कि भेददृष्टि से अभेददृष्टि होती है तथा अभेद की दृष्टि से अभेद का लक्ष्य होता है – ऐसा अनेकान्त करना चाहिए? उससे कहते हैं कि भाई! ऐसा अनेकान्त का स्वरूप नहीं है। भेददृष्टि में निर्विकल्पदशा नहीं होती। सरागी को भेद के लक्ष्य से विकल्प होता है। उसे भेद को जानने से राग होता है – ऐसा नहीं है, परन्तु सरागी प्राणी को भेद पर लक्ष्य जाने से राग होता है; इसलिए उसे निर्विकल्पदशा कराने के लिए 'त्रिकाली अभेद एकरूप वस्तु की दृष्टि करो' – ऐसा सम्यक-एकान्त कहा है।

अभेददृष्टि से सम्यग्दर्शन होता है तथा भेददृष्टि से नहीं होता – इसका नाम अनेकान्त है। लोगों ने एकान्त-अनेकान्त समझने में बड़ी भारी गड़बड़ी की है। जिसे सम्यग्दर्शन प्रगट करना हो, उसे अभेद पर दृष्टि डालना चाहिए। भेद व पर्याय होते हुए भी एकान्त अभेद की दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। 'कथञ्चित् भेद के लक्ष्य से तथा कथञ्चित् अभेद के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन होता है' – ऐसा अनेकान्त नहीं है, यह तो फूदड़ीवाद है।

देखो, कहते हैं कि ! वस्तु का स्वरूप तो भेदाभेदरूप है । वीतराग होने के बाद अभेद को जानते हैं तथा भेद को भी जानते हैं, परन्तु सरागी प्राणी का भेद पर लक्ष्य जाय तो राग होता है, इसलिए भेद को गौण करके एक अभेद पर दृष्टि स्थापित करने को कहा जाता है – यही वीतराग का मार्ग है ।

भाई ! अन्दर त्रिकाली शुद्ध अभेदवस्तु है, उस पर दृष्टि डाले बिना व्रतादिक के विकल्प से, राग से, भेद से या निमित्त से सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता ।

जो अनेकान्तदृष्टियुक्त एकान्त की सेवा करते हैं अर्थात् पर्यायादि भेद का ज्ञान करके अभेद का सेवन करते हैं, तव वे भलीप्रकार सवसे सव तरह से मैं भिन्न हूँ – ऐसा जानते हैं । 'मैं एक केवल शुद्ध चैतन्यस्वरूपमात्र एकान्त शुद्ध अनुभवरूप हूँ, मैं एकान्त शुद्ध आनन्दस्वरूप हूँ – ऐसा जानते हैं ।

देखो ! दुःख है, अशुद्धता है – ऐसी बात नहीं की; क्योंकि सम्यग्दर्शन में सम्यक्-एकान्त होता है । अहाहा····! 'मैं तो अचिन्त्य परमोत्कृष्ट सुखमात्र, एकान्त शुद्ध अनुभवरूप हूँ; मुझमें निक्षेप नहीं, विकल्प नहीं, भय नहीं, खेद नहीं, अन्य अवस्थाएँ भी नहीं । मैं तो मात्र निजस्वरूपमय निर्विकल्प उपयोग का कर्त्ता हूँ । उसमें लीन हो जाउँ तो फिर शान्ति···· शान्ति····शान्ति उत्पन्न हो ।' – इसप्रकार पर्याय में जो अशुद्धता व भेद है, उस सव को यहाँ दृष्टि से ओझल कर दिया है; क्योंकि दृष्टि का विषय एकान्त निश्चय ही होता है ।

दो कारण से कार्य नहीं होता । अपने स्वरूप के लक्ष्य से ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है । कारण तो एक ही है, परन्तु प्रमाणज्ञान में दूसरा निमित्त कौन है – इसका ज्ञान कराने के लिए उपचार से निमित्त को कारण कहा जाता है ।

नयचक्र ग्रन्थ में शिष्य ने प्रश्न किया कि निश्चय में तो अकेला द्रव्य आता है, जवकि प्रमाण का विषय तो द्रव्य व पर्याय – दोनों है, अतः निश्चय की अपेक्षा प्रमाण अधिक पूज्य होना चाहिए ?

उसके उत्तर में कहा है कि प्रमाण पूज्य नहीं है, क्योंकि वह आत्मा को नयपक्षातिक्रांत वनाने में समर्थ नहीं है ।

और कहते हैं कि :–

नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत ।
उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा ।।५३।।

श्लोकार्थ :– [न उभौ परिणमतः खलु] दो द्रव्य एक होकर परिणमित नहीं होते, [उभयोः परिणामः न प्रजायेत] दो द्रव्यों का एक परिणाम नहीं होता और [उभयोः परिणतिः न स्यात्] दो द्रव्यों की एक परिणति – क्रिया नहीं होती; [यतः] क्योंकि जो [अनेकम् सदा अनेकम् एव] अनेक द्रव्य हैं सो सदा अनेक ही हैं, वे बदलकर एक नहीं हो जाते।

भावार्थ :– जो दो वस्तुएँ हैं, वे सर्वथा भिन्न ही हैं, प्रदेशभेदवाली ही हैं। दोनों एक होकर परिणमित नहीं होती, एक परिणाम को उत्पन्न नहीं करती और उनकी एक क्रिया नहीं होती – ऐसा नियम है। यदि दो द्रव्य एक होकर परिणमित हों तो सर्व द्रव्यों का लोप हो जाये।

कलश ५३ पर प्रवचन

अहो! आचार्यदेव फरमाते हैं कि आत्मा में जो अशुद्ध राग-द्वेषादि परिणाम होते हैं, वे आत्मा एवं कर्म – दोनों के संयोग से होते हैं – ऐसा मानना ठीक नहीं है; क्योंकि दो द्रव्यों की एक परिणति नहीं होती। तथा अकेले कर्म से ही विकार होता है – यह मान्यता भी खोटी है। अपना अशुद्ध परिणमन स्वयं से होता है, कर्म जीव में अशुद्ध परिणमन करा ही नहीं सकता। जीवद्रव्य अपनी शुद्धचेतनारूप अथवा अशुद्धचेतनारूप अवस्थाओं में व्याप्य-व्यापकभाव से स्वयं परिणमता है। पुद्गलद्रव्य भी अपने अचेतनलक्षण परिणामरूप अथवा ज्ञानावरणादि कर्मरूप स्वयं परिणमता है। जीवद्रव्य व पुद्गलद्रव्य – दोनों मिलकर अशुद्धचेतनारूप परिणमन नहीं करते।

प्रश्न :– श्री जयसेनाचार्य की टीका में तो ऐसा कहा है कि जैसे माता-पिता के बिना पुत्र नहीं होता, वैसे ही आत्मा व कर्म – दोनों के बिना अशुद्धता नहीं होती – इसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर :– भाई! वहाँ प्रमाण का ज्ञान कराने के लिए ऐसा कहा गया है। यहाँ तो यह कहते हैं कि जैसे आत्मा अशुद्धतारूप व्याप्य-व्यापक भाव से परिणमता है, वैसे पुद्गल आत्मा को अशुद्धतारूप से नहीं परिणमा सकता; क्योंकि जीव व पुद्गल में व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव है। जीवद्रव्य व पुद्गलद्रव्य – दोनों मिलकर एक पर्यायरूप परिणमन नहीं करते।

अरे! लोगों को यह बात समझ में नहीं आती। आचार्य कहते हैं कि ज्ञानावरणादि कर्म जीव में कुछ भी नहीं करते। विकार अपनी पर्याय में अपने कारण से होता है। वह पर्याय अपनी षट्कारक की परिणति से

होती है। कोई कहते हैं कि यदि विकार कर्म के निमित्त बिना होने लगे तो वह स्वभाव ही हो जायेगा। इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि भाई! विभावरूप होना भी जीव का पर्यायस्वभाव है। **स्वस्य भवनं स्वभावः** — अपनी शुद्ध-अशुद्धपर्यायरूप से जो परिणमन होता है, वह अपना स्वभाव है — यहाँ त्रिकाली स्वभाव की बात नहीं है, यह तो पर्यायस्वभाव की बात है। विभावरूप होना भी पर्याय का स्वभाव है।

प्रश्न :— क्या कर्म के बिना भी विकार होता है ?

उत्तर :— हाँ, निश्चय से तो विकार कर्म के बिना स्वयं से ही होता है। कर्म की पर्याय कर्म से होती है। जीवद्रव्य व पुद्गलद्रव्य — दोनों मिलकर एक पर्यायरूप परिणमन नहीं करते। जीव की पर्याय को जीव भी करे और पुद्गल भी करे — ऐसा नहीं होता। कलशटीकाकार पाण्डे राजमलजी ने कहा हैं कि जीवद्रव्य व पुद्गलद्रव्य भिन्न सत्तारूप हैं; वे यदि भिन्न सत्तापना छोड़कर एक सत्तारूप हों, तो उनमें कर्त्ता-कर्म-क्रियापना घटित हो और वे एकरूप होते नहीं हैं; इसकारण जीव-पुद्गल का परस्पर कर्त्ता-कर्म-क्रियापना घटित नहीं होता।

अशुद्धपरिणाम एकान्त (सर्वथा) स्वयं से होता है, कर्म से नहीं होता — इसका नाम अनेकान्त है। कर्म अपनी भिन्न सत्ता छोड़कर आत्मा में आ जावे तो वह अशुद्धपरिणाम को कर सकता है, परन्तु ऐसा कभी होता नहीं है। इसीतरह जीव अपनी सत्ता छोड़कर जड़कर्मरूप से परिणमे तो वह कर्मपरिणाम को कर सकता है, परन्तु अपनी सत्ता कोई द्रव्य त्रिकाल में कभी नहीं छोड़ता। अतः जीव एवं पुद्गल का परस्पर कर्त्ता-कर्म-क्रियापना घटित नहीं होता। पाण्डे राजमलजी ने कितना स्पष्ट किया है! पहले के विद्वानों ने बहुत सरस काम किया है। पण्डित बनारसीदासजी तो जन्मजात श्वेताम्बर थे, परन्तु जब दिगम्बरधर्म की बात सुनी तो ऐसा लगा कि अहो! धर्म तो यह ही सत्य है।

आचार्य यहाँ कहते हैं कि दो द्रव्यों की एक परिणति नहीं होती; क्योंकि अनेक द्रव्य सदा अनेक ही रहते हैं, वे पलटकर एक नहीं होते। कलशटीकाकार ने ५२वें कलश के भावार्थ में कहा है :— "ज्ञानावरणादि पुद्गलपिण्डरूप द्रव्यकर्म का कर्त्ता जीववस्तु है — ऐसा जानपना मिथ्याज्ञान है, क्योंकि एक सत्त्व में कर्त्ता-कर्मक्रिया उपचार से कहा जाता है। जो जीवद्रव्य व पुद्गलद्रव्य भिन्न सत्त्वरूप हैं. उनको कर्त्ता-कर्म-क्रिया कहाँ से घटेगा ?"

कर्मबन्धन की पर्याय का कर्त्ता आत्मा है व जीव की विकारी पर्याय के कर्त्ता जड़कर्म हैं – ऐसा जानना मिथ्याज्ञान है। जब एक सत्ता में भी कर्त्ता-कर्म का भेद उपचार से कहा गया है, तब परद्रव्य की सत्ता में आत्मा करे तथा आत्मा की सत्ता में परद्रव्य करे – यह तो त्रिकाल सम्भव नहीं है। कर्म से विकार होने की बात तो सर्वथा असत्य है, गलत है, असत्यार्थ है। अन्यमतवाले ईश्वर को कर्त्ता मानते हैं तथा जैन जड़कर्म को कर्त्ता मानते हैं तो दोनों की मान्यता में फर्क क्या रहा? यह सब समानरूप से अज्ञान ही है। यहाँ तो यह कहते हैं कि अनेक द्रव्य सदा अनेक ही रहते हैं। जीवद्रव्य व जड़द्रव्य, जो कि भिन्न-भिन्न अनेक हैं; वे सदा भिन्न ही रहते हैं, पलटकर एक नहीं हो जाते।

हम कार्यकर्त्ता हैं – ऐसा सब लोग कहते हैं, परन्तु भाई! तू पर का कार्य कभी कर ही नहीं सकता – यह यहाँ सिद्ध कर रहे हैं; फिर तू परद्रव्य का कार्य करनेवाला कार्यकर्त्ता कैसे हो सकता है।

"जो दो वस्तुएँ हैं, वे सर्वथा भिन्न ही हैं – प्रदेशभेदवाली ही हैं। दोनों एक होकर परिणमित नहीं होतीं, एक परिणाम को उत्पन्न नहीं करतीं और उनकी एक क्रिया नहीं होती – ऐसा नियम है।"

परवस्तु यदि आत्मा की सत्ता में प्रवेश करे तो आत्मा का कार्य कर सकती है, और इसीप्रकार यदि आत्मा भी स्वयं अपना अभाव करके दूसरे की सत्ता में प्रवेश करे तो ही पर की क्रिया कर सकता है; परन्तु ऐसा वस्तु का स्वरूप ही नहीं है। दो वस्तुएँ परस्पर सर्वथा भिन्न ही हैं। स्वद्रव्य व परद्रव्य के प्रदेश सर्वथा भिन्न-भिन्न ही हैं। आत्मा अपने असंख्य प्रदेश में है तथा परमाणु अपने एक प्रदेश में है। क्या किसी के प्रदेश में कोई प्रवेश पा सकता है? नहीं पा सकता, क्योंकि अपनी सत्ता में पर की सत्ता का अभाव है तथा पर की सत्ता में अपनी सत्ता का अभाव है। जो अभाव है, वह भाव को कैसे कर सकता है? भाई! यह तो न्याय से (तर्क से) समझने की बात है।

यह कारखाना चलता है – इसका काम आत्मा नहीं करता। आत्मा पर में जावे तो परवस्तु का कार्य करे, परन्तु ऐसा तो है नहीं। भाई! पर की अवस्था पर से होती है, आत्मा से नहीं। दूध अग्नि से उष्ण नहीं होता। यदि अग्नि अपनी सत्ता का नाश करके दूध में प्रवेश करे तो ही वह दूध की उष्ण अवस्था करे, परन्तु अग्नि अपनी सत्ता में रहती है तथा दूध अपनी सत्ता में रहता है; इसलिए दूध स्वयं से उष्ण हुआ है, अग्नि से नहीं।

प्रश्न :– दूध अग्नि से उष्ण होता हुआ प्रत्यक्ष दिखाई देता है न ?

उत्तर :– अरे ! तुम क्या देखते हो, तुम अग्नि को देखते हो या पानी की स्वयं की अवस्था को ? भाई ! अग्नि ने पानी में प्रवेश ही नहीं किया है। तेरी दृष्टि में फेर है। दो वस्तुएँ सर्वथा भिन्न हैं, दोनों में प्रदेशभेद है; इसलिए दोनों का मिलकर एक परिणाम नहीं होता (पानी स्वयं की उष्ण अवस्था को करता है तथा अग्नि भी पानी की उष्ण अवस्था को करती है – ऐसा नहीं है।) इसीतरह आत्मा व कर्म दोनों एक होकर परिणाम को उत्पन्न नहीं करते। अशुद्धपरिणाम को आत्मा भी करे व ज्ञानावरणादिकर्म भी करे – ऐसा तीन काल में कभी भी नहीं होता। जीव में जो विकार होता है, वह स्वयं से होता है, कर्म से नहीं।

५४वें कलश में कलशटीकाकार ने कहा है :– "यहाँ पर कोई मतान्तर निरूपण करेगा कि द्रव्य की अनन्त शक्तियाँ हैं, सो एक शक्ति ऐसी भी होगी कि एक द्रव्य दो द्रव्यों के परिणाम को करे। जैसे जीवद्रव्य अपने अशुद्ध चेतनारूप राग-द्वेष-मोह परिणाम को व्याप्य-व्यापकरूप से करे, वैसे ही ज्ञानावरणादि कर्मपिण्ड को भी व्याप्य-व्यापकरूप से करे – इसका उत्तर इसप्रकार दिया है कि द्रव्य में अनन्त शक्तियाँ हैं, पर ऐसी शक्ति तो कोई नहीं कि जिससे जैसे अपने गुण के साथ व्याप्य-व्यापकरूप है, वैसे ही परद्रव्य के गुण के साथ भी व्याप्य-व्यापकरूप होवे।"

प्रश्न :– तो क्या मनुष्य बोलता नहीं है ?

उत्तर :– अरे भाई ! यह बोलनेरूप भाषा तो जड़ की पर्याय है। पुद्गल व्याप्य-व्यापकरूप होकर भाषारूप परिणमन करता है, जीव उसमें व्याप्य-व्यापकरूप से नहीं है। अरे भगवान ! अपनी पर्याय स्वयंसिद्ध अपने से होती है और पर की पर्याय पर से होती है – ऐसा जिसे निर्णय नहीं है, उसे स्वतन्त्र आनन्दकन्द प्रभु आत्मा कर्म के उदय के सम्बन्ध से रहित है अर्थात् रागरहित है – यह कैसे जँचे ? द्रव्य के साथ निमित्त का सम्बन्ध नहीं है। पर्याय के साथ निमित्त का सम्बन्ध होता है; परन्तु द्रव्य तो उस पर्याय से भी भिन्न है।

ऐसी बात भाग्य बिना कान में नहीं पड़ती, यह तो दिव्यध्वनि में आई हुई परमसुख को प्राप्त करानेवाली बात है।

समय-समय अर्थात् प्रतिसमय जीव अपनी पर्याय से युक्त है तथा जड़ अपनी पर्याय से युक्त है अर्थात् आत्मा अपनी शुद्ध या अशुद्ध पर्याय से युक्त है तथा परपदार्थ अपनी शुद्ध या अशुद्ध पर्याय से युक्त है। यदि ऐसा है तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की पर्याय को कर दे – ऐसा कैसे हो सकता है ?

आजकल तो जैनी लोग भी ऐसा कहने लगे हैं कि कर्म करता है, कर्म से होता है; किन्तु पूजा की जयमाला में भी स्पष्ट लिखा है :-

कर्म बिचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई।
अग्नि सहै घनघात, लोह की संगति पाई ॥

जड़कर्म अपनी स्वयं की सत्ता में रहता है। वह मेरी (आत्मा की) सत्ता में आ जाये, तभी वह मेरी हानि कर सकता है; परन्तु वह (कर्म) मेरी (आत्मा की) सत्ता में कभी आता ही नहीं है। अहाहा! मेरी पर्याय को कर्म का उदय छूता भी नहीं है। एक की सत्ता को दूसरे की सत्ता स्पर्श भी नहीं करती। प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय से युक्त स्वयंसिद्ध वस्तु है। अरे भाई! ऐसा कौनसा समय है, जब द्रव्य अपनी अनन्त पर्यायों से संयुक्त नहीं होता? अर्थात् द्रव्य प्रतिसमय अनन्त पर्यायों से युक्त ही है। यह त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञदेव परमात्मा द्वारा देखी हुई बात है।

सन्तों को आगमचक्षु कहा है। यह आँख (चर्मचक्षु) तो जड़ है, सर्व अज्ञानी जीव इन्द्रियचक्षु हैं, भगवान केवली ज्ञानचक्षु हैं तथा छद्मस्थ ज्ञानी आगमचक्षु हैं। भाई! आत्मा इन्द्रियों से प्रत्यक्ष ज्ञात होने की वस्तु नहीं है।

यहाँ इस प्रकरण में द्रव्य से पर्याय की भिन्नता नहीं बताना है, बल्कि यहाँ तो यह कह रहे हैं कि द्रव्य की पर्याय द्रव्य स्वयं करता है, परनिमित्त नहीं। फिर भी निश्चयनय से तो पर्याय द्रव्य से भिन्न ही है। परमात्मप्रकाश की ६८वीं गाथा में स्पष्ट कहा है कि जीव बन्ध व मोक्ष पर्याय का कर्त्ता नहीं है, पर्याय पर्याय से – स्वयं से होती है।

अहाहा! जो ज्ञान की पर्याय द्रव्य को जाने, वह पर्याय द्रव्य में नहीं जाती तथा द्रव्य पर्याय में नहीं जाता। पर्याय लोकालोक को जानती है, परन्तु वह पर्याय लोकालोक में जाती नहीं है तथा लोकालोक भी ज्ञानपर्याय में प्रवेश नहीं करता – ऐसी ज्ञान की पर्याय स्वयं स्वयं से होती है। इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य की पर्याय स्वयं अपने से ही होती है।

इस प्रकरण में द्रव्य-पर्याय की भिन्नता की बात नहीं है, यहाँ तो मात्र यह सिद्ध करना है कि अपनी पर्याय में आत्मा ही व्याप्य-व्यापकपने से रहता है तथा जड़ की पर्याय में जड़द्रव्य ही व्याप्य-व्यापकपने से रहता है। यहाँ तो दो द्रव्यों के भेद की बात चल रही है। आत्मा अपने परिणाम को भी करे तथा पर के परिणाम को भी करे – ऐसा नहीं है।

विकारी पर्याय विकाररूप स्वयं से है, पर से नहीं। परवस्तु आत्मा की पर्याय को करे और आत्मा परवस्तु का कार्य करे – ऐसा जानना अज्ञान है।

ज्ञानावरणी कर्म के उदय से ज्ञान की पर्याय हीन नहीं होती; क्योंकि ज्ञानावरणी कर्म परद्रव्य है। ज्ञान की हीनदशा जीव में स्वयं में स्वयं से होती है। यहाँ सिद्धान्त कहते हैं कि यदि दो द्रव्य एक होकर परिणमे तो सर्वद्रव्यों का लोप जायेगा। विकारी पर्याय का सत्त्व स्वयं से है। यदि न हो तो एकसमय की पर्याय का लोप हो जाये, और द्रव्य का भी लोप हो जाये, द्रव्य की सिद्धि ही नहीं हो।

एकसमय की पर्याय चाहे वह मिथ्यात्व की हो, राग-द्वेष की हो या विषयवासना की हो; यदि ये सब जड़कर्म से हो तो इन पर्यायों की सत्ता पर से हुई मानी जायेगी। इसतरह पर्याय की सत्ता का ही लोप हो जायगा तथा पर्याय का लोप होने पर द्रव्य ही सिद्ध नहीं होगा, द्रव्य का ही लोप होने का प्रसंग प्राप्त होगा। यदि सभी द्रव्यों का लोप हो गया तो विश्व की व्यवस्था ही विघट जावेगी।

अरे भाई! तीनकाल की पर्यायों का पिण्ड तथा अनन्त गुणों का पिण्ड द्रव्य है, इसलिए अपनी पर्याय अपने से ही होती है, पर से नहीं – ऐसा सिद्ध होता है और यही यथार्थ है।

विकार एकसमय का सत् है। मिथ्यात्व उत्पन्न होता है, वह भी उससमय का सत् है। वह दर्शनमोहनीय कर्म से होता है – यदि ऐसा मानें तो पर्याय की स्वतंत्रता का नाश हो जायगा तथा द्रव्य का भी नाश हो जायगा; इसप्रकार सर्वद्रव्यों का लोप हो जायगा।

अब पुनः इस अर्थ को दृढ़ करते हैं :–

(आर्या)

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात्॥ ५४॥

श्लोकार्थ :– [एकस्य हि द्वौ कर्तारौ न स्तः] एक द्रव्य के दो कर्त्ता नहीं होते, [च] और [एकस्य द्वे कर्मणी न] एक द्रव्य के दो कर्म नहीं होते [च] तथा [एकस्य द्वे क्रिये न] एक द्रव्य की दो क्रियाएँ नहीं होतीं; [यतः] क्योंकि [एकम् अनेकं न स्यात्] एक द्रव्य अनेक द्रव्यरूप नहीं होता।

भावार्थ :– इसप्रकार उपरोक्त श्लोक में निश्चयनय से अथवा शुद्धद्रव्यार्थिकनय से वस्तुस्थिति का नियम कहा है।

कलश ५४ पर प्रवचन

इस कलश में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि एक द्रव्य के दो कर्त्ता नहीं होते अर्थात् एक द्रव्य की परिणति के दो कर्त्ता नहीं होते। द्रव्य की परिणति स्वयं वस्तु है तथा द्रव्य भी वस्तु है। द्रव्य की विकारी पर्याय भी वस्तु है; वह विकार अवस्तु नहीं है। पर्याय भी पर्यायरूप से वस्तु है। आत्मा की अशुद्धपरिणति आत्मा भी करे और जड़कर्म भी करे – इसप्रकार एक परिणति के दो कर्त्ता नहीं होते। भाषा की परिणति को भाषावर्गणा भी करे और जीव भी करे – ऐसा नहीं होता।

एक द्रव्य के दो कर्म नहीं होते। विकारी परिणाम भी जीव का कर्म तथा जड़कर्म भी जीव का कर्म – इसतरह एक द्रव्य के दो कर्म नहीं होते। जड़कर्म के उदयरूप जो पर्याय हुई, वह पुद्गल का कर्म तथा जीव में जो विकारी परिणाम हुआ, वह भी पुदगल का कर्म – इसप्रकार एक द्रव्य दो द्रव्यों का कार्य नहीं करता। अहो, आचार्यों ने कितनी स्पष्टता की है! जीव बोलने का राग भी करे तथा बोलने की क्रिया भी करे – इसप्रकार एक द्रव्य दो कार्य नहीं करता – यह सिद्धान्त है।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि विकार पर से होता है, स्वयं से नहीं; किन्तु ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं। लोगों को सत्य मिला ही नहीं, इसलिए उनको धर्म की प्राप्ति कैसे होगी? भाई! यह तो शूरवीरों का मार्ग है, कायरों का मार्ग नहीं। श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है :–

> वचनामृत वीतराग के, परमशान्तरसमूल।
> औषध जो भव-रोग की, कायर को प्रतिकूल॥

'विकार परद्रव्य कराता है; मेरे पुरुषार्थ के दोष से नहीं होता' – ऐसा जो मानते हैं, वे कायर हैं; क्योंकि उन्हें पुरुषार्थ ही जागृत नहीं होता, वे अज्ञानी कायर हैं। यहाँ कहते हैं कि एक द्रव्य के दो कर्म (कार्य) नहीं होते। जड़कर्म अपना उदयरूप परिणमन व जीव के विकाररूप परिणमन – ऐसे दोनों कार्य नहीं कर सकता। अरे प्रभु! तत्त्व को समझे बिना, वस्तुस्वरूप को जाने बिना मात्र 'जय भगवान, जय भगवान' करना मुक्ति का मार्ग नहीं है। भाई! यह बाहर की पण्डिताई का मार्ग नहीं है, यह तो वस्तु के स्वरूप की यथार्थ दृष्टि करने का मार्ग है। वास्तव में तो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष ही पण्डित है।

एक द्रव्य की दो क्रियायें नहीं होतीं। पूर्व की पर्याय पलटकर आत्मा विकाररूप भी हो तथा जड़कर्मरूप भी हो – इसप्रकार एक द्रव्य की दो क्रियाएँ नहीं होतीं, क्योंकि एक द्रव्य अनेक द्रव्यरूप नहीं होता। अपनी पर्याय परद्रव्यरूप नहीं होती तथा परद्रव्य की पर्याय अपनी पर्यायरूप नहीं होती अर्थात् जीवरूप नहीं होती। एक द्रव्य अनेक द्रव्य की परिणति नहीं करता।

प्रत्येक द्रव्य की पर्याय क्रमशः एक के पीछे एक नियम से जो होनी होती है, वही होती है। निर्विकारी पर्याय भी स्वयं से एक के बाद एक क्रमबद्ध जो होनी हो, वही होती है। समयसार के सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में (गाथा ३०८ से ३११ की टीका में) 'क्रमनियमित' शब्द आया है। एक द्रव्य की परिणति दूसरे द्रव्य की परिणतिरूप नहीं होती। दूसरे द्रव्य की परिणति अपने द्रव्यरूप नहीं होती।

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में ऐसा लिखा है कि जड़कर्म की कोई अचिन्त्यशक्ति है कि वह केवलज्ञान को रोकता है, किन्तु वह कथन 'पुद्गल का उत्कृष्ट परिणमन कैसा होता है' – यह बताने के लिए है। वहाँ उपकार का अर्थात् निमित्त का प्रकरण है, इसलिए जिसको केवलज्ञान नहीं है, उसे केवलज्ञानावरणी कर्म निमित्त है – यह बताने का प्रयोजन है।

कोई-कोई ऐसा भी कहते हैं कि विकार होने में पचास प्रतिशत (५०%) आत्मा का अपराध तथा पचास प्रतिशत (५०%) कर्म का अपराध है – परन्तु ऐसा भी नहीं है। आत्मा अपने विकार का शत-प्रतिशत कर्त्ता है, तथा इसमें निमित्त का किञ्चित् भी कर्तव्य नहीं है, आत्मा में कर्म ने एक प्रतिशत भी कुछ नहीं किया। आत्मा का शत-प्रतिशत कार्य आत्मा में होता है तथा निमित्त का कार्य शत-प्रतिशत निमित्त में होता है, क्योंकि उनका एक-दूसरे में अत्यन्ताभाव है तथा कर्म के उदय में जीव के विकारी परिणाम का अभाव है। एक का दूसरे में अभाव होवे तो ही वे भिन्न रह सकते हैं।

अहो! दिगम्बर आचार्यों ने अजब-गजब का काम किया है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कैसे-कैसे कलश बनाये हैं! लोगों को मनगढ़न्त अभिप्राय छोड़कर – 'शास्त्र क्या कहते हैं'? इस ओर अपनी दृष्टि डालनी चाहिए।

प्रश्न :– विकार कर्मजनित है – ऐसा कथन शास्त्र में अनेक स्थानों पर आता है, उसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर :– हाँ, आता है; परन्तु यह विभाव आत्मा का (चैतन्यमय) स्वभाव नहीं है तथा निमित्ताधीन होने पर होता है – इस अपेक्षा से इसको कर्मजनित कहा है। तथा स्वभावजनित नहीं है, इसलिए भी कर्मजनित कहा है; परन्तु कर्म पलटकर जीव के विकाररूप परिणमित नहीं हुआ है, क्योंकि एक द्रव्य अनेक द्रव्यरूप नहीं होता।

कलश ५४ के भावार्थ पर प्रवचन

'इसप्रकार उपरोक्त कलश में निश्चयनय से या शुद्धद्रव्यार्थिकनय से वस्तुस्थिति का नियम कहा।'

ज्ञानावरणी कर्म ज्ञान को रोकता है – यह तो व्यवहार का कथन है अर्थात् ऐसा है नहीं, परन्तु निमित्त का ज्ञान कराने के लिए ऐसा कहने में आता है। लोगों को ऐसा वस्तुस्वरूप का यथार्थ निर्णय करने की कहाँ फुरसत है? अरे! इस मनुष्यभव में यदि करने योग्य कुछ है तो मात्र यही (तत्त्वज्ञान ही) करने योग्य है। यदि तत्त्व का यथार्थ निर्णय नहीं किया तो भाई! यहाँ से देह छूटने पर कहाँ जायेगा? चौरासी के चक्कर में उलझ जायेगा। भाई! एक वार भूतार्थ दृष्टि से मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्व प्रगट कर ले – यही करने योग्य है।

अरे भाई! मेरी पर्याय को पर करता है और पर की पर्याय मैं करता हूँ – यह तेरी मान्यता महामिथ्यात्वयुक्त है। शुद्धद्रव्यार्थिकनय से अर्थात् निश्चय से यह वस्तुस्थिति कही अर्थात् व्यवहार से इससे भिन्न दूसरा कथन है – यह बात स्वमेव आ ही गई। जो निश्चय से कहा, वही सत्यार्थ है – ऐसा निर्णय करना तथा जो व्यवहार से कहा हो, उसे ऐसा समझना कि ऐसा है नहीं, निमित्त का ज्ञान कराने के लिए ऐसा कहा है। ज्ञानावरणी कर्म ज्ञान को रोकता है – ऐसी कथनशैली है। कथन दो प्रकार से होता है, वस्तु तो एक ही है। व्यवहार के कथन को जैसा लिखा वैसा ही माननेवाला मिथ्यादृष्टि है।

मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अधिकार में कहा है कि 'व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य को, उनके भावों को व कारण-कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है, सो ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है।' तथा वहाँ यह भी कहा है कि सच्चा निरूपण सो निश्चय तथा उपचार निरूपण सो व्यवहार। इसलिए निरूपण की अपेक्षा से व्यवहार मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग कहा जाता है, परन्तु ऐसा है नहीं। (वास्तव में व्यवहार मोक्षमार्ग सच्चा मोक्षमार्ग नहीं है।) मोक्षमार्ग दो मानना मिथ्या है।

निश्चय व व्यवहार दोनों को उपादेय माने तो यह मान्यता मिथ्यात्व है। निश्चय व व्यवहार का स्वरूप तो परस्पर विरुद्ध है। व्यवहार अभूतार्थ है, सत्यस्वरूप का निरूपण नहीं करता, किन्तु किसी अपेक्षा से निरूपण करता है।

शुद्धनय भूतार्थ है और जैसी वस्तु है; वैसा निरूपण करता है। आचार्यकल्प पण्डित श्री टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में शास्त्रों के रहस्य खोलकर भर दिये हैं। यहाँ कहते हैं कि शुद्धद्रव्यार्थिकनय से वस्तु-स्थिति का नियम कहा है। जो इससे विरुद्ध है, वह अनियम है। जिसे सम्यग्दर्शन होता है, वह स्वाश्रय से — निश्चय से होता है; पर से — व्यवहार से नहीं होता — यह नियम है, सिद्धान्त है।

आत्मा को अनादि से परद्रव्य के कर्त्ता-कर्मपने का अज्ञान है। यदि वह परमार्थनय के ग्रहण से एकबार भी विलय को प्राप्त हो जाये तो फिर न आये — ऐसा अब कहते हैं:—

(शार्दूलविक्रीड़ित)

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकै-
र्दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहंकाररूपं तमः।
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं व्रजेत्
तत्किं ज्ञानघनस्य बन्धनमहो भूयो भवेदात्मनः ॥५५॥

श्लोकार्थः—[इह] इस जगत् में मोही [मोहिनाम्] (अज्ञानी) जीवों का [परं अहम् कुर्वे] 'परद्रव्य को मैं करता हूँ' [इति महाहंकार-रूपं तमः] ऐसा परद्रव्य के कर्तृत्व का महा-अहंकाररूप अज्ञानान्धकार, [ननु उच्चकैः दुर्वारं] जो अत्यन्त दुर्निवार है, वह [आसंसारतः एव धावति] अनादि संसार से चला आ रहा है। आचार्य कहते हैं कि [अहो] अहो! [भूतार्थपरिग्रहेण] परमार्थनय का अर्थात् शुद्धद्रव्यार्थिक अभेदनय का ग्रहण करने से [यदि] यदि [तत् एकवारं विलयं व्रजेत्] वह एक बार भी नाश को प्राप्त हो [तत्] तो [ज्ञानघनस्य आत्मनः] ज्ञानघन आत्मा को [भूयः] पुनः [बन्धनम् किं भवेत्] बन्धन कैसे हो सकता है? (जीव ज्ञानघन है, इसलिये यथार्थ ज्ञान होने के बाद ज्ञान कहाँ जा सकता है? और जब ज्ञान नहीं जाता, तब फिर अज्ञान से बन्ध कैसे हो सकता है?)

भावार्थ:— यहाँ तात्पर्य यह है कि अज्ञान तो अनादि से ही है, परन्तु परमार्थनय के ग्रहण से, दर्शनमोह का नाश होकर, एक यथार्थ ज्ञान होकर

क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न हो तो पुनः मिथ्यात्व न आये। मिथ्यात्व के न आने से मिथ्यात्व का बन्ध भी न हो और मिथ्यात्व के जाने के बाद संसार का बन्धन कैसे रह सकता है ? नहीं रह सकता, अर्थात् मोक्ष ही होता है – ऐसा जानना चाहिए।

कलश ५५ पर प्रवचन

इस जगत में मोही जीवों को अनादि से ऐसा अहंकार है कि 'मैं देश की सेवा करता हूँ, पर की दया पालता हूँ, पर को सुखी करता हूँ, पर को मार सकता हूँ या बचा सकता हूँ, इत्यादि।' इसप्रकार अज्ञानी जीवों को अनेक प्रकार से परद्रव्य के प्रति कर्तृत्व का अहंकार है, किन्तु यह अज्ञान भाव है। कुम्हार कहता है कि घड़े की पर्याय का कर्त्ता मैं हूँ। महिला कहती है कि दाल-भात-रोटी आदि रसोई मैंने बनाई। मुनीम कहता है कि सुन्दर अक्षरों में रोकड़ा खाता मैंने लिखा। सेठ कहता है कि व्यापार मैं करता हूँ। इसप्रकार परद्रव्य की क्रिया का कर्त्ता स्वयं को मानता है, परन्तु ये सब अहंकाररूप अज्ञान-अन्धकार में डूबे हुए मिथ्यादृष्टि जीव हैं।

जिनागम का यह सिद्धान्त श्री सीमन्धर भगवान ने धर्मसभा (समवशरण) में कहा है, तथा वही बात श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने यहाँ लिखी है। अज्ञानी मानता है कि मैं परद्रव्य को करता हूँ, परन्तु परद्रव्य को कौन करे ? परद्रव्य का अर्थ यहाँ परद्रव्य की पर्याय करना चाहिए। अहाहा ! शरीर, मन, वाणी, इन्द्रियाँ, कर्म इत्यादि परद्रव्य की क्रिया को मैं करता हूँ – ऐसा माननेवाला अहंकारी, अज्ञानी एवं मिथ्यादृष्टि है। 'मैं दूसरों को सुन्दर वक्तव्य द्वारा समझा सकता हूँ' – ऐसा अज्ञानी मानता है। अरे ! दूसरों को कौन समझा सकता है ? भाई ! भाषा तो जड़ है। जड़ का परिणमन जड़ के कारण होता है। जो जीभ, होंठ आदि हिलते हैं; वे भी अपने काल में हिलते हैं, आत्मा के विकल्प के कारण भी नहीं हिलते। भाषा शब्दों का विकार (परिणमन) है, वह अपने कारण स्वयं भाषारूप होती है। समझने वाले भी अपनी योग्यता से समझते हैं। – ऐसा ही वस्तुस्वरूप है।

ये जो बड़े-बड़े कारखाने चलते हैं, वे भी अपनी तत्समय की योग्यता प्रमाण – जिससमय जिन परमाणुओं की जिसरूप से परिणमन की योग्यता होती है, उसीसमय वे ही परमाणु उसीरूप से परिणमन करते हैं। वहाँ दूसरा कोई (उद्योगपति आदि) ऐसा कहे कि मुझसे कारखाना चलता है तो वह परद्रव्य के कर्तृत्व के अहंकाररस से भरा अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है।

अहाहा...! जगत में मोही अज्ञानी जीवों को परद्रव्य के कर्तृत्व का महा-अन्धकार है, अज्ञान है। ऐसा दुर्निवार अज्ञानभाव उन्हें अनादि संसार से ही है, इसलिये यद्यपि उसे टालना वहुत कठिन है; तथापि असम्भव नहीं है, सम्यक् पुरुषार्थ से टाला जा सकता है।

अब आचार्य कहते हैं कि अहो! परमार्थनय अर्थात् शुद्धद्रव्यार्थिक-अभेदनय के विषयभूत आत्मतत्त्व का आश्रय ग्रहण करने से यदि वह मोह एक बार भी नष्ट हो जावे तो ज्ञानघन आत्मा को फिर से बन्धन कैसे हो? जीव ज्ञानघन है, इसलिए उसका यथार्थज्ञान होने के बाद ज्ञान स्थायी रहता है, नष्ट नहीं होता और जब ज्ञान नष्ट नहीं होता तो फिर अज्ञान-जनित बन्ध कैसे हो सकता है? कभी भी नहीं हो सकता।

'मैं परद्रव्यों की क्रिया को करता हूँ'—ऐसा अज्ञान मोही जीवों को अनादि संसार से चला आ रहा है। संसार अर्थात् द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भावरूप पंचपरावर्तन इस जीव को अनादि से है, जीव को रागादि शुभाशुभभावों का परावर्तन अनादि से चला आ रहा है; परन्तु यह सब अज्ञानभाव है, जो अत्यन्त दुर्निवार है। राग को घटाकर मन्दरागरूप या शुभरागरूप से परिणमन करना तो सरल बात है तथा ऐसा शुभभाव इस जीव ने अनन्तबार किया भी है, परन्तु सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए शुभराग कोई उपयोगी वस्तु नहीं है। भाई! यहाँ तो धर्म को प्राप्त करने की बात है। अहो! शुद्धद्रव्यार्थिक-अभेदनय के ग्रहण करने से यदि वह मोहभाव एकबार भी नष्ट हो जाय तो ज्ञानघन आत्मा को पुनः बन्धन नहीं होगा, कभी नहीं होगा।

भूतार्थ का अर्थ है—त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकभावरूप शुद्ध चैतन्यमय वस्तु इस भूतार्थ वस्तु का समस्त प्रकार से यदि एक बार भी अनुभव करे तो मिथ्यात्व का नाश हो जाता है। समयसार की ११वीं गाथा जैनशासन की प्राण है, उसमें भी कहा है "भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो"—भूतार्थ अर्थात् त्रिकाली शुद्धज्ञायकवस्तु का आश्रय करने से निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। अहाहा...! पूर्णानन्द के नाथ भगवान स्वयं ज्योति सुखधाम पर्यायरहित त्रैकालिक ध्रुवस्वभावी निज आत्मा का आश्रय करने पर पर्याय में उसका अनुभव होता है, वह अनुभव ही सम्यग्दर्शन है और वह सम्यग्दर्शन ही धर्म की प्रथम सीढ़ी है। उसके सिवाय दूसरे सब क्रिया के विकल्प निरर्थक हैं, झूठे हैं।

पण्डित जयचन्दजी ने 'भूतार्थपरिग्रहेण' का अर्थ परमार्थनय किया है। भूतार्थ अर्थात् परमार्थ। पर+मा+अर्थ। परा=उत्कृष्ट, मा=लक्ष्मी,

अर्थ=पदार्थ – इसप्रकार परमार्थ का अर्थ हुआ। अहाहा! ....भूतार्थ अर्थात् त्रिकाल सत्तावान् (हैयातीवाला) पदार्थ भगवान आत्मा को यहाँ उत्कृष्ट लक्ष्मीवन्त पदार्थ अर्थात् परमार्थ कहा है। लौकिक में परमार्थ का अर्थ बिल्कुल भिन्न है। जगतजन परोपकार को परमार्थ कहते हैं। लौकिक में पर का थोडा भी भला करे, उसे परमार्थ कहते हैं; किन्तु यहाँ तो पर में कुछ भी करने के भाव को अज्ञान कहा है। 'मैं दान देता हूँ, आहार देता हूँ, वस्त्र देता हूँ, दूसरों को सुखी करता हूँ' – इसप्रकार पर की क्रिया करने का भाव अहंकार है और मिथ्यात्व है, परमार्थ नहीं है। उत्कृष्ट लक्ष्मीवन्त ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा ही वास्तव में परमार्थ है, भूतार्थ है।

भगवान त्रिलोकीनाथ भूतार्थ पदार्थ है। प्रभु! यह अलौकिक वस्तु है। भूतार्थ अर्थात् सत्वस्तु। उत्पाद-व्यय रहित त्रिकाली एकरूप वस्तु को यहाँ भूतार्थ कहा है। यहाँ 'भूतार्थपरिग्रहेण' – ऐसा जो कहा है, उसके लिए चार शब्द कहे हैं – (१) भूतार्थनय, (२) परमार्थनय, (३) शुद्धद्रव्य के अनुभव का जिसमें प्रयोजन है – ऐसा शुद्धद्रव्यार्थिकनय, (४) अभेदनय।

अहाहा! अभेद एकरूप त्रिकाली नित्यानन्द ज्ञानानन्दस्वरूप सदृश-स्वभाव प्रभु प्रत्येक पर्याय में अन्वयरूप रहता है, उस सदा एकरूप वस्तु को यहाँ अभेदनय कहा है।

पर्यायबुद्धि छोड़कर त्रिकाली सत् पदार्थ का अनुभव करने के लिए यहाँ कहा गया है, क्योंकि परामर्थरूप भूतार्थ का अनुभव करने से सम्यग्दर्शन होता है। अरे भाई! इस पंचपरावर्तनरूप संसार में शुभाशुभभावरूप परावर्तन तू अनन्तबार कर चुका है। शुभाशुभभाव तो तू अनादिकाल से करता आया है, तथा 'मैंने शुभभाव किया' – ऐसे अहंकाररूप से ही तू अब तक परिणमा है। अरे भगवान! तेरे अन्दर पंचपरावर्तन के भाव से भिन्न शुद्धज्ञायकभावरूप तेरी वस्तु विद्यमान है, उसका आश्रय कर! क्योंकि उससे ही सम्यग्दर्शन होता है।

भगवान वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है। जगतजन तो अनादिकाल से बाह्य शुभभाव व परद्रव्य की क्रिया में ही अहंकार कर रहे हैं। अपनी त्रिकाली शुद्धवस्तु एक ओर ही पड़ी रह गई है। 'मैं त्रिकाली शुद्ध भगवान आत्मा हूँ' – ऐसा जो अनुभव करना था, वह यों ही रह गया है।

१७-१८वीं गाथा में तो स्पष्ट आ चुका है कि भगवान आत्मा एक समय में पूर्णानन्द प्रभु बाल-गोपाल सबके अन्दर में विराजता है। बाल-गोपाल तो देह की अवस्था है, परन्तु अन्दर ज्ञायक प्रभु त्रिकाल सत् पदार्थ

विराजता है, वह ज्ञान की स्व-परप्रकाशक पर्याय से जानने में आता है, परन्तु अज्ञानी की वहाँ दृष्टि नहीं है; इसकारण वह उसे अपना नहीं मानता। अज्ञानी को अनादि से राग का – शुभाशुभभाव का ही परिग्रहण है। यहाँ कहते हैं कि भाई! राग का ग्रहण तो अनन्त बार किया, परन्तु वह तो अभूतार्थ वस्तु है। भगवान आत्मा ही एक भूतार्थ है। इसी भूतार्थ के ग्रहण से – आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।

चौथी गाथा में कहा है कि राग की कथा, बन्धन की कथा तो इस जीव ने अनन्त बार सुनी है, उसी का परिचय व अनुभव भी अनादि संसार से चला आ रहा है। अतः आचार्य यहाँ कहते हैं कि भगवन्! एकबार तो गुलाँट खा! प्रभु, एक बार तो दृष्टि पलट!! भूतार्थ का आश्रय लेकर उसी का अनुभव कर! ज्ञान की पर्याय में भूतार्थ का अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन है और वही भूतार्थनय है। अरे भाई! यह मनुष्यपना मिला और यदि तूने भगवान आत्मा का पक्का निर्णय व अनुभव नहीं किया तो जीवन यों ही विषय-कषाय में व्यर्थ ही चला जायेगा। जैसी अपनी वस्तु है, उसका अनुसरण करके उसी का अनुभव करना योग्य है।

कोई-कोई ऐसा भी कहते हैं कि जो दिगम्बर धर्म में उत्पन्न हुए हैं, उन्हें सम्यग्दर्शन तो है ही, भेदज्ञान (सम्यग्ज्ञान) तो है ही, अब तो व्रत धारण कर लें तो चारित्र भी हो जायेगा; परन्तु उनका यह कहना बिल्कुल ठीक नहीं है। दिगम्बर कुल में जन्म लेने मात्र से सम्यग्दर्शन नहीं हो जाता। लोगों को निश्चय-सम्यग्दर्शन की खबर नहीं है तथा बाहर की तत्त्वार्थश्रद्धा या व्यवहार-श्रद्धा के रागभाव को ही धर्म मानते हैं, किन्तु जिनागम में ऐसा कोई मुक्तिमार्ग नहीं है। भाई! उल्टी मान्यता में तो आत्मा की दुर्दशा ही है। जहाँ पूर्णानन्द के नाथ भगवान आत्मा का अनुभव नहीं है; वहाँ जो भी क्रियाकाण्ड है, वह सब अज्ञानभाव है, संसारभाव है। वह जीव बाहर से उपवास आदि करता है, किन्तु वह सब भी बालतप है। ऐसी क्रिया तो जीव ने अनन्त बार की, किन्तु मिथ्यात्व नहीं टला तो क्या किया? यह बात कठोर लगती है, परन्तु क्या करें? आचार्यदेव कहते हैं कि तू एकबार भूतार्थ पदार्थ जो तेरी त्रिकाली परमार्थ ध्रुववस्तु है, उसका अनुभव कर!

कलशटीका में आता है कि पठन-पाठन, पंचपरमेष्ठी का स्मरण, चिन्तन, स्तुति इत्यादि तो जीव ने अनन्त बार किये हैं। बेचारे लोगों को – गहरा तत्त्वाभ्यास तो है नहीं, ऊपर-ऊपर से थोड़ा सुन लेते हैं, निर्णय कुछ करते नहीं, दिन-रात व्यापार-धन्धा अशुभभाव में ही व्यर्थ समय नष्ट करते रहते हैं; परन्तु इसके फल में वे कहाँ जायेंगे? इसका कुछ

विचार नहीं । जितना समय और शक्ति व्यापार-धन्धे में लगाते हैं, उससे कहीं अधिक समय, शक्ति और पुरुषार्थ तत्त्वाभ्यास में लगाना पड़ेगा; अन्यथा अनन्त संसार में ही रुलना पड़ेगा।

यदि दृष्टि गुलाँट खा जावे, पलट जावे तो क्षण भर में भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है। आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी ने ३४वें कलश में कहा है कि एक बार लगन लगाकर छह मास अभ्यास करके देख तो सही; तुझे तत्त्व की उपलब्धि अवश्य होगी, किन्तु सतत अभ्यास करना पड़ेगा। जैसे माता की अँगुली छूट जाने से बिछुड़ा हुआ छोटा बालक निरन्तर माँ का ही स्मरण करता है; उससे कोई कुछ भी पूछे कि तेरा नाम क्या है, गाँव कौनसा है, घर कहाँ है, पिता कौन है? इसप्रकार कोई कितने ही प्रश्न करे, किन्तु उसके पास उन सभी प्रश्नों का एक ही उत्तर होता है कि – मेरी माँ कहाँ है? मुझे मेरी माँ से मिला दो, माँ⋯माँ⋯माँ! माँ के सिवाय वह अन्य कुछ बोलता ही नहीं है। जैसे माँ के विरह में बालक सिर्फ माँ का ही निरन्तर चिन्तवन करता है; उसी तरह प्रभु! तुझे अनन्त काल से आत्मा का विरह है, अतः तुझे भी आत्मा⋯ आत्मा⋯ आत्मा – ऐसा आत्मा का ही निरन्तर स्मरण आना चाहिए, उसी का निरन्तर चिन्तवन होना चाहिए। यदि आत्मा का ऐसा चिन्तवन नहीं हुआ, उसके समीप जाने की चेष्टा नहीं की गई तो जीवन व्यर्थ ही चला जायगा। भाई! दुनियादारी के सभी काम छोड़कर यही एकमात्र करने लायक है। स्तुति, वन्दना वगैरह बाहरी क्रियाओं को तो विषकुम्भ कहा गया है, क्योंकि अमृतस्वरूप भगवान आत्मा से वे विरुद्धभाव हैं; इसलिए इस जहर को छोड़कर तेरी आत्मा (वस्तु) जो अमृतरूप है, वहाँ जा!

शास्त्र में आता है कि जिसके दर्शन व ज्ञान में आत्मा समीप है और राग दूर है – वही ज्ञानी है। अज्ञानी के राग समीप है और आत्मा दूर है। परमात्मप्रकाश के ३६वें दोहे में आता है कि जिसको राग की रुचि है – ऐसे अज्ञानी को आत्मा हेय है। तथा ज्ञानी को राग हेय है व त्रिकाली शुद्धभूतार्थवस्तु उपादेय है। अरे भगवन्! तेरी बलिहारी है, किन्तु तुझे अपने स्वभाव के सामर्थ्य की खबर ही नहीं है। ये बाहर की लक्ष्मी, इज्जत-प्रतिष्ठा, विषय-वासना वगैरह के प्रति रागादिभाव तो पापभाव हैं; तथा पठन-पाठन, स्तुति, भक्ति वगैरह का जो शुभभाव आता है, उसे भी भगवान विषकुम्भ कहते हैं। इस जहर से आत्मारूपी अमृत की प्राप्ति नहीं होती है। भगवान वीतराग का तो यही मार्ग है, किन्तु लोगों ने इसे विकृत कर दिया है।

समयसारकलश के १८९वें कलश में कहा है— 'यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं' अर्थात् शुभक्रियारूप विकल्प विष हैं। तथा अन्दर जो आनन्द का कन्द भगवान आत्मा विराजता है, उस एक का ही अनुभव अमृत है, वही सम्यग्दर्शन है, धर्म है। आठ वर्ष की बालिका भी जो सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेती है, वह भी अन्दर एक भूतार्थ भगवान आत्मा का अनुभव करके ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करती है। उसकी यही एकमात्र रीति है।

सुमेरूपर्वत से ऊपर प्रथम सौधर्म नाम का स्वर्ग है। उसमें ३२ लाख विमान हैं, एक-एक विमान में असंख्य देव हैं। उस स्वर्ग का स्वामी इन्द्र एक भव धारण करके मोक्ष जायगा। स्वर्ग से चयकर मनुष्य देह पाकर केवलज्ञान प्रगट करेगा। उसकी इन्द्राणी जन्मकाल में तो मिथ्यादृष्टि थी, क्योंकि सम्यग्दृष्टि स्त्रीपर्याय में जन्म नहीं लेते। उत्पत्ति के समय इन्द्राणी मिथ्यात्वसहित ही उत्पन्न होती है, पश्चात् सम्यग्दर्शन प्रगट कर लेती है। वह इन्द्राणी भी एक भव धारण करके मोक्ष प्राप्त करेगी। अन्यमत में मल्लिनाथ भगवान को स्त्रीपर्यायवाली मल्लिकुमारी माना जाता है, जो सर्वथा असत्य मान्यता है। स्त्रीपर्याय से मोक्ष मानना ही कल्पित है।

अहा! एक तो जिस सम्प्रदाय में जो है, उसमें से निकलना ही बड़ा मुश्किल होता है। कदाचित् निकल भी जावे तो शुभ में ही कहीं भटक जाता है; इसलिये यहाँ प्रेरणा देते हैं कि भूतार्थ शुद्धचिद्रूप एकरूप वस्तु को एक बार ग्रहण तो कर। भाई! त्रिकाली शुद्ध ध्रुव एकरूप वस्तु के अनुभव बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। क्रियाकाण्ड के विकल्प करे, बाहर से मुनिपना ले; तथापि भूतार्थ के अनुभव बिना सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता और सम्यग्दर्शन बिना धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।

यद्यपि दिगम्बर जैनों द्वारा आराध्य वीतरागी देव, नग्न दिगम्बर गुरु एवं अनेकान्तमयी शास्त्र ही पूर्ण सत्य हैं; तथापि अधिकांश दिगम्बरों को यथार्थ वस्तुस्वरूप की खबर नहीं है। उनसे यहाँ कहते हैं कि भाई! सर्व विकल्पों को छोड़कर एक बार त्रिकाल सच्चिदानन्द भगवान आत्मा का निर्णय एवं अनुभव तो करो। निर्मलानन्द का नाथ त्रिकाली शुद्ध चिदानन्द प्रभु भगवान आत्मा अन्दर विराजता है, उसके अनुभव से सम्यग्दर्शन होता है। इसके अतिरिक्त बाहर से देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा करना या नवतत्त्वों के भेद की श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन नहीं है।

कलशटीका के छठवें कलश में कहा है— **'इमां नवतत्त्वसन्तति मुक्त्वा'** अर्थात् जीव-अजीव-आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्ष-पुण्य-पाप के

अनादि-सम्बन्ध को छोड़कर, हे जीव ! तुम अपने स्वरूप के अनुभवशीली होओ। भावार्थ इसप्रकार है कि संसार-अवस्था में जीवद्रव्य जो नवतत्त्वरूप परिणमा है, वह तो विभाव परिणति है, इसकारण नवतत्त्वरूप वस्तु का अनुभव मिथ्यात्व है (नवतत्त्व के भेदवाली दृष्टि मिथ्यात्व है)।

मोक्षशास्त्र के **'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'** – इस सूत्र में एकवचन का प्रयोग है, वहाँ अभेद की बात है। भूतार्थ का ग्रहण करने से नवतत्त्व की पर्याय का ज्ञान यथार्थ होता है अथवा भूतार्थ की श्रद्धा करने से यह त्रिकाली वस्तु भूतार्थ है तथा इसमें संवर आदि नवतत्त्व नहीं हैं – ऐसा जो यथार्थ श्रद्धान व ज्ञान हो जाता है, वही सम्यग्दर्शन है।

अहो ! भूतार्थनय, परमार्थनय अथवा शुद्धद्रव्यार्थिक-अभेदनय के ग्रहण करने से जो अज्ञानभाव एक बार भी नष्ट हो जावे तो ज्ञानघन आत्मा को पुनः बन्ध कैसे हो ? एक बार भी दृष्टि स्वसन्मुखता को प्राप्त हो जाय, अन्तर्दृष्टि हो जाय तो फिर उसका नाश नहीं होता। द्रव्य का नाश होवे तो दृष्टि की पर्याय का नाश हो सकता है; परन्तु द्रव्य तो त्रिकाल ज्ञानघन सदा मौजूद है, इसकारण उसका अनुभव करनेवाली दृष्टि का भी नाश नहीं होता। कितनी जोरदार दृढ़ता की बात की है ! सम्यग्दर्शन छूट जाता है – यह बात यहाँ नहीं कही, यह तो वीर्यवानों की बातें हैं न ! कायरों का यहाँ क्या काम ? कहा भी है –

'जे मार्गे सिंह संचर्या, तरण लागी रज।
ए उभा खड़ सूकशे, नहिं चरशे हरण ॥' (गुजराती)

सम्यग्दृष्टि सिंह जिस मार्ग में विचरण करते हों, वहाँ हिरण जैसे भयभीत मिथ्यादृष्टि प्राणी कैसे विचर सकते हैं ? 'यह एकान्त है' – ऐसी भय व शंका जिसको होती है, वे कायर पुरुष इसे स्वीकार नहीं कर सकते। बापू ! यह वीतराग की वाणी जिन्हें सुनने को मिले, वे बड़े भाग्यशाली हैं। अरे धीर-वीरों को ही यह वाणी पच सकती है।

यहाँ कहते हैं कि भूतार्थ का अनुभव करने पर एक वार मिथ्यात्व का नाश हो तो ज्ञानघन आत्मा को पुनः बन्ध कैसे हो सकता है ? अहो ! ऐसे अप्रतिहत सम्यग्दर्शन की यहाँ बात है। यद्यपि आचार्यदेव छद्मस्थदशा में हैं, तथापि बहुत जोरदार ऊँची वात करते हैं। अमृतचन्द्राचार्य ने एक हजार वर्ष पूर्व यह बात कही है। यद्यपि यह पंचमकाल के मुनियों का कथन है, किन्तु आत्मा को पंचमकाल से क्या सम्बन्ध है ? एक तो भूतार्थ के परिग्रहण की वात की है तथा दूसरी यह बात की है कि एक बार मिथ्यात्व का नाश

होने पर मोह पुनः उत्पन्न ही नहीं होता, तथा बन्धन भी नहीं होता। चारित्र के दोष का थोड़ा-सा बन्धन होता है, परन्तु वह मुख्य नहीं है। अल्पस्थितिवाला अनुभाग वहाँ पड़ता है, उसे बन्ध में नहीं गिना गया है।

प्रभु ! तू ऐसा ज्ञानघन आत्मा है कि जिसमें उदयभाव का प्रवेश नहीं होता। उसका एक बार यथार्थज्ञान होने के बाद वह ज्ञान कहीं नहीं जा सकता; तथा जब ज्ञान ही कहीं नहीं जाता तो अज्ञान से बन्ध कैसे हो सकता है ? कदापि नहीं हो सकता। अहाहा ! जो अप्रतिहत क्षयोपशम सम्यग्दर्शन है, वह क्षायिक सम्यग्दर्शन के साथ जुड़ जाता है। यहाँ गिरने की बात नहीं की। जो चढ़ गया, वह गिरे कैसे ? जो भगवान चिदानन्द पर आरुढ़ हो गया, वह गिरे कैसे ? अरे ! यह तो वीरों का वीरपन्थ है, यहाँ कायरों का काम नहीं है। 'कोई गिर जाये तो ?' —ऐसी आशंका को यहाँ स्थान ही नहीं है।

मीराबाई के नाटक में एक वैराग्य का दृश्य आता है। वहाँ राणा कहता है कि मीरा ! तू मेरे राज्य में आ जा, मैं तुझे पटरानी बनाऊँगा। तब उत्तर में मीरा कहती है :—

"परणी मेरी पियाजी के साथ, दूजे को कंगन नहीं बाँधूं रे।"

अहा ! ऐसा दृश्य देखकर वैराग्य की धुन चढ़ जाती है। इसी तरह धर्मी जीव कहता है :—

"हमारी रुचि में है आतमदेव, दूजे में हमको रुचि नहीं।"

हमने भगवान आत्मा की प्रतीति की है, अतः अब हमें दूसरे किसी से प्रीति नहीं है।

सीताजी का अपहरण करके रावण उन्हें लंका में ले गया था। वहाँ जब वह अशोकवाटिका में सीताजी को मनाने के लिये गया, तब सीताजी रावण से कहती हैं कि रामचन्द्र के सिवाय स्वप्न में भी मेरा दूसरा पति नहीं हो सकता। हे रावण ! दूर ही खड़े रहना, अन्यथा सती के मुख में से निकले हुए वचन तुझे भस्म कर देंगे। मैं तो पतिव्रता स्त्री हूँ। मुझे दूसरे का लक्ष्य स्वप्न में भी नहीं है। इसीतरह यहाँ धर्मी कहता है कि हमको एक बार भेदज्ञान हुआ है; अब हमको नीचे गिरना नहीं है, पुनः बन्धन में नहीं पड़ना है। अहाहा ! जगत को उपदेश देते हुए आचार्यदेव कितने जोर से बात करते हैं। एक बार सम्यग्ज्ञान प्रगट होने के बाद अज्ञान कैसे आ सकता है ? और जब अज्ञान नहीं आता तो बन्ध भी कहाँ से हो ?

कलश ५५ के भावार्थ पर प्रवचन

"यहाँ तात्पर्य यह है कि अज्ञान तो अनादि से ही है, परन्तु परमार्थनय के ग्रहण से दर्शनमोह का नाश होकर, एक बार यथार्थ ज्ञान होकर क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न हो तो पुनः मिथ्यात्व न आये। मिथ्यात्व के न आने से मिथ्यात्व का बन्ध भी न हो और मिथ्यात्व के जाने के बाद संसार का बन्ध कैसे रह सकता है ? नहीं रह सकता अर्थात् मोक्ष ही होता है – ऐसा जानना चाहिये।"

अपने त्रिकाली स्वभाव को भूलकर राग व परवस्तु मेरी है और मैं उनका कर्त्ता हूँ – ऐसा मोहरूपी अज्ञान अनादि का है। वैसे तो पर्याय होने से अज्ञान एक-एक समय का ही है; परन्तु पहले समय में पहला, दूसरे समय में दूसरा, तीसरे समय में तीसरा – इसप्रकार परम्परा से प्रवाह-अपेक्षा से अनादि का कहा है। अज्ञान की पर्याय का प्रवाह अनादिकाल से है, अतः अज्ञान अनादि का कहा है। इसप्रकार पर्यायमात्र को ही ग्रहण करना, उसी का आश्रय करना पर्यायबुद्धि है। इस पर्यायबुद्धि का त्याग कर त्रिकाली शुद्ध आत्मद्रव्य का ग्रहण करना जैनधर्म है। जैनधर्म तो पर्याय है, परन्तु उसकी दृष्टि द्रव्य पर है तथा उसे परमार्थनय का ग्रहण है। यहाँ भावार्थ में 'परमार्थनय का ग्रहण' – यह एक ही शब्द लिया है; जबकि श्लोकार्थ में भूतार्थयन, परमार्थनय, शुद्धद्रव्यार्थिकनय व अभेदनय का ग्रहण – ऐसे चार बोल लिये थे, उन चारों का एक ही अर्थ है। अहाहा ! वस्तु त्रिकाली शुद्ध चैतन्यस्वभावमय सत्-स्वभाववाली महाप्रभु है। वस्तु जैसी है, उसे उसीरूप में ज्ञान व श्रद्धान में लेकर अनुभव करने से मिथ्यात्व का नाश होकर सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

ज्ञान का स्वभाव ही स्व-परप्रकाशक है, इसलिए अज्ञानी को भी ज्ञान की पर्याय में स्व अर्थात् अपना आत्मा सदैव जानने में आता ही है; परन्तु अज्ञानी की दृष्टि स्वरूप पर नहीं जाती, राग व पर्याय पर ही रहती है। इसकारण स्वयं को स्वयं जाननेवाला होने पर भी दृष्टि अन्यत्र होने से अज्ञानी रहता है। 'मैं आत्मा हूँ' – ऐसा वह नहीं मानता। उससे कहते हैं कि भाई ! तेरी महत्ता अपरम्पार है। तीन लोक का नाथ अनन्त गुण की समृद्धि से भरा हुआ तू स्वयं चिदानन्द भगवान है। अपनी दृष्टि को तू वहाँ स्थापित कर ! उससे मिथ्यात्व का नाश होकर तुझे सम्यग्दर्शन होगा तथा उसके बाद पुनः मिथ्यात्व नहीं होगा। राग व पर्याय पर से दृष्टि हटाकर तू अपनी चैतन्यमय त्रिकाली आत्मवस्तु पर दृष्टि डाल !

श्रद्धा की पर्याय जानती नहीं है, जानती तो ज्ञान की पर्याय है, श्रद्धा की पर्याय स्वसन्मुख होने पर द्रव्य की श्रद्धा करती है। श्रद्धा की पर्याय अनादि से पर की ओर अर्थात् राग व निमित्त की ओर झुकी है, वही श्रद्धा जब पलटकर त्रिकाली शुद्धद्रव्य पर झुकती है तो द्रव्य ही उसकी श्रद्धा में आता है, इस स्वभाव की श्रद्धा का नाम ही धर्म है। श्रद्धा की पर्याय में ऐसा ज्ञान नहीं है कि यह द्रव्य है, किन्तु जब श्रद्धा की पर्याय अन्तर्मुख झुकती है, तब 'यह आत्मा ही मैं हूँ' – ऐसी भगवान आत्मा की प्रतीति होती है, वह आत्मप्रतीति ही सम्यग्दर्शन है, धर्म की प्रथम सीढ़ी है। उस श्रद्धा के साथ में जो अनुभूतिस्वरूप ज्ञान की पर्याय है, उसमें भगवान आत्मा ख्याल आता है, ज्ञात होता है।

अरे भाई! शुभभाव का तुझे कितना भारी प्रेम है, परन्तु शुभभाव तो अभव्य जीव को भी होता है। निगोद के जीवों को भी शुभभाव होता है। शुभभाव तो कर्म के संग से उत्पन्न होनेवाला विकार है। लहसुन की एक सूक्ष्म कटकी में – छोटे से टुकड़े में भी असंख्य औदारिक शरीर होते हैं, प्रत्येक शरीर में अनन्त-अनन्त निगोदिया जीव होते हैं; प्रत्येक जीव को क्षण में शुभ व क्षण में अशुभ भाव हुआ करते हैं; इसलिए शुभभाव कोई नवीन अपूर्व वस्तु नहीं है। नियमसार के २२१वें कलश में आता है कि जो मोक्ष का कथनमात्र कारण है – ऐसे व्यवहार-रत्नत्रय के परिणाम को भी भवसागर में डुबे हुए जीवों ने भव-भव में सुना है, आचरा है।

अरे भाई! भव के भाव पर से दृष्टि हटाकर गुलाँट खा! श्रद्धा की पर्याय शुद्धचैतन्यमय वस्तु में जाना चाहिए, क्योंकि वही अपूर्व वस्तु है। दृष्टि पलटकर तू अन्तर्सन्मुख हो जा! उससे तुझे अलौकिक अनुभव-सहित सम्यग्दर्शन होगा। राग की मन्दता व परलक्ष्यी ज्ञान – यह कोई कार्यकारी चीज नहीं है (आत्महितकारी वस्तु नहीं है), परमार्थनय के ग्रहण से मिथ्यात्व का नाश होता है – यह प्रयोजनभूत मुद्दे की चीज है।

शुद्ध चैतन्यमय वस्तु भगवान आत्मा में झुकाव करने से जो भूतार्थ का अनुभव होता है, उस अनुभव से मिथ्यात्व का नाश होता है; कषाय की मन्दता से मिथ्यात्व का नाश नहीं होता। हाँ, यदि कषाय की मन्दता हो तो अनन्तानुबन्धी व दर्शनमोह का रस कुछ कम मात्रा में पड़ता है; परन्तु यह कोई कार्यकारी चीज नहीं है (मुक्ति के मार्ग में इसका किञ्चित् भी महत्त्व नहीं है।) राग की मन्दता से आत्मा को कुछ भी लाभ नहीं है, क्योंकि शुभ के काल में मिथ्यात्व का अनुभाग (रस) भले

मन्द हो, परन्तु इससे मिथ्यात्व का नाश नहीं होता। ऐसी ही वस्तुस्थिति है तथा अनन्त तीर्थंकरों ने भी ऐसा ही जाना और कहा है।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि एक वार अनुभव होने के पश्चात् बन्धन कैसे हो सकता है ? स्वरूप की सावधानी से अनुभव के काल में दर्शनमोह का नाश होता है। वहाँ प्रथम उपशम सम्यक्त्व होकर क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है। वह क्षयोपशम भी छूटता नहीं है – ऐसा यहाँ कहते हैं। द्रव्य का अभाव हो तो क्षयोपशम सम्यक्त्व छूटे – ऐसी जोरदार वात की है। मिथ्यात्व चले जाने के वाद राग से जो अल्पवन्धन होता है, उसे यहाँ गिना नहीं गया है; क्योंकि जिस भाव से अनन्त संसार बँधता है, उस भाव से (मुख्यरूप से) संसार या वन्धन कहने में आता है।

एक वार ज्ञान होने पर यदि क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो तो पुनः मिथ्यात्व आता ही नहीं। मिथ्यात्व भाव हुए विना मिथ्यात्व का वन्ध भी नहीं होता और मिथ्यात्व के चले जाने के वाद संसार का बन्धन किस प्रकार हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता, मोक्ष ही होता है – ऐसा जानना। मिथ्यात्व है, वस यही आस्रव-वन्ध है। जिसे शक्तिरूप मोक्षस्वरूप स्वभाव का अनुभव हुआ, उसे व्यक्तिरूप (पर्याय में) मोक्ष होगा ही होगा, गिरने की वात ही नहीं है।

अव पुनः विशेषतापूर्वक कहते हैं :–

(अनुष्टुप्)

आत्मभावान्करोत्यात्मा परभावान्सदा परः।
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते ॥५६॥

श्लोकार्थ :– [आत्मा] आत्मा तो [सदा] सदा [आत्मभावान्] अपने भावों को [करोति] करता है और [पर-] परद्रव्य [परभावान्] पर के भावों को करता है; [हि] क्योंकि जो [आत्मनः भावाः] अपने भाव हैं, सो तो [आत्मा एव] आप ही हैं और जो [परस्य ते] पर के भाव हैं, सो [परः एव] पर ही हैं (– यह नियम है)।

कलश ५६ पर प्रवचन

आत्मा या तो अपने शुद्धचैतन्यपरिणामों को करता है या अपने अशुद्धचैतन्यपरिणाम को करता है – या तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणामों को करता है या मिथ्यात्व-राग-द्वेषरूप परिणामों को करता है;

परन्तु परद्रव्य के परिणामों को आत्मा कभी भी नहीं करता। अपने भावों को आत्मा स्वयं करता है तथा पर के भावों को पर करते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र में ज्ञानावरणी कर्म के आस्रव के छह कारण कहे हैं। वहाँ छह कारणरूप जो जीव के परिणाम हैं, उनका कर्त्ता जीव है; परन्तु ज्ञानावरणी कर्म की पर्याय का कर्त्ता जीव नहीं है। षोड़शकारणभावना के परिणाम का कर्त्ता जीव (आत्मा) है, परन्तु तीर्थंकर प्रकृति का जो बन्ध होता है, उसका कर्त्ता जीव (आत्मा) नहीं है।

ज्ञानी को कर्त्ताबुद्धि से शुभभाव नहीं होता; परन्तु शुभभावरूप परिणमन हैं – इस अपेक्षा से उसे शुभभाव का कर्त्ता कहा जाता है। शुभभाव करने लायक है – ऐसी बुद्धि तो सम्यग्दृष्टि के रही नहीं, इसकारण परिणमन की अपेक्षा से ज्ञानी शुभभाव का कर्त्ता भले हो; तथापि तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति का जो बन्ध होता है, उसका कर्त्ता वह नहीं है। पहले कार्माण वर्गणा की अकर्मरूप दशा थी, बाद में बदलकर तीर्थंकर नामकर्मरूप दशा हुई – इसका कर्त्ता आत्मा नहीं अपितु पुद्गल है। दया, दान आदि के जो भाव होते हैं, उनरूप ज्ञानी का परिणमन होता है; परन्तु उन दया, दान के भावों से वह पर की दया नहीं पाल सकता, क्योंकि आत्मा पर के परिणाम को नहीं कर सकता।

पर के भाव का कर्त्ता परद्रव्य है। बोलनेरूप जो भाषा की पर्याय है, वह परभाव है; भाषावर्गणा के परमाणु ही उस भाव के कर्त्ता हैं। बोलने के रागरूप जो परिणाम होता है, उसका कर्त्ता आत्मा है। राग का परिणमन होता है – इस अपेक्षा ज्ञानी को उसका कर्त्ता कहा जाता है; परन्तु ज्ञानी उस राग को करने लायक नहीं मानता, क्योंकि ज्ञानी राग के स्वामित्वपने से नहीं परिणमता।

परद्रव्य के कर्त्ता-कर्मपने की मान्यता को अज्ञान कहकर आचार्यदेव ने यह कहा है कि जो ऐसा माने, वह मिथ्यादृष्टि है। 'पर की सेवा कर सकता हूँ, दूसरे का दुःख टाल सकता हूँ, दूसरों को आहार-पानी, कपड़ा इत्यादि दे सकता हूँ' – ऐसा मानना मिथ्यात्व है।

यद्यपि क्षायिक सम्यग्दृष्टि मुनिराज को भी राग आता है; परिणमन की अपेक्षा से वे उस राग के कर्त्ता भी हैं, परन्तु यह करने लायक है – ऐसा वे नहीं मानते।

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं ।
अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा ।।८७।।

मिथ्यात्वं पुनर्द्विविधं जीवोऽजीवस्तथैवाज्ञानम् ।
अविरतिर्योगो मोहः क्रोधाद्या इमे भावाः ।।८७।।

मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो हि भावाः ते तु प्रत्येकं मयूर-मुकुरंदवज्जीवाजीवाभ्यां भाव्यमानत्वाज्जीवाजीवौ । तथाहि — यथा नीलहरितपीतादयो भावाः स्वद्रव्यस्वभावत्वेन मयूरेण भाव्यमानाः मयूर

(परद्रव्य के कर्त्ता-कर्मपने की मान्यता को अज्ञान कहकर यह कहा है कि जो ऐसा मानता है, सो मिथ्यादृष्टि है । यहाँ आशंका होती है कि यह मिथ्यात्वादि भाव क्या वस्तु हैं ? यदि उन्हें जीव का परिणाम कहा जाये तो पहले रागादि भावों को पुद्गल का परिणाम कहा था, उस कथन के साथ विरोध आता है; और यदि उन्हें पुद्गल का परिणाम कहा जाये तो जिनके साथ जीव का कोई प्रयोजन नहीं है, उनका फल जीव क्यों प्राप्त करे ? — इस आशंका को दूर करने के लिए अब गाथा कहते हैं :—).

मिथ्यात्व जीव अजीव दो विध, उभय विध अज्ञान है ।
अविरमण, योग रु मोह अरु, क्रोधादि उभय प्रकार है ।।८७।।

गाथार्थ :— [पुनः] पुनः [मिथ्यात्वं] जो मिथ्यात्व कहा है, वह [द्विविधं] दो प्रकार का है [जीवः अजीवः] एक जीव मिथ्यात्व और दूसरा अजीव मिथ्यात्व; [तथा एव] तथा इसीप्रकार [अज्ञानम्] अज्ञान, [अविरतिः] अविरति, [योगः] योग, [मोहः] मोह और [क्रोधाद्याः] क्रोधादि कषाय — [इमे भावाः] ये (सर्व) भाव जीव और अजीव के भेद से दो-दो प्रकार के हैं ।

टीका :— मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि जो भाव हैं; वे प्रत्येक मयूर और दर्पण की भाँति अजीव और जीव के द्वारा भाये जाते हैं, इसलिये वे अजीव भी हैं और जीव भी हैं । इसे दृष्टांत से समझाते हैं — जैसे गहरा नीला, हरा, पीला आदि (वर्णरूप) भाव जो कि मोर के अपने स्वभाव से मोर के द्वारा भाये जाते हैं (होते हैं), वे मोर ही हैं और (दर्पण

एव, यथा च नीलहरितपीतादयो भावाः स्वच्छताविकारमात्रेण मुकुरंदेन भाव्यमाना मुकुरंद एव; तथा मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो भावाः स्वद्रव्यस्वभावत्वेनाजीवेन भाव्यमाना अजीव एव, तथैव च मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो भावाश्चैतन्यविकारमात्रेण जीवेन भाव्यमाना जीव एव ।

में प्रतिबिम्बरूप से दिखाई देनेवाले) गहरा नीला, हरा, पीला इत्यादि भाव जो कि (दर्पण की) स्वच्छता के विकारमात्र से दर्पण के द्वारा भाये जाते हैं, वे दर्पण ही हैं। इसीप्रकार मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि भाव जो कि अजीव के अपने द्रव्यस्वभाव से अजीव के द्वारा भाये जाते हैं, वे अजीव ही हैं और मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि भाव जो कि चैतन्य के विकारमात्र से जीव से द्वारा भाये जाते हैं, वे जीव हैं।

भावार्थ :– पुद्गल के परमाणु पौद्गलिक मिथ्यात्व आदि कर्मरूप से परिणमित होते हैं। उस कर्म का विपाक (उदय) होने पर उसमें जो मिथ्यात्व आदि स्वाद उत्पन्न होता है, वह मिथ्यात्व आदि अजीव है; और कर्म के निमित्त से जीव विभावरूप परिणमित होता है, वे विभाव परिणाम चेतन के विकार हैं; इसलिए वे जीव हैं।

यहाँ यह समझना चाहिये कि मिथ्यात्व आदि कर्म की प्रकृतियाँ पुद्गलद्रव्य के परमाणु हैं। जीव उपयोगस्वरूप है, उसके उपयोग की ऐसी स्वच्छता है कि पौद्गलिक कर्म का उदय होने पर उसके उदय का स्वाद आवे, तब उसके आकार उपयोग हो जाता है। अज्ञानी को अज्ञान के कारण उस स्वाद का और उपयोग का भेदज्ञान नहीं है, इसलिए वह उस स्वाद को ही अपना भाव समझता है। जब उनका भेदज्ञान होता है अर्थात् जीवभाव को जीव जानता है और अजीवभाव को अजीव जानता है, तब मिथ्यात्व का अभाव होकर सम्यग्ज्ञान होता है।

गाथा ८७ की उत्थानिका, गाथा एवं टीका पर प्रवचन

देखो! नीले, पीले, हरे रंगरूप जो मोर का चितकबरा रंग है, वह मोर का भाव है; इसलिए वह मोर ही है। दर्पण में जो प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, वह मोर की पर्याय नहीं है; वह दर्पण की स्वच्छता का विकार (परिणमन) मात्र है; इसलिए वह दर्पण ही है। दर्पण में जो अवस्था हुई है, वह दर्पण से हुई है; वह मोर के कारण नहीं हुई है। मोर में जो रंग है, वह मोर है तथा दर्पण में, जो प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, वह दर्पण की

स्वच्छता के विकार (परिणमन) भाव से हुई दर्पण की अवस्था है। अतः मोर मोर में है तथा दर्पण का प्रतिबिम्ब दर्पण की स्वच्छता का विकार (परिणमन) है।

प्रश्न :— मोर निमित्त तो है न ?

उत्तर :— हाँ; मोर निमित्त है — इसका अर्थ ही यह है कि दर्पण की अवस्था मोर से नहीं हुई है, तभी तो उसे निमित्त कहा जाता है। यदि दर्पण की अवस्था भी मोर से हुई मानोगे तो मोर दर्पण की अवस्था का उपादान ठहरेगा।

अन्य मतावलम्बी ईश्वर को कर्त्ता मानते हैं तथा कुछ जैन भी विकार का कर्त्ता कर्म को मानते हैं — ये दोनों ही मान्यतायें एक जैसी असत्यार्थ हैं। दर्पण की अवस्था दर्पण की स्वच्छता के विकार (परिणमन) के कारण हुई है, मोर के कारण नहीं।

"इसीप्रकार मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि भाव जो कि अजीव के द्वारा भाये जाते हैं, वे अजीव ही हैं तथा मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि भाव जो कि चैतन्य के विकारमात्र से जीव के द्वारा भाये जाते हैं, वे जीव हैं।"

ज्ञानावरणी आदि आठों कर्म जड़ की पर्याय हैं। जड़ की पर्याय का भाव जड़रूप है। द्रव्यमिथ्यादर्शन-अज्ञान-अविरति आदि जड़ की अवस्थाएँ जड़ में होती हैं। द्रव्यमिथ्यादर्शन दर्शनमोहनीय कर्म की पर्याय है, द्रव्य-अज्ञान ज्ञानावरणी कर्म की पर्याय है तथा द्रव्य-अविरति चारित्रमोहनीय कर्म की पर्याय है। इसीप्रकार द्रव्यक्रोध-मान-माया-लोभ आदि चारित्र-मोहनीय कर्म की पर्यायें हैं। जो कर्म का उदय आता है, वह जड़ की पर्याय है। कर्म के उदय से जीव में विकार नहीं होता। दर्शनमोहनीय कर्म की पर्याय अजीव के द्रव्यस्वभाव से हुई है। जीव ने मिथ्यात्व का भाव किया, इसकारण दर्शनमोहनीय कर्म की पर्याय हुई हो — ऐसा नहीं है। तथा वहाँ जड़कर्म में दर्शनमोहनीय कर्म का उदय हुआ, इसकारण जीव में मिथ्यात्व की पर्याय हुई हो — ऐसा भी नहीं है। परमाणु (कर्म) की पर्याय अपने द्रव्यस्वभाव से हुई है, अजीव से हुई है; इसलिए वह अजीव ही है।

जीव में मिथ्याश्रद्धा व राग-द्वेष के परिणाम होते हैं, वे जीव से होते हं; इसलिए वे जीव ही हैं। अज्ञानी को भेदज्ञान नहीं है, इसकारण वह मानता है कि जो राग होता है, वह कर्मकृत है। यहाँ तो स्पष्ट बात की है कि पानी अग्नि के बिना ही उष्ण होता है। अग्नि की पर्याय अग्नि

में है, वह अग्नि ही है और पानी की उष्णपर्याय पानी में है। पानी अग्नि से उष्ण नहीं हुआ है। जो चावल पकता है, वह चावल की अपनी निज की पर्याय है, उष्णपानी से चावल नहीं पकता।

कितने ही लोग ऐसा कहते हैं कि विकार कर्म से भी होता है तथा स्वयं से भी होता है—ऐसा मानने पर अनेकान्त होगा। आचार्यदेव उनसे कहते हैं कि अरे भाई! यह अनेकान्त नहीं है। सच्चा अनेकान्त तो यह है कि विकार स्वयं से ही होता है और कर्म से नहीं होता। जैसे कुम्हार से घड़ा नहीं बना, अग्नि से पानी उष्ण नहीं हुआ; उसीप्रकार निमित्त से जीवरूप उपादान में विकार उत्पन्न नहीं हुआ।

लोगों को ऐसा लगता है कि यह तो साधारण भूल है, परन्तु भाई! यह तो मूल में भूल है। चारित्रमोह के उदय के कारण अव्रत का परिणाम नहीं है। अविरति आदि के भाव स्वयं आत्मा से होते हैं। कर्म के उदय से अज्ञान, मिथ्यात्व या अविरति, विषयवासना के भाव होते हैं—ऐसा नहीं है। दर्शनमोहनीय की पर्याय अजीव का भाव है, इसकारण वह अजीव ही है; ज्ञानावरणी कर्म अजीव का भाव है, इसकारण वह भी अजीव ही है। इसीप्रकार जीव में जो अज्ञान होता है, वह जीव में स्वयं से होता है; इसलिए वह जीव ही है। मिथ्याश्रद्धा जीव की पर्याय में जीव से होती है, इसलिए भी वह जीव है तथा दर्शनमोहनीय कर्म की पर्याय पुद्गलकर्म-वर्गणाओं से होती है, अतः अजीव है।

बहुत स्पष्ट बात है कि कर्म से जीव में विकार नहीं होता। यदि कर्म के कारण जीव की भूल हो तो जब कर्म टले, तब भूल मिटे; फिर अपने पुरुषार्थ से भूल मिटती है—यह बात कहाँ रही? जबकि भूल अपने पुरुषार्थ से ही मिटती है।

राग-द्वेष को कथंचित् पुद्गल का परिणाम कहा है—यह दूसरी बात है। वहाँ तो अपने स्वभाव में राग उत्पन्न हो—ऐसी कोई शक्ति नहीं है। राग जीव का स्वभाव नहीं है, विभाव है; इसलिए राग से भगवान आत्मा भिन्न है—ऐसा भेदज्ञान होने पर (सम्यग्दर्शन होने पर) समकिती को आत्मा व्यापक व निर्मल पर्याय उसका व्याप्य है। तथा राग आत्मा की पर्याय में से भिन्न पड़ जाता है अर्थात् कर्म व्यापक व राग उसका व्याप्य—ऐसा मानकर निमित्त की मुख्यता से राग को पुद्गल का परिणाम कहा है।

यहाँ कहते हैं कि जबतक मिथ्यात्व का भाव है, तबतक मिथ्यादर्शन, अज्ञान व राग-द्वेष जीव की पर्यायें हैं, वे जीव ही हैं। पर के कारण या कर्म

के कारण वे पर्यायें बिल्कुल नहीं हुई हैं। कुम्हार से घड़ा बना ही नहीं है। समयसार गाथा ३७२ में स्पष्ट कहा है :— 'ऐसी शंका नहीं करना चाहिए कि परद्रव्य जीव में रागादिक उत्पन्न करते हैं, क्योंकि अन्य द्रव्य के द्वारा अन्य द्रव्य के गुणों को उत्पन्न कराने की अयोग्यता है। क्योंकि सर्व द्रव्यों का स्वभाव से ही उत्पाद होता है।' अन्य द्रव्य से अन्य द्रव्य के गुण की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः यह सिद्धान्त है कि सर्व द्रव्य अपने-अपने स्वभाव से उत्पन्न होते हैं। यहाँ गुण का अर्थ पर्याय होता है। अपनी पर्याय की योग्यता से ही पर्याय उत्पन्न होती है। मिथ्यादर्शन की पर्याय भी स्वयं अपनी योग्यता से अपने में उत्पन्न होती है, पर से या कर्म से नहीं। उसीतरह आत्मा में कर्मबन्ध की पर्याय उत्पन्न करने की अयोग्यता है। कर्मबन्ध की पर्याय अपनी योग्यता से उत्पन्न होती है।

तब कोई ऐसा कह सकता है कि विकार होने में ५०% कर्म का तथा ५०% जीव का कर्तृत्व स्वीकार कर लो। उनसे कहते हैं कि ५०% क्यों? शत-प्रतिशत विकार जीव के परिणाम में जीव से होता है; कर्म के कारण एक प्रतिशत भी नहीं। उपादान शत-प्रतिशत उपादान में है तथा निमित्त शत-प्रतिशत निमित्त में है। आत्मा में जो मिथ्यात्व का भाव हुआ है, वह शत-प्रतिशत अपने से हुआ है; एक प्रतिशत भी निमित्त (दर्शनमोह) के कारण नहीं हुआ है।

लोग तो खाने-पीने खेलने के अशुभभावों में ही अटक गये हैं। उन्हें वस्तुस्वरूप के निर्णय करने की फुरसत ही कहाँ है? परन्तु भाई! इसका यथार्थ निर्णय किये बिना तुझे कितनी हानि हो रही है – इसकी तुझे खबर नहीं है। अरे! इसतरह तू निर्णय करने की शक्ति ही खो बैठेगा।

यहाँ यह निर्णय कराते हैं कि जीव अपने विपरीत पुरुषार्थ से मिथ्यात्वादिरूप परिणमता है, तथा अपने यथार्थ पुरुषार्थ से मिथ्यात्वादि भावों को नाश करके सम्यक्त्वादिरूप परिणमता है; उसमें परद्रव्य रंचमात्र भी कारण नहीं हैं। परद्रव्य, परद्रव्य में स्थित है; वह आत्मा की सत्ता में नहीं आता। यदि परद्रव्य की सत्ता आत्मा में आ जावे तो परद्रव्य का नाश हो जायगा। आत्मा परद्रव्य की सत्ता में प्रवेश करे तो परद्रव्य की पर्याय को कर सकता है, परन्तु परद्रव्य की सत्ता में आत्मा जावे तो आत्मा की स्वयं की सत्ता का नाश हो जायगा। अतः ऐसा कभी नहीं होता। (कोई भी द्रव्य अपनी सत्ता नहीं छोड़ता) एकसमय की पर्यायसत्ता भी अपनी अपने में रहती है – ऐसी ही वस्तुस्थिति है, इसलिए स्वयं पर का कुछ करे और पर अपना कुछ करे – यह बात त्रिकाल सम्भव नहीं है।

निगोदिया जीव से लेकर परमाणु आदि सर्व द्रव्य अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं। अपनी पर्याय की योग्यता से विकार आदि उत्पन्न होते हैं, पर के कारण नहीं।

कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान एवं अधिकरण – इन अपने षट्कारकों से जीव में विकार होता है। निश्चय से विकार परकारकों की अपेक्षा विना स्वयं से होता है। जैसे कुम्हार से घड़ा नहीं बनता, कुम्हार में घड़ा बनाने की अयोग्यता है; उसीप्रकार कर्म से विकार नहीं होता, कर्म में विकार उत्पन्न कराने की अयोग्यता है।

मिट्टी अपने स्वभाव का उल्लंघन नहीं करती, इसकारण कुम्हार घड़े का उत्पादक नहीं होता है; मिट्टी भी कुम्हार के स्वभाव का स्पर्श नहीं करती, अपितु अपने स्वभाव से कुम्भभावपने से उत्पन्न होती है। उसीप्रकार मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि भाव अथवा जो चैतन्य के विकार-मात्र से जीवरूप भाये जाते हैं, वे सब जीव ही हैं।

अरे ! जिस जीव में दो द्रव्यों के बीच भेदज्ञान करने की ताकत नहीं हैं, उस जीव में राग से स्वभाव को भिन्न करने की ताकत कहाँ से आयेगी ? अरे भाई ! अन्दर राग से भिन्न ज्ञायकस्वरूप, चैतन्यस्वभावमय, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द, भगवान आत्मा विराजता है; उसका आश्रय करने से धर्म की दशा उत्पन्न होती है। आचार्यदेव कहते हैं कि व्यवहार से या राग से धर्म की दशा उत्पन्न हो – ऐसा हमें दिखाई नहीं देता।

यहाँ कोई ऐसा भी कह सकता है कि सम्यग्दर्शन होने के बाद जो अव्रत के परिणाम होते हैं, वे चारित्रमोह के कारण होते हैं; परन्तु आचार्य उनसे कहते हैं कि ऐसा नहीं है। देखो, वासुदेव (कृष्ण) के मुर्दा-शरीर को वलदेव छह मास तक कन्धे पर रखकर घूमते रहे। यद्यपि उससमय उनके चारित्रमोह का उदय था, तथापि उसके कारण वह भाव आया हो – ऐसा नहीं है; वल्कि वह भाव स्वयं उनके तत्समय की उपादानरूप योग्यता के कारण से ही आया था, चारित्रमोह का उदय तो निमित्तमात्र था।

एक स्वतंत्र सूक्ष्म परमाणु जो स्थूल स्कन्ध में मिलने पर स्थूल हो जाता है; वह स्थूल स्कन्ध के कारण सूक्ष्म से स्थूल नहीं हुआ है, वल्कि अपनी पर्याय की योग्यता से ही सूक्ष्म से स्थूल होता है। एक परमाणु में दूसरे परमाणु को स्थूल करने की अयोग्यता है। उस परमाणु में सूक्ष्म से स्थूल होने की स्वयं में योग्यता है, इसकारण वह स्थूल होता है।

राग से आत्मा को लाभ होता है, व्यवहार करते-करते निश्चय हो जायगा – ये मान्यता ही मिथ्यादर्शन है। पञ्चास्तिकाय में जो भिन्न

साध्य-साधन की बात की है, वह उपचार से की है। राग तो करे जीव स्वयं और आरोप मढ़े कर्मों के सिर — यह तो सरासर अनीति है। श्रीमद् रायचंन्द्रजी ने भी कहा है कि तेरा संसार तेरे ही अपराध से है। तेरा अपराध इतना ही है कि तू अपने को भूलकर पर को अपना मानता है। श्रीमद् रायचन्द्र सम्यग्दृष्टि अनुभवी पुरुष थे, उन्हें अल्पकाल में ही मोक्ष जाना है, उनकी क्षयोपशमशक्ति गजब की थी। उन्होंने संक्षेप में कहा है कि जीव अपने ही अपराध से संसार में रखड़ता है, कर्म के कारण नहीं।

अहो ! दिगम्बर सन्तों ने अलौकिक वात कही है। वे कहते हैं कि मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि भाव अथवा जो चैतन्य के विकारमात्र से जीव के द्वारा भाये जाते हैं, वे सब जीव ही हैं। विकारमात्र से अर्थात् अपनी विकृत अवस्था से जीव में विकार हुआ है, निमित्त से नहीं। जैसे नीली-पीली आदि अवस्थारूप से दर्पण स्वयं ही परिणमा है, वह दर्पण की स्वच्छता का ही विकार है, वहाँ मोर नहीं परिणमा है। वह दर्पण का विकार (परिणमन) मोर के कारण हुआ हो — ऐसा भी नहीं है, मोर तो निमित्तमात्र है। उसीतरह आत्मा में जो विकार हुआ है, वह आत्मा की ही पर्याय है; वहाँ कर्म विकाररूप नहीं परिणमा है, कर्म के कारण भी विकार नहीं हुआ है; कर्म तो निमित्तमात्र है। जीव में विकार जीव की अपनी योग्यता से हुआ है। अज्ञानदशा में विकार की क्रिया करनेवाला जीव ही है तथा भेदज्ञानपूर्वक सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञानी द्रव्यदृष्टि से विकार को 'पर' जानता है, क्योंकि वह चैतन्य का स्वभाव नहीं है।

प्रश्न :— मोहकर्म के तीव्र उदय के कारण जीव धर्म नहीं कर सकता — ऐसा जो कथन आता है, उसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर :— कर्म का जोर कर्म में है, कर्म की जीव में नास्ति है; परन्तु जीव स्वयं विपरीत पुरुषार्थ करके पर की ओर झुकने का भाव करे तो कर्म निमित्त होता है तथा धर्म नहीं होता। जब जीव स्वयं सम्यक् पुरुषार्थ करके स्व की ओर झुके तो धर्म होता है। धर्म करने में कर्म आड़े नहीं आता और जव जीव स्वयं विकाररूप परिणमे, तब भी कर्म उसमें विकार आदि कुछ करता नहीं है; मात्र निमित्तरूप से उपस्थित रहता है।

एक भाई का प्रश्न था कि भविष्य की खोटी आयु बँध जाने पर परिणाम नहीं सुधरते। जैसे श्रेणिक की नरक की आयु बँध गई तो चारित्र धारण नहीं कर सका। उसके उत्तर में कहते हैं कि यह मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि नरक की आयु बँध जाने पर भी जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त

कर सकता है । राजा श्रेणिक को सातवीं नरक की आयु बँधी थी, बाद में सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर तो आयु कर्म की स्थिति घट गई । राजा श्रेणिक ने तो क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त किया और वर्तमान में वहाँ नरक में भी प्रतिक्षण तीर्थंकरप्रकृति बाँध रहे हैं । नरकगति का बन्ध हुआ, इसकारण चारित्र धारण नहीं कर सके – यह कहना यथार्थ नहीं है । उनका उससमय वैसा ही पुरुषार्थ था, इसकारण चारित्र धारण करने की स्वयं की अयोग्यता थी । श्रेणिक राजा की नरक में जाने की भावना नहीं थी, परन्तु कर्म ले गया – ऐसा कोई कहे तो यह बात भी यथार्थ नहीं है । श्रेणिक राजा स्वयं अपनी वर्तमान पर्याय की योग्यता से ही नरक में गये हैं । नरक की आयु बाँधी, इसकारण नरक में जाना पड़ा हो – ऐसा भी नहीं है; बल्कि अपनी पर्यायगत योग्यता से क्षेत्रान्तर होकर नरक में गया है, कर्म के कारण नहीं ।

गाथा ८७ के भावार्थ पर प्रवचन

"पुद्गल के परमाणु मिथ्यात्वादि द्रव्यकर्मरूप से परिणमित होते हैं । उस कर्म का विपाक (उदय) होने पर उसमें जो मिथ्यात्वादि स्वाद उत्पन्न होता है, वह मिथ्यात्वादि अजीव हैं; और कर्म के निमित्त से जीव विभावरूप परिणमित होता है, वे विभाव परिणाम चेतन के विकार हैं; इसलिए वे जीव हैं ।"

जिसप्रकार अज्ञानी जीवों को मिर्च के तीखेपने का ज्ञान होने पर ऐसा भ्रम होता है कि मुझे मिर्च में से चरपराहट (तीखेपन) का स्वाद आया है । जिसतरह शक्कर में जो मिठास है, वह तो जड़ की अवस्था है, किन्तु उस मिठास का ज्ञान होने पर अज्ञानी जीव को ऐसा लगता है कि मुझे शक्कर में से मिठास का स्वाद आया । उसीप्रकार कर्म का उदय आने पर उसमें मिथ्यात्वादि का स्वाद उत्पन्न होता है । कर्म के उदय का रस तो जड़ की पर्याय है, उस जड़ का स्वाद आत्मा में कैसे आ सकता है ? अज्ञानी को तो भ्रम है कि जड़ के स्वाद का वेदन मुझको होता है ।

अपने उपयोग में मिथ्यात्वादि का रस मात्र ख्याल में आता है, परन्तु उपयोग या ज्ञान में उसका रस नहीं आता । जैसे चरपराहट, मिठास या खटास ज्ञान में – ख्याल में आती है, परन्तु वह चरपराहट, मिठास या खटास ज्ञान में आ नहीं जाती । उसीतरह मिथ्यात्वादि कर्म के उदय का रस ज्ञान में – ख्याल में तो आता है, परन्तु वह जड़कर्म का स्वाद अपना (आत्मा का) नहीं है; वह स्वाद तो पर का है, जड़-कर्म का है जो कि अजीव है;

जड़ है। जैसे चरपराहट, मिठास वगैरह जड़ है; उसीतरह मिथ्यात्वादि कर्म का उदय भी जड़ है। उसका स्वाद आत्मा में कैसे आ सकता है?

जीव को अपने मिथ्यात्व भाव का वेदन तो होता है, परन्तु जड़-मिथ्यात्व का (कर्म का) वेदन जीव को नहीं होता। ज्ञान में जड़ के रस का ख्याल तो आता है, किन्तु अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैं जड़ का स्वाद लेता हूँ। जड़ की पर्याय रूपी है, वह अरूपी जीव में नहीं आती। ज्ञान जड़ के रस या स्वाद को जानता तो है, परन्तु वह जड़ का स्वाद ज्ञान में प्रवेश नहीं करता। बात बहुत सूक्ष्म है, भाई! परन्तु अज्ञानी इसप्रकार न मानकर जड़ का स्वाद मुझे आया – ऐसा मानकर मिथ्यात्वभाव का सेवन करता है। देखो! लड्डू खाते हैं तो उसके स्वाद का ज्ञान होता है, परन्तु लड्डू का स्वाद ज्ञान में प्रवेश नहीं कर जाता; क्योंकि लड्डू का स्वाद तो जड़ है, रूपी है और भगवान आत्मा चैतन्यमय अरूपी है – इस अरूपी में रूप का प्रवेश कैसे हो? उसीतरह कर्म का उदय जड़ है, उस जड़ के स्वाद (अनुभव) को ज्ञान जानता है, परन्तु अज्ञानी को भेदज्ञान नहीं है – इसकारण जड़ के स्वाद का ज्ञान में ख्याल आते ही वह ऐसा मान लेता है कि मुझे जड़कर्म का स्वाद आया है – ऐसा मानकर वह मिथ्यात्व का सेवन करता है।

कर्म का उदय (फल) आने पर जो मिथ्यात्वादि का स्वाद उत्पन्न होता है, वह मिथ्यात्वादि अजीव है। यहाँ तो जड़कर्म व आत्मा के बीच भेदज्ञान करने की तथा 'पर से मैं भिन्न हूँ' – ऐसी प्रतीति करने की बात चलती है। अपने स्वरूप के आश्रय से ही मिथ्यात्व व राग-द्वेष आदि विकारीभावों का भेदज्ञान होता है। कर्म के उदय से विकार हुआ व विकार के कारण कर्मबन्धन हुआ – ऐसा जो माने, उसकी तो व्यवहार-श्रद्धा का भी ठिकाना नहीं है; फिर तो उसे राग से भिन्न निज चैतन्यस्वरूप का अनुभव कैसे हो? अहो! जैन तत्त्वज्ञान बहुत गम्भीर व सूक्ष्म है।

भाई! ये तो अन्तर के परमसत्य तत्त्व की बातें हैं – ये कोई कल्पना नहीं हैं। कर्म के निमित्त से जीव विभावरूप परिणमता है। वह विभाव परिणाम चैतन्य का विकार है, इसकारण वह जीव है। जीव के जो मिथ्यात्वादि परिणाम होते हैं, वे स्वयं से होते हैं। तथा कर्म का उदयरूप निमित्तरूप जड़ का भाव है; इसकारण जड़ है, अजीव है। जड़ के उदय का परिणाम जड़ में है। दोनों के बीच निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, परन्तु निमित्त (जड़कर्म) कर्त्ता है एवं विकार उस कर्त्ता का कार्य (कर्म) है – ऐसा नहीं है। तथा जीव का विकार कर्त्ता हो और जड़कर्म का बन्ध उस विकाररूप कर्त्ता का कर्म हो – ऐसा भी कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है। भैया

भगवतीदास के निमित्त-उपादान दोहों में जो ४७ दोहे हैं—उसमें भी इस बात का अच्छा स्पष्टीकरण है।[1]

विकार की पर्यायें अपने षट्कारकों से होती हैं; क्योंकि कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान व अधिकरणरूप शक्तियाँ द्रव्यरूप व गुणरूप हैं तो उनका पर्याय में भी अपने षट्कारकरूप से परिणमन होता है। एक समय की मिथ्यात्व की पर्याय का कर्त्ता मिथ्यात्व, उसका कर्म भी मिथ्यात्व, करण भी मिथ्यात्व, सम्प्रदान, अपादान व अधिकरण भी मिथ्यात्व ही है। जीव के मिथ्यात्वभाव का कर्त्ता जड़कर्म नहीं है तथा जीव के द्रव्य-गुण भी नहीं हैं; क्योंकि जड़कर्म पर हैं तथा द्रव्य-गुण त्रिकाल शुद्ध हैं।

इसीप्रकार अपने द्रव्य के आश्रय से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म की पर्याय प्रगट हुई, वह भी निरपेक्ष है; उसमें व्यवहार व निमित्त की अपेक्षा नहीं है। नियमसार की दूसरी गाथा में यह बात आती है। अहाहा! परमवीतरागी सर्वज्ञदेव के शासन में आचार्यों ने गजब का स्पष्टीकरण किया है। वहाँ कहा है:—"निज परमात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप शुद्धरत्नत्रयात्मक मार्ग परमनिरपेक्ष होने से मोक्ष का उपाय है तथा वह शुद्धरत्नत्रय का फल है।" अहाहा........! शुद्धरत्नत्रयात्मक मोक्ष का मार्ग परमनिरपेक्ष है अर्थात् निमित्त और व्यवहार की अपेक्षा रखे बिना मोक्षमार्ग की पर्याय अपने षट्कारक से प्रगट होती है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान की एकसमय की जो परिणति प्रगट हुई है, वह अपने षट्कारक परिणमन से प्रगट हुई है; द्रव्य-गुण से नहीं। पर्याय द्रव्य के सन्मुख हुई है; बस, इतनी बात है, परन्तु द्रव्य-गुण से पर्याय प्रगट हुई हो—ऐसा बिल्कुल नहीं है।

बड़े-बड़े तथाकथित नामधारी विद्वान भी इस समय इस विषय में शंकायें-प्रतिशंकायें खड़ी करते हैं, परन्तु क्या करें? अरे! यहाँ इस क्षेत्र में भगवान का तो विरह हो गया है। केवलज्ञान रहा नहीं तथा साथ में चार ज्ञानधारी गणधरदेव का भी विरह है, ऐसी स्थिति में यदि शास्त्र का—जिनवाणी का कोई उल्टा अर्थ करे तो किससे कहें? अरे रे! भगवान सर्वज्ञ की तो उपस्थिति है नहीं और जगत-जन जैसा मन में आता है, वैसा अपनी बुद्धि-अनुसार—मति-कल्पना से अर्थ करके भारी गड़बड़ी करते हैं, मिथ्या अर्थ करके विसंवाद उत्पन्न करते हैं। जैसे पिता के मरण हो जाने

---

[1] भैया भगवतीदासजी कृत 'निमित्त उपादान संवाद' पर पूज्य श्री कानजी स्वामी द्वारा किये गये प्रवचन 'मूल में भूल' नामक पुस्तक में संगृहीत हैं।

के बाद सम्पत्ति के बँटवारे में बेटे अन्दर ही अन्दर झगड़े करते हैं; उसीतरह भगवान सर्वज्ञ परमात्मा का विरह होने पर अज्ञानी जीव मुक्ति के मार्ग में बड़ी भारी गड़बड़ी खड़ी कर रहे हैं। भाई! जैसा तू अपनी कल्पना से कहता है, वैसा मुक्तिमार्ग नहीं है; वीतराग का मार्ग तो कोई अलौकिक है, अद्भुत है। जरा शान्ति से बैठकर आगम-युक्ति के आलोक में विचार करे तो बात समझ में आ सकती है।

व्यवहार है, इसलिए सम्यग्दर्शन हो गया – ऐसा नहीं है। सम्यग्दर्शन की पर्याय त्रिकाली शुद्धद्रव्य के आश्रय से उत्पन्न हुई है। शुद्ध के आश्रय से अर्थात् द्रव्य के सन्मुख होकर वह पर्याय स्वयं स्वतंत्ररूप से प्रगट हुई है। द्रव्य के आश्रय का अर्थ 'द्रव्य के कारण' नहीं समझना, वह पर्याय स्वतंत्र अपने कारण प्रगट हुई है। वह पर्याय स्वयं अपनी योग्यता से हुई है, द्रव्य से नहीं – ऐसा भगवान ने पुकार-पुकार कर कहा है। द्रव्य वस्तुतः तो अपनी निर्मल पर्याय का भी कर्त्ता नहीं है। द्रव्यस्वभाव पर्याय का कर्त्ता नहीं है। अरे भाई! मोक्षमार्ग की पर्याय का भी द्रव्य कर्त्ता नहीं है। परमात्मप्रकाश के ६८वें दोहे में तथा समयसार की ३२०वीं गाथा की जयसेनाचार्य की टीका में यह बात और भी अधिक स्पष्टरूप से आ चुकी है।

प्रवचनसार की १८९वीं गाथा की टीका में कहा है :– "रागपरिणाम ही आत्मा का कर्म है, वही पुण्य-पापरूप द्वैत है, आत्मा रागपरिणाम का ही कर्त्ता है, उसी का ग्रहण-त्याग करनेवाला है – यह शुद्धद्रव्य के निरूपण-स्वरूप निश्चयनय है।" पर्याय स्वयं से हुई है, इसकारण उसको निश्चय कहा है। आत्मा विकार को करता है तथा छोड़ता है – यह शुद्धनय का कथन है अर्थात् विकार स्वयं से होता है, इसलिए उसको शुद्धद्रव्य के निरूपणस्वरूप निश्चयनय कहा है। निमित्त की अपेक्षा बिना विकार स्वयं से होता है, इसलिए उसको शुद्धनय कहा है। निश्चयनय केवल स्वद्रव्य के परिणाम को बतानेवाला है, अतः उसको शुद्धद्रव्य का कथन करनेवाला कहा है तथा व्यवहारनय परद्रव्य के परिणाम को बतानेवाला है, अतः उसको अशुद्धद्रव्य का कथन करनेवाला कहा है।

विकारी परिणाम द्रव्यकर्म के निमित्त से हुए हैं – यह अशुद्धनय का कथन है तथा वे ही विकारी परिणाम स्वयं से अर्थात् अपनी योग्यता से हुए हैं – यह शुद्धनिश्चय का कथन है। यहाँ शुद्धपने तथा अशुद्धपने – दोनों प्रकार से द्रव्य की प्रतीति कराते हैं, परन्तु निश्चयनय साधकतम होने से ग्रहण किया गया है; क्योंकि साध्य शुद्ध है, इसकारण द्रव्य के शुद्धत्व

का द्योतक होने से निश्चयनय ही साधकतम है, परन्तु अशुद्धत्व का द्योतक व्यवहारनय साधकतम नहीं है।

यह प्रवचनसार के ज्ञेय अधिकार की बात है; इसलिए 'राग-द्वेष, पुण्य-पाप, दया-दान तथा मिथ्यात्वभाव अपनी पर्याय में स्वयं से होते हैं, – यह शुद्धनय का कथन है' – ऐसा कहा है। शुद्धनय साधकतम है, इसलिए अशुद्धनय का लक्ष्य छोड़ दे – ऐसा कहते हैं।

प्रश्न :– द्रव्य सामान्य का आलम्बन ही उपादेय है, तो फिर यहाँ रागपरिणाम के ग्रहण-त्यागरूप पर्याय को स्वीकार करनेवाले निश्चयनय को उपादेय क्यों कहा है ?

उत्तर :– रागपरिणाम को करनेवाला भी आत्मा ही है और वीतरागपरिणाम को करनेवाला भी आत्मा ही है; अज्ञानदशा भी आत्मा स्वतंत्ररूप से करता है। – ऐसे यथार्थज्ञान में द्रव्यसामान्य का ज्ञान भी गर्भितरूप से समा जाता है।

जिसको पर्याय की स्वतंत्रता का भाव नहीं है, उसको द्रव्य की स्वतंत्रता समझ में कैसे आ सकती है ? कर्म से विकार होता है – ऐसा माननेवाले को 'मैं ज्ञातादृष्टा हूँ' – यह बात कैसे जँचे ? कर्म से विकार की उत्पत्ति माननेवाले ने अपनी पर्याय को पराधीन माना है। उसको द्रव्य की स्वतंत्रता की बात कैसे समझ में आ सकती है ? अर्थात् नहीं आ सकती।

"यहाँ यह समझना चाहिए कि मिथ्यात्वादि कर्म की प्रकृतियाँ पुद्गलद्रव्य के परमाणु हैं। जीव उपयोगस्वरूप है, उसके उपयोग की ऐसी स्वच्छता है कि पौद्गलिक कर्म का उदय होने पर उसके उदय का जो स्वाद आवे, उसके आकार उपयोग हो जाता है। अज्ञानी को अज्ञान के कारण उस स्वाद का और उपयोग का भेदज्ञान नहीं है, इसलिए वह उस स्वाद को ही अपना भाव समझता है। जब उनका भेदज्ञान होता है अर्थात् जीवभाव को जीव जानता है और अजीवभाव को अजीव जानता है, तब मिथ्यात्व का अभाव होकर सम्यग्ज्ञान होता है।"

ज्ञान में जड़ के स्वाद का ख्याल आता है, परन्तु जड़ का स्वाद ज्ञान में आ नहीं जाता अर्थात् ज्ञान व स्वाद एकमेक नहीं हो जाते। कर्म के उदय का स्वाद आता है अर्थात् उपयोग उसके आकाररूप हो जाता है। ज्ञान की पर्याय में जड़ की पर्याय का ख्याल आता है। वास्तव में तो ज्ञान विकार को जानता ही नहीं है, कर्म के उदय को भी नहीं जानता; परन्तु उस विकार सम्बन्धी अपने ज्ञान को जानता है।

प्रत्येक पर्याय स्वयं से होती है और वह भी क्रमबद्ध होती है। जिस समय जो पर्याय होनी होती है, वही पर्याय उससमय होती है, आगे-पीछे नहीं होती। सामान्य की वह पर्याय 'विशेष' है। जो ऐसा नहीं मानता वह वैशेषिक मत को माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। पर्याय की स्थिति सदा एकरूप नहीं रहती, इसकारण अज्ञानी को भ्रम हो जाता है कि निमित्त मिला तो उसके कारण पर्याय बदल गई है। पानी की ठण्डी अवस्था पलटकर उष्ण हुई तो अज्ञानी को भ्रम हो जाता है कि अग्नि का संयोग मिला तो पानी उष्ण हो गया, परन्तु वस्तुत: ऐसा नहीं है। पानी अपनी तत्समय की योग्यता से उष्ण हुआ है, उसके उष्ण होने का वही स्वकाल था। अग्नि ने पानी को उष्ण नहीं किया है, पानी तो निमित्तमात्र है।

समयसार के २११वें कलश में कहा है :– 'वस्तु की एकरूप (कूटस्थ) स्थिति नहीं होती; इसलिए वस्तु स्वयं ही अपने परिणामस्वरूप कर्म की कर्त्ता है।' ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है, इसलिए राग का ज्ञान होता है। राग मौजूद है, इसलिए राग का ज्ञान नहीं होता है। ज्ञान स्व को जानता है व राग को भी जानता है – ऐसा ज्ञान की पर्याय का स्वतंत्र स्व-परप्रकाशक स्वभाव है। राग को जानने के लिए राग की उपस्थिति आवश्यक नहीं। ज्ञान राग को जानने के लिए राग के आधीन नहीं है। राग को ज्ञान जानता है – ऐसा कहना व्यवहार है। वास्तव में तो आत्मा अपने ज्ञान को ही जानता है। यह बात ७५वीं गाथा में भी आ गई है।

अज्ञानी को अज्ञान के कारण उस स्वाद का व उपयोग का भेदज्ञान नहीं है, इसकारण वह स्वाद को ही अपना भाव जानता है। अज्ञानी को इसकी खबर नहीं है। यह जो स्वाद जानने में आता है, वह परवस्तु है; तथा अपनी पर्याय में जो मिथ्यात्वादि भाव होता है, वह मेरी वस्तु है – ऐसा भेदज्ञान अज्ञानी को नहीं है।

जीव को जब उनका भेदज्ञान हो जाता है अर्थात् वह जब जीवभाव को जीवरूप तथा अजीवभाव को अजीवरूप जानता है, तब मिथ्यात्व का अभाव होकर सम्यग्ज्ञान होता है और तब ज्ञान की पर्याय स्व को जानती है तथा राग को भी (भिन्नपने) जानती है। भेदज्ञान होने पर ज्ञान का स्व-परप्रकाशक स्वभाव होने से ज्ञान स्वयं में रहकर स्व-पर को जानता है, वही सम्यग्ज्ञान है।

काविह जीवाजीवाविति चेत् –

पोग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अण्णाणमज्जीवं ।
उवओगो अण्णाणं अविरदि मिच्छं च जीवो दु ।।८८।।

पुद्गलकर्म मिथ्यात्वं योगोऽविरतिरज्ञानमजीवः ।
उपयोगोऽज्ञानमविरतिर्मिथ्यात्वं च जीवस्तु ।।८८।।

यः खलु मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादिरजीवस्तदमूर्ताच्चैतन्य-परिणामादन्यत् मूर्तं पुद्गलकर्म; यस्तु मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादिः जीवः स मूर्तात्पुद्गलकर्मणोऽन्यश्चैतन्यपरिणामस्य विकारः ।

अब प्रश्न करता है कि मिथ्यात्वादि को जीव और अजीव कहा है, अतः वे जीव मिथ्यात्वादि और अजीव मिथ्यात्वादि कौन हैं ? उसका उत्तर कहते हैं :–

मिथ्यात्व अरु अज्ञान आदि अजीव पुद्गलकर्म हैं ।
अज्ञान अरु अविरमण अरु मिथ्यात्व जीव उपयोग हैं ।।८८।।

गाथार्थ :– [मिथ्यात्वं] जो मिथ्यात्व, [योगः] योग, [अविरतिः] अविरति और [अज्ञानम्] अज्ञान [अजीवः] अजीव है, सो तो [पुद्गलकर्म] पुद्गलकर्म है; [च] और जो [अज्ञानम्] अज्ञान, [अविरतिः] अविरति और [मिथ्यात्वं] मिथ्यात्व [जीवः] जीव है; [तु] वह [उपयोगः] उपयोग हैं ।

टीका :– निश्चय से जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि अजीव हैं; वे तो अमूर्तिक चैतन्यपरिणाम से अन्य मूर्तिक पुद्गलकर्म हैं और जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति आदि जीव हैं, वे मूर्तिक पुद्गलकर्म से अन्य चैतन्यपरिणाम के विकार हैं ।

गाथा ८८ की उत्थानिका, गाथा एवं टीका पर प्रवचन

मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान तथा मिथ्याचारित्र जीव की पर्यायें हैं; ये अमूर्तिक चैतन्य के विकारी परिणाम हैं। तथा जो दर्शनमोहनीय, ज्ञानावरणीय व चारित्रमोहनीय की पर्यायें हैं; वे पौद्गलिक कर्म हैं, जड़

हैं, मूर्तिक हैं। दोनों ही वस्तुएँ परस्पर भिन्न हैं। तात्पर्य यह है कि मिथ्यादर्शन, अज्ञान व अविरतिस्वरूप जो जीव की पर्यायें हैं; वे जीव के स्वयं के दोष हैं और जीव से स्वयं हुए हैं, कर्म से नहीं।

पुद्गल की अवस्था से भिन्न, राग-द्वेषरहित आत्मा त्रिकाली शुद्ध-चैतन्यतत्त्व है, तथापि 'मैं रागी-द्वेषी हूँ' – ऐसी मान्यता चैतन्य का विकार है और वही मिथ्यात्व है। जो ज्ञान अपने त्रिकाली शुद्ध स्वद्रव्य को तो नहीं जानता तथा मात्र परद्रव्य को ही जानता है – वह ज्ञान नहीं, बल्कि अज्ञान है। राग-द्वेषरूप जो परिणमन है, वह अविरतिरूप दोष है। मिथ्यात्व, अज्ञान व अविरति चैतन्य के विकारी परिणाम हैं तथा ये स्वयं से ही हुए हैं, पुद्गलकर्म से नहीं हुए; क्योंकि ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

सम्यग्दृष्टि को स्वभावसन्मुखता का जोर है – इसकारण उसे जो राग आता है, उसका उसे खेद होता है; क्योंकि धर्मी सम्यग्दृष्टि राग का स्वामी नहीं है। देखो, प्रथम स्वर्ग का इन्द्र एक भवावतारी है। वह अष्टाह्निका महोत्सव में नन्दीश्वर द्वीप में जाता है। नन्दीश्वर द्वीप में भगवान के मनोहर शाश्वत अकृत्रिम जिनबिम्ब हैं। वहाँ जाकर वह भगवान की पूजा-भक्ति करता है तथा खूब उल्लास से नाचता है। यद्यपि 'ये सब शुभभाव दुःखरूप हैं' – ऐसा वह जानता है, तथापि अशुभ से बचने के लिए सम्यग्दृष्टि को भी शुभभाव आते हैं। अहाहा....! कैसी विचित्रता है। बाहर से जिसका हर्ष दिखाई देता है, अन्दर से उसी बात का खेद होता है। जिस धर्मी जीव को अतीन्द्रिय आनन्द के नाथ का स्वाद आ गया है; यदि उसे कोई रागादि दोष आ जाता है तो उसका अल्पबन्ध तो उसे होता है, किन्तु वह दोष द्रव्यदृष्टि की मुख्यता में मुख्य नहीं है, गौण है।

प्रश्न :– ज्ञानी के भोग तो निर्जरा के हेतु कहे गये हैं न ?

उत्तर :– हाँ, परन्तु ज्ञानी के भोगों को निर्जरा का हेतु अपेक्षा से ही कहा गया है। ज्ञानी की दृष्टि निर्मलानन्द के नाथ भगवान शुद्ध चैतन्यमय आत्मा पर स्थिर हुई है तथा उसको अनन्तानुबन्धी आदि कषाय का अभाव है, इसकारण व्रतादि क्रिया में अथवा किञ्चित् भोग-विलास की क्रिया के प्रसंग में भी उसको ज्ञानभाव ही है; इसलिए उसको निरन्तर निर्जरा होने से ज्ञानी के भोग निर्जरा के हेतु कहे गये हैं, परन्तु वह आरोपित कथन है। क्या भोग भी निर्जरा के हेतु हो सकते हैं ? और क्या ज्ञानी निरंकुश भोग में रह सकता है ? नहीं, कदापि नहीं। भाई ! ज्ञानी को

दृष्टि की प्रधानता है, उसको भोग की इच्छा नहीं है। वह भोगों के प्रति उदासीन है। यद्यपि भोगों के स्वामीपने से परिणमित नहीं होने से ज्ञानी के भोग निर्जरा के हेतु कहे गये हैं, तथापि यह कहना भी मात्र उपचार है। भाई! जहाँ जो अपेक्षा हो, उसे यथार्थ समझना चाहिए।

ज्ञानी को भी जो किञ्चित् राग आता है, वह दोष है और दुःखस्वरूप है—ऐसा ज्ञानी जानते हैं; क्योंकि राग बन्धन का कारण है। मुनि को महाव्रत का जो विकल्प आता है, वह राग है, जगपन्थ है; क्योंकि वह उदयभाव है। अहो! मुनि के पञ्च महाव्रत के भाव भी जब दुःखरूप जगपन्थ हैं तो अशुभभाव का तो कहना ही क्या है? उसमें तो हानि ही हानि है तथा मिथ्यादृष्टि को जो विषयवासना व परस्त्रीसेवन आदि के तीव्र अशुभभाव होते हैं, वे तो दुर्गति के ही कारण हैं।

यहाँ कहते हैं कि जो मिथ्यादर्शन आदि भाव अजीव हैं; वे तो मूर्त्तिक पुद्गलकर्म हैं, अमूर्त्तिक चैतन्यपरिणाम से भिन्न हैं तथा जो मिथ्यादर्शन आदि भाव जीव हैं; वे चैतन्यपरिणाम के विकार हैं, वे मूर्त्तिक पुद्गलकर्म से भिन्न हैं।

भाई! भेदज्ञान व सम्यग्दर्शन कोई अलौकिक वस्तु है। ऊपर-ऊपर से मानने पर सिद्ध होनेवाली वस्तु नहीं है। अपना चैतन्य भगवान अनाकुल शान्तरस का ध्रुवकन्द है। उसकी दृष्टि करने पर राग की दृष्टि छूट जाती है। अरे, जिस भाव से तीर्थंकर नामकर्म बँधता है, उस भाव की भी रुचि धर्मी को छूट जाती है; अन्य की तो बात ही क्या है?

> शास्त्रों में सम्यग्दृष्टि के विषयभोगादिक को बन्ध का कारण नहीं कहा, निर्जरा का कारण कहा; परन्तु यहाँ भोगों का उपादेयपना नहीं जान लेना। वहाँ सम्यग्दृष्टि की महिमा बतलाने को जो तीव्रबन्ध के कारण भोगादिक प्रसिद्ध थे, उन भोगादिक के होने पर भी श्रद्धानशक्ति के बल से मन्द बन्ध होने लगा, उसे गिना नहीं और उसी बल से निर्जरा विशेष होने लगी, अतः उपचार से भोगों को भी बन्ध का कारण नहीं कहा, निर्जरा का कारण कहा। विचार करने पर भोग निर्जरा के कारण हों तो उन्हें छोड़कर सम्यग्दृष्टि मुनिपद का ग्रहण किसलिये करे? यहाँ इस कथन का इतना ही प्रयोजन है कि देखो, सम्यक्त्व की महिमा! जिसके बल से भोग भी अपने गुण को नहीं कर सकता है।
>
> —पं० टोडरमल, मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २८५

समयसार गाथा ८९

मिथ्यादर्शनादिचैतन्यपरिणामस्य विकारः कुत इति चेत् –

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णादव्वो ॥८९॥

उपयोगस्यानादयः परिणामास्त्रयो मोहयुक्तस्य ।
मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिभावश्च ज्ञातव्यः ॥८९॥

उपयोगस्य हि स्वरसत एव समस्तवस्तुस्वभावभूतस्वरूपपरिणाम-समर्थत्वे सत्यनादिवस्त्वंतरभूतमोहयुक्तत्वान्मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरिति त्रिविधः परिणामविकारः । स तु तस्य स्फटिकस्वच्छताया इव परतोऽपि प्रभवन् दृष्टः । यथा हि स्फटिकस्वच्छतायाः स्वरूपपरिणामसमर्थत्वे सति कदाचिन्नीलहरितपीततमालकदलीकांचनपात्रोपाश्रययुक्तत्वान्नीलो हरितः

अब पुनः प्रश्न करता है कि मिथ्यादर्शनादि चैतन्यपरिणाम का विकार कहाँ से हुआ ? इसका उत्तर गाथा में कहते हैं :–

है मोहयुत उपयोग का परिणाम तीन अनादि का ।
मिथ्यात्व अरु अज्ञान, अविरतभाव – ये त्रय जानना ॥८९॥

गाथार्थ :– [मोहयुक्तस्य] अनादि से मोहयुक्त होने से [उपयोगस्य] उपयोग के [अनादयः] अनादि से लेकर [त्रयः परिणामाः] तीन परिणाम हैं; वे [मिथ्यात्वम्] मिथ्यात्व, [अज्ञानम्] अज्ञान [च अविरतिभावः] और अविरतिभाव [ज्ञातव्यः] जानना चाहिये ।

टीका :– यद्यपि निश्चय से अपने निजरस से ही सर्व वस्तुओं की अपने स्वभावभूत स्वरूप-परिणमन में सामर्थ्य है; तथापि (आत्मा का) अनादि से अन्यवस्तुभूत मोह के साथ संयुक्तपना होने से आत्मा के उपयोग का मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति के भेद से तीन प्रकार का परिणाम-विकार है । उपयोग का वह परिणामविकार, स्फटिक की स्वच्छता के परिणामविकार की भाँति पर के कारण (पर की उपाधि से) उत्पन्न होता दिखाई देता है । इसी बात को स्पष्ट करते हैं – जैसे स्फटिक की स्वरूप-परिणमन में (अपने उज्ज्वलतारूप स्वरूपपरिणमन करने में) सामर्थ्य होने पर भी कदाचित् (स्फटिक के) काले, हरे और पीले रंग के तमाल, केल

पीत इति त्रिविधः परिणामविकारो दृष्टस्तथोपयोगस्यानादिमिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिस्वभाववस्त्वंतरभूतमोहयुक्तत्वान्मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरिति त्रिविधः परिणामविकारो दृष्टव्यः।

और सोने के पात्ररूपी आधार का संयोग होने से स्फटिक की स्वच्छता का काला, हरा और पीला—ऐसे तीन प्रकार का परिणामविकार दिखाई देता है; उसीप्रकार (आत्मा के) अनादि से मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति जिसका स्वभाव है—ऐसे अन्यवस्तुभूत मोह का संयोग होने से आत्मा के उपयोग का मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति—ऐसे तीन प्रकार का परिणामविकार समझना चाहिये।

भावार्थ :— आत्मा के उपयोग में यह तीन प्रकार का परिणामविकार अनादि कर्म के निमित्त से है। ऐसा नहीं है कि पहले यह शुद्ध ही था और अब इसमें नया परिणामविकार हो गया। यदि ऐसा हो तो सिद्धों के भी नया परिणामविकार होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता; इसलिये यह समझना चाहिये कि वह अनादि से ही है।

गाथा ८९ की उत्थानिका, गाथा एवं टीका पर प्रवचन

"यद्यपि निश्चय से अपने निजरस से ही सर्ववस्तुओं की अपने स्वभावभूत स्वरूपपरिणमन में सामर्थ्य है, तथापि आत्मा का अनादि से अन्यवस्तुभूत मोह के साथ संयुक्तपना होने से आत्मा के उपयोग का मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति के भेद से तीन प्रकार का परिणामविकार है।"

आचार्य कहते हैं कि आत्मा व पुद्गलपरमाणु आदि प्रत्येक पदार्थ में अपने स्वभाव की शक्ति से स्वभावभूत परिणमन करने की पूर्ण सामर्थ्य है। भगवान आत्मा में निश्चय से अपने निजरस से अर्थात् ज्ञानरस से, आनन्दरस से, शान्तरस से, निर्विकाररस से, अपने में स्वभावभूतशक्ति होने से स्वरूप में परिणमन करने की सामर्थ्य है। पुण्य-पाप के भाव स्वभावभूत परिणमन नहीं हैं, किन्तु भगवान आत्मा अपने अनाकुल आनन्द, अतीन्द्रिय ज्ञान व अतीन्द्रिय स्वच्छता के अपने शुद्धस्वभाव से परिणमित होने की सामर्थ्यवाला है।

अन्यवस्तुभूत मोह के साथ अनादि से संयुक्तपना होने से अर्थात् इनके संयोग के आश्रय से विकार उत्पन्न होता है। संयोग से विकार उत्पन्न नहीं होता, बल्कि जड़मोह के संयोग के आश्रय से, पर का सम्बन्ध करने से

आत्मा के उपयोग का मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरतिरूप तीन प्रकार का परिणामविकार होता है।

अहाहा....! आत्मा में निजरस से चैतन्यमय स्वभाव का अनुभव होकर स्वाभाविक परिणमन होता है – ऐसी इसकी सामर्थ्य है। आत्मा के द्रव्य-गुण तथा उसका वर्तमान वर्त्तता अंश कारणशुद्धपर्याय तो शान्तरस, चैतन्यरस, अकषायरस के कारण तो शुद्ध है, पवित्र है तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मलपरिणतिरूप से परिणमन करने की इसकी सामर्थ्य है। अहाहा ! भगवान आत्मा तो अतीन्द्रिय आनंन्दरस व अतीन्द्रिय ज्ञानरस का स्वामी होकर अतीन्द्रिय आनन्दरूप से परिणमन करने की सामर्थ्यवाला है; फिर भी अनादिकाल से अन्यवस्तु अर्थात् जड़मोह के साथ सम्वन्ध करने से उपयोग में विकारी परिणाम उत्पन्न होता है। भगवान आत्मा का जानने-देखनेरूप उपयोग तो सदा निर्मल व शुद्ध है; उसमें अनादि मोहकर्म के संयोग के वश मिथ्यात्व, अज्ञान व अविरति – ऐसे तीन प्रकार से विकारी परिणाम की स्वयं उत्पत्ति होती है।

समयसार के १७५ वें कलश में कहा है कि जैसे सूर्यकान्तमणि अपने से ही अग्निरूप नहीं परिणमता, उसके अग्निरूप परिणमन में सूर्य का विम्व निमित्त है; उसीतरह आत्मा स्वयं रागादिभाव का निमित्त कभी भी नहीं होता, उसमें परद्रव्य का संग ही निमित्त है – ऐसा वस्तु का स्वभाव प्रकाशमान है। यद्यपि विकार परसंग से नहीं होता; परन्तु जब परद्रव्य का संग जीव स्वयं करता है, तब रागादि विकार होता है।

जीव में मिथ्यात्वादि परिणाम अपने षट्कारक के परिणमन से होते हैं – ऐसा पंचास्तिकायसंग्रह की ६२वीं गाथा में कहा है। शुद्धचैतन्य-स्वभावमय निज आत्मा का संग छोड़कर जीव कर्म का संग करता है तो अपने में विकारभाव स्वयं से उत्पन्न होता है – यह महासिद्धान्त है।

भगवान वीतरागदेव का यह अलौकिक मार्ग है। गणधरदेवों ने तथा एक भवावतारी द्वादशांग के पाठी इन्द्रों ने जिसे स्वीकार किया है – यह वही वीतरागी मार्ग है। मध्यलोक में असंख्य द्वीप-समुद्र हैं, उनमें अन्तिम स्वयंभूरमण नाम का समुद्र हैं। उसमें हजार-हजार योजन लम्बे मगरमच्छ हैं, उसी में पंचम गुणस्थानवाले जीव भी हैं। वे भी तो आत्मा हैं न ? अन्तर्दृष्टि करने से उन्हें भी आत्मा का भान हो सकता है। पशुपर्याय में भी सम्यग्दर्शन व व्रत होते हैं। यहाँ कोई पूछता है कि आत्मा तो चैतन्य की जगमगाती ज्योतिस्वरूप शान्ति का सागर है, उसमें यह राग

कहाँ से आया ? उससे आचार्य कहते हैं कि पर्याय में इस आत्मा ने पर का संग किया तो राग उत्पन्न हुआ है। अपना संग करे अर्थात् स्वभाव का आश्रय लेवे तो राग उत्पन्न नहीं होवे। अपना स्वभाव सदा शुद्ध है, उसका संग करे, उसका लक्ष्य करे तो शुद्धता ही प्रगट होती है।

भाई ! यह बात सुनकर, समझकर अन्तर आत्मा में वस्तुस्वरूप का निजतत्त्व का निर्णय करना। कुछ लोग तो ऐसे होते हैं कि जहाँ जाते हैं, वहीं की बात पर 'हाँ' करते हैं, क्योंकि सबको राजी रखना है न ? भाई ! **गंगा गये गंगादास, जमुना गये जमुनादास** – इस लोकोक्ति के अनुसार जगत् भले ही राज़ी हो जाय, पर आत्मा राजी नहीं होगा। सुनने का तात्पर्य तो यह है कि जो राग से भिन्न शुद्ध चैतन्यस्वभावमय परिपूर्ण प्रभु आत्मा अन्दर विराजता है – उसका निर्णय करके उसकी प्रतीति करना, उसका अनुभव करना। यह लोकरंजन की बात नहीं है, यह तो आत्मा के हित की बात है और आत्मा के हित के लिए ही कही जाती है।

यहाँ कहते हैं कि सर्व पदार्थ अपने निजरस से अपने स्वभावभूत स्वरूप-परिणमन में समर्थ हैं। परमाणु यदि स्वतंत्र हो, तब तो उसमें शुद्ध परिणमन होता है – ऐसी उसकी सामर्थ्य है; परन्तु जब वही परमाणु दूसरे स्कन्ध के संग में जाता है, तब विभाव पर्याय होती है। दो परमाणुओं से लेकर अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध में विभाव पर्याय उत्पन्न होती है। यह विभाव परसंग के निमित्त से और जीव के स्वयं के कारण होता है। धर्मास्तिकाय आदि चार द्रव्य में तो द्रव्य, गुण व पर्याय – तीनों ही शुद्ध हैं, उनमें विभाव परिणाम नहीं होता। मात्र परमाणु व आत्मा – इन दो द्रव्यों में ही विभाव परिणाम होता है।

आत्मा के उपयोग का पर के ऊपर लक्ष्य होने से मिथ्याश्रद्धा, अज्ञान व अविरतिरूप तीन प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं। पर के कारण तो नहीं, किन्तु पर का संग करने से तीन प्रकार के विकारी परिणाम स्वयं में स्वयं से उत्पन्न होते हैं। अरे ! यदि इतनी-सी स्वतंत्रता की बात भी समझ में नहीं आये तो अन्तर में कैसे जा सकेगा ?

"उपयोग का वह परिणामविकार स्फटिक की स्वच्छता के परिणाम-विकार की भाँति पर के कारण (पर की उपाधि से) उत्पन्न होता दिखाई देता है। इसी बात को स्पष्ट करते हैं – जैसे स्फटिक की स्वच्छता की स्वरूपपरिणमन में (अर्थात् अपने उज्जवलतारूप स्वरूप में परिणमन करने की) सामर्थ्य होने पर भी कदाचित् स्फटिक के काले, हरे और पीले

रंग के तमाल, केल और स्वर्ण के पात्ररूपी आधार का संयोग होने से स्फटिक की स्वच्छता का काला, हरा और पीला – ऐसे तीन प्रकार का परिणाम विकार दिखाई देता है।"

देखो, स्फटिक में जो काली, पीली व हरी छाया दिखाई देती है, वह पर के संयोग के संग से, स्फटिक में स्फटिक के कारण से ही उत्पन्न होती है। लोहे की चार हाथ की लम्बी छड़ का एक कोना उष्ण होने पर दूसरा कोना भी उष्ण हो जाता है; वह छड़ की स्वयं की योग्यता से होता है, अग्नि के कारण नहीं। चार हाथ लम्बी लकड़ी हो, परन्तु उसका एक कोना उष्ण होने पर दूसरा कोना उष्ण नहीं होता, क्योंकि लकड़ी की पर्याय की वैसी योग्यता नहीं है।

अहो ! सन्तों की कैसी करुणा है; परन्तु जीवों को समझने की रुचि नहीं है, गरज नहीं है। सन्तों का यह भाव नहीं था कि दुनिया समझ लेगी तो हमें लाभ होगा, तथापि उस भूमिका में ऐसा समझाने का सहज भाव आया तो जगत के समक्ष सत्य बात जाहिर कर दी। वे कहते हैं कि स्फटिक में जो काली-पीली झाँई दिखाई देती है, वह वस्तुतः तो अपने षट्कारक के परिणमन से हुई है; पर के कारण नहीं तथा अपने द्रव्य-गुण के कारण से भी नहीं। प्रभु ! बात बहुत सूक्ष्म है। सन्त पुकार-पुकार कर कहते हैं कि तेरे ही अपराध से तुझमें रागपरिणाम होता है, पर के कारण नहीं।

कोई ऐसा कहे कि 'अमुक ने गाली दी, इसकारण मुझे क्रोध आ गया तो उसका ऐसा मानना ठीक नहीं है। गाली तो परवस्तु है, भाषा-वर्गणा का परिणमन है। तुझे जो क्रोध हुआ – वह तेरे ही कारण से हुआ है, गाली के कारण नहीं। प्रवचनसार की ६७वीं गाथा में कहा है कि राग-द्वेष उत्पन्न होने में पंचेन्द्रियों के विषय अकिञ्चित्कर हैं। विषय तो जड़ हैं, वे जीव को राग कैसे उत्पन्न करा सकते हैं ? राग स्वयं से उत्पन्न होता है। परपदार्थ जीव को राग होने में अकिञ्चित्कर हैं। पाँच इन्द्रियों के विषय जीव को राग उत्पन्न नहीं करते। गाली का शब्द कान में पड़ा, इसलिए द्वेष उत्पन्न हुआ तथा किसी ने प्रशंसा की, इसलिए हर्ष हुआ – ऐसा नहीं है। मैसूर व रसगुल्ला खाने का जो राग हुआ, उस राग होने में मैसूर व रसगुल्ला अकिञ्चित्कर हैं। जीव को राग होने में पंचेन्द्रिय के विषय कारण नहीं हैं।

प्रवचनसार की इसी गाथा के भावार्थ में कहा है – "संसार में या मोक्ष में आत्मा अपने कारण ही सुखरूप परिणमित होता है; उसमें विषय

अकिञ्चित्कर हैं, अर्थात् कुछ नहीं कर सकते । अज्ञानी विषयों को सुख का कारण मानकर व्यर्थ में ही उनका अवलम्बन लेते हैं ।" स्त्री राग का विषय है, वह विषय उसके प्रति राग होने में अकिञ्चित्कर है । स्त्री का कोमल शरीर देखकर राग हुआ, यह निमित्त का कथन है; किन्तु स्त्री का शरीर राग होने में अकिञ्चित्कर है । शास्त्रों में निमित्त को अकिञ्चित्कर ही कहा गया है ।

समयसार के २२१वें कलश में ऐसा कहा है – "जो राग की उत्पत्ति में परद्रव्य का ही निमित्तपना (कारणपना) मानते हैं (अपना कारणपना नहीं मानते) वे, जिनकी बुद्धि शुद्धज्ञान से रहित अन्ध है – ऐसे (अर्थात् जिनकी बुद्धि शुद्धनय के विषयभूत शुद्ध आत्मस्वरूप के ज्ञान से रहित अन्ध है – ऐसे) जीव मोहनदी से पार नहीं उतर सकते ।" जीव में राग अपने स्वयं के कारण होता है, राग की उत्पत्ति में परवस्तु अकिञ्चित्कर है । गन्ने का रस देखकर उस विषयक जो राग हुआ, वह स्वयं से स्वतन्त्रपने हुआ है, रसना (जिह्वा) के कारण नहीं । स्फटिक की स्वच्छता में काला, हरा व पीला – ऐसे तीन प्रकार के परिणामविकार दिखाई देते हैं; वहाँ तमाल, केल व कंचन के पात्ररूपी आधार का जो संयोग है, वह निमित्त है; परन्तु वह निमित्त कर्त्ता नहीं हैं । जो काली झाँई दिखाई देती है, वह तमाल के कारण नहीं है ।

"उसीप्रकार (आत्मा को) अनादि से मिथ्यादर्शन, अज्ञान व अविरति जिसका स्वभाव है – ऐसे अन्यवस्तुभूत मोह का संयोग होने से आत्मा के उपयोग का, मिथ्यादर्शन, अज्ञान व अविरति – ऐसे तीन प्रकार का परिणाम-विकार समझना चाहिये ।"

देखो ! मिथ्यादर्शन, अज्ञान व अविरति – ये अन्यवस्तुभूत जड़मोह कर्म के स्वभाव हैं; उस मोह का संयोग अर्थात् निमित्त होने से आत्मा में मिथ्या-दर्शन आदि परिणाम होते हैं । संयोग तो निमित्तमात्र है, द्रव्यकर्म के संयोग के कारण से मिथ्यात्वादि विकारपरिणाम नहीं होते । जैसे स्फटिक में काली, हरी, पीली झाँई दिखाई देती है, वह स्फटिक की पर्याय की योग्यता से हुई है, बर्तनों (आधारों) ने नहीं की है, उसीप्रकार जीव में हुए मिथ्यात्वादिभाव जीव की पर्याय की योग्यता से हुए हैं, जड़मोहकर्म ने नहीं किये हैं, जड़मोह तो निमित्तमात्र हैं ।

लोहे की सलाक (छड़) की जो उष्ण-अवस्था होती है, उसकी कर्त्ता लोहे की सलाकरूप पर्याय ही है । अभेद से कहें तो लोहा द्रव्य ही उस उष्णता का कर्त्ता है, अग्नि नहीं । ये इन्द्रिय-विषय (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श

व शब्द) सुख-दुःख होने में निमित्त हैं, परन्तु ये इन्द्रियों के विषय सुख-दुःख उत्पन्न नहीं करते।

प्रवचनसार की ६६वीं गाथा में कहा है – "एकान्त से अर्थात् नियम से स्वर्ग में भी देह देही को (आत्मा को) सुख नहीं देता; परन्तु विषयों के वश से सुखरूप अथवा दुःखरूप स्वयं आत्मा होता है।" स्वयं में जो सुख होता है, उस सुख का कर्त्ता देह नहीं है; देह तो सुख में निमित्त है। इसका भावार्थ यह है कि स्वर्ग में जो सुख की कल्पना हुई, वह सुन्दर वैक्रियक देह के कारण से नहीं हुई है; वल्कि उस सुख की कल्पना का कर्त्ता उसरूप होनेवाली कल्पनाओं की परिणति ही है। अहो! दिगम्बर मुनियों द्वारा रचे गये शास्त्रों में परमसत्य का निरूपण हुआ है। भाई! यह सर्वज्ञ की वाणी है। वाणी की पर्याय ही निश्चय से वाणी की कर्त्ता है, सर्वज्ञ नहीं; सर्वज्ञ निमित्त है, परन्तु उपादान के कार्य में निमित्त अकिञ्चित्कर है।

अन्यवस्तुभूत मोह के संयोग से जीव में विकारपरिणाम होता है। मिथ्यादर्शन अर्थात् दर्शनमोहनीय, अज्ञान अर्थात् ज्ञानावरणी तथा अविरति अर्थात् चारित्रमोहनीयरूप कर्म जिसका स्वभाव है – ऐसे अन्य-वस्तुभूत मोह के संयोग से, निमित्त से आत्मा के उपयोग में मिथ्यादर्शन, अज्ञान व अविरति – ऐसे तीन प्रकार के विकारपरिणाम होते हैं। आगे ९०वीं गाथा में इसका विशेष स्पष्टीकरण करेंगे।

केवलज्ञान में लोकालोक निमित्त है अर्थात् क्या लोकालोक केवलज्ञान का कर्त्ता है? विलकुल नहीं तथा लोकालोक को केवलज्ञान निमित्त है, तो क्या केवलज्ञान लोकालोक का कर्त्ता है? नहीं, विल्कुल नहीं।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धरत्नत्रय का परिणाम निश्चय-मोक्षमार्ग है तथा यही यथार्थ मोक्षमार्ग है। साथ में व्यवहार-रत्नत्रय का जो राग है, उसे सहचर व निमित्त देखकर उपचार से मोक्षमार्ग कहने में आया है – यह वात मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अधिकार में कही है। व्यवहार-रत्नत्रय को निमित्त देखकर आरोप से मोक्षमार्ग कहा है, परन्तु वह व्यवहार-रत्नत्रय निमित्त है, निश्चय-मोक्षमार्ग का कर्त्ता नहीं है, शुद्धरत्नत्रय का कर्त्ता नहीं है।

यह लकड़ी ऊँची हुई, इसमें अँगुली निमित्त है, परन्तु जो लकड़ी ऊँची हुई, उस ऊँची होनेरूप क्रिया का कर्त्ता अँगुली नहीं है। यह जो भाषा वोलते हैं, उसमें जीव का राग व ज्ञान निमित्त है; परन्तु वह राग व ज्ञान

भाषा की पर्याय के कर्त्ता नहीं हैं। तीनों काल निमित्त व उपादान की स्वतंत्रता है – ऐसे स्पष्टीकरण से भरपूर ढिंढोरा आचार्यों ने पीटा है।

गाथा ८९ के भावार्थ पर प्रवचन

"आत्मा के उपयोग में यह तीन प्रकार का परिणामविकार अनादि कर्म के निमित्त से है।" आत्मवस्तु स्वभाव से तो त्रिकाल शुद्ध है, परन्तु उसकी अवस्था में अनादि से विकार है तथा उसमें मोहकर्म निमित्त है। मोहकर्म निमित्त है, इसलिये मोहकर्म ने विकार कराया हो – ऐसा नहीं है। कर्म जीव के विकार का कर्त्ता नहीं है, किन्तु जीव में विकार स्वयं से है, उसमें मोहकर्म निमित्त है। आत्मा में अनादि से मिथ्यात्वदशा है, उसमें दर्शनमोहनीय कर्म निमित्त है; परन्तु वह मिथ्यात्वदशा का कर्त्ता नहीं है।

ऐसा नहीं है कि यह आत्मा पहले शुद्ध ही था और अब इसमें नया परिणामविकार हो गया है। पर्याय में विकार अनादि का है तथा कर्म का निमित्त भी अनादि का है। समय-समय नवीन पर्याय उत्पन्न होकर भी प्रवाहरूप आत्मा की पर्याय में विकार अनादिकाल से है। 'शरीर मेरा है, इन्द्रियाँ मेरी हैं, राग मेरा है' – ऐसी मान्यतासहित जीव को अनादिपरम्परा से विकार है। यह परिणामविकार कोई नया नहीं है। यदि ऐसा हो तो सिद्धों को भी नया परिणामविकार होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता; इसलिए यह समझना चाहिये कि वह अनादि से है।

प्रश्न – स्फटिक में जो लाल झाँई दिखाई देती है, वह प्रत्यक्ष ही लाल वर्तन के कारण दिखाई देती है न ?

उत्तर :– नहीं; स्फटिक में जो लाल झाँई दिखाई देती है, वह लाल वर्तन के कारण नहीं है। स्फटिक अपनी उज्ज्वल अवस्था पलटकर लाल झाँई की अवस्थारूप से परिणमा है। लाल वर्तन का संयोग तो निमित्त-मात्र है, वह निमित्त उस स्फटिक की लाल अवस्था का कर्त्ता नहीं है। अपनी लाल झाँई की अवस्था का कर्त्ता स्फटिक स्वयं है; उसीप्रकार जीव के विकार का कर्त्ता दर्शनमोहनीय कर्म नहीं है, दर्शनमोहनीय कर्म तो निमित्तमात्र है। जीव के विकार का कर्त्ता निश्चय से विकार स्वयं है। (तथा अभेद से कहें तो जीव स्वयं है।)[1]

---

[1] गुजराती प्रवचनरत्नाकर भाग ४ का अनुवाद यहीं तक है। इसके बाद ९०वीं गाथा का अनुवाद भाग ५ से किया गया है। – सम्पादक

अथात्मनस्त्रिविधपरिणामविकारस्य कर्तृत्वं दर्शयति —

एदेसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो ।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता ॥९०॥

एतेषु चोपयोगस्त्रिविधः शुद्धो निरंजनो भावः ।
यं स करोति भावमुपयोगस्तस्य स कर्ता ॥९०॥

अथैवमयमनादिवस्त्वंतरभूतमोहयुक्तत्वादात्मन्युत्प्लवमानेषु मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिभावेषु परिणामविकारेषु त्रिष्वेतेषु निमित्तभूतेषु परमार्थतः शुद्धनिरंजनानादिनिधनवस्तुसर्वस्वभूतचिन्मात्रभावत्वेनैकविधोऽप्यशुद्धसांजनानेकभावत्वमापद्यमानस्त्रिविधो भूत्वा स्वयमज्ञानीभूतः कर्तृत्वमुपढौकमानो विकारेण परिणम्य यं यं भावमात्मनः करोति तस्य तस्य किलोपयोगः कर्ता स्यात् ।

अब आत्मा के तीन प्रकार के परिणामविकार का कर्तृत्व बतलाते हैं:—

इससे हि है उपयोग त्रयविध, शुद्ध निर्मल भाव जो ।
जो भाव कुछ भी वह करे, उस भाव का कर्त्ता बने ॥९०॥

गाथार्थ :— [एतेषु च] अनादि से ये तीन प्रकार के परिणामविकार होने से [उपयोगः] आत्मा का उपयोग [शुद्धः] यद्यपि (शुद्धनय से) शुद्ध, [निरंजनः] निरंजन [भावः] (एक) भाव है; तथापि [त्रिविधः] तीन प्रकार का होता हुआ [सः उपयोगः] वह 'उपयोग' [यं] जिस [भावम्] (विकारी) भाव को [करोति] स्वयं करता है, [तस्य] उस भाव का [सः] वह [कर्ता] कर्त्ता [भवति] होता है ।

टीका :— इसप्रकार अनादि से अन्यवस्तुभूत मोह के साथ संयुक्तता के कारण अपने में उत्पन्न होनेवाले जो यह तीन मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरतिभावरूप परिणामविकार हैं; उनके निमित्त से (कारण से) — यद्यपि परमार्थ से तो उपयोग शुद्ध, निरंजन, अनादिनिधन वस्तु के सर्वस्वभूत चैतन्यमात्रभावपने से एक प्रकार का है; तथापि — अशुद्ध, सांजन, अनेकभावता को प्राप्त होता हुआ तीन प्रकार का होकर स्वयं अज्ञानी होता हुआ कर्तृत्व को प्राप्त, विकाररूप परिणमित होकर जिस-जिस भाव को अपना करता है, उस-उस भाव का वह उपयोग कर्त्ता होता है ।

भावार्थ :– पहले कहा था कि जो परिणमित होता है, सो कर्त्ता है। यहाँ अज्ञानरूप होकर उपयोग परिणमित हुआ; इसलिये जिस भावरूप वह परिणमित हुआ, उस भाव का उसे कर्त्ता कहा है। इसप्रकार उपयोग को कर्त्ता जानना चाहिये। यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनय से आत्मा कर्त्ता नहीं है, तथापि उपयोग और आत्मा एक वस्तु होने से अशुद्धद्रव्यार्थिकनय से आत्मा को भी कर्त्ता कहा जाता है।

गाथा ९० की उत्थानिका, गाथा एवं टीका पर प्रवचन

देखो, आचार्यदेव ने कैसी अद्भुत बात की है ? कहते हैं कि परमार्थ से उपयोग शुद्ध है, निरंजन है, अनादिनिधन वस्तु के सर्वस्वभूत चैतन्यमात्र-*भावपने से एक प्रकार का है। अहाहा…! आत्मा के त्रिकाली ज्ञान-दर्शन* का जो उपयोग है, वह शुद्ध है। द्रव्य शुद्ध, उसके गुण शुद्ध तथा उनका वर्त्तमान वर्तता त्रिकाली कारणपर्यायरूप अंश भी शुद्ध है। निरंजन अर्थात् अंजनरहित – मलिनतारहित है तथा अनादिनिधन अर्थात् अनादि-अनन्त है। ज्ञान-दर्शन का यह उपयोग वस्तु के सर्वस्वभूत है, सम्पूर्ण है। वह उपयोग चैतन्यमात्रभावपने से एक प्रकार का है।

इसप्रकार परमार्थ से आत्मा परिपूर्ण शुद्ध है।

यह आत्मा अनादि से अशुद्ध, सांजन, अनेकभावपने को प्राप्त होता हुआ तीन प्रकार का होकर स्वयं अज्ञानी होता हुआ कर्त्तृत्व को प्राप्त, विकाररूप परिणमन करके जिस-जिस भावरूप अपने को करता है, उस-उस भावरूप उपयोग का कर्त्ता होता है। इसप्रकार अज्ञानी आत्मा मिथ्यादर्शन, अज्ञान व अविरतिरूप परिणाम का कर्त्ता है, जीव के उक्त भावों का कर्त्ता जड़कर्म नहीं है।

प्रश्न – क्या विकार कर्म के निमित्त विना होता है ?

उत्तर – हाँ, विकार कर्म के निमित्त की अपेक्षा विना स्वयं से स्वतंत्रपने ही होता है। विकार निश्चय से स्वयं से ही होता है; उसमें परवस्तु निमित्तमात्र भले हो, परन्तु वह विकार का कर्त्ता नहीं है।

प्रश्न – यदि विकार पर के निमित्त विना ही हो तो विकार स्वभाव हो जायगा ?

उत्तर – विकार स्वयं से स्वतंत्रपने होता है और वह एकसमय का पर्यायस्वभाव है। कर्म का भी निमित्तपने से अस्तित्व है, परन्तु विकार

होने में जड़कर्म अकिञ्चित्कर है। ज्ञान में जो हीन अवस्था होती है, वह अपनी योग्यतागत स्वभाव से ही होती है; उसमें ज्ञानावरणी कर्म कुछ नहीं करता। ज्ञानावरणी कर्म ज्ञान की हीन दशा में निमित्त है, परन्तु कर्त्ता नहीं है।

लौकिकजन सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर को मानते हैं तथा कोई-कोई (जैनाभासी) जड़कर्म को सुख-दुःख एवं अज्ञान आदि का कर्त्ता मानते हैं; परन्तु वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है। शास्त्र में कथन आता है कि ज्ञानावरणी कर्म ज्ञान प्रगट होने में आवरण करता है; परन्तु वह तो निमित का कथन है, वास्तव में जड़कर्म आत्मा के ज्ञान को आवरण नहीं करता है।

जीव में जिस क्षण जो विकार की पर्याय उत्पन्न होती है, वह उस पर्याय का जन्मक्षण है। प्रवचनसार की १०२वीं गाथा में यह पाठ है कि सर्वद्रव्यों में जिससमय जो पर्याय उत्पन्न होती है, वह उसका स्वकाल है – जन्मक्षण है। वह पर्याय पर से उत्पन्न नहीं होती। उचित बाह्य निमित्त होता है, परन्तु निमित्त द्रव्य के परिणाम का कर्त्ता नहीं है।

तत्वार्थराजवार्तिक में दो कारण की बात आती है, परन्तु वहाँ तो प्रमाणज्ञान कराया है। प्रत्येक कार्य स्वयं से स्वतन्त्रपने होता है – इस बात को अपनी जगह कायम रखकर अमुक कार्य में निमित्त कौन है – इसका ज्ञान कराया है। यदि निश्चय की बात का निषेध करके निमित्त को कार्य का कर्त्ता बताया जायगा तो फिर प्रमाणज्ञान ही नहीं ठहरेगा, प्रमाणज्ञान का ही अभाव होने का प्रसंग प्राप्त होगा। निश्चय से परिणति स्वयं अपने से स्वतंत्रपने होती है – इस बात को मानकर साथ में निमित्त का भी ज्ञान कराया है – यही प्रमाण का विषय है।

यदि कोई ऐसा माने कि जब कर्म का जोर होता है या प्रबल उदय होता है तो विकार करना ही पड़ता है, तो यह मान्यता ठीक नहीं है। जीव को विकार होने में कर्म का किञ्चित् भी कर्त्तापना नहीं है। टीका में कहा है कि अनादि से अन्यवस्तुभूत मोह के साथ में संयुक्तता के कारण अपने में उत्पन्न होनेवाले मिथ्यादर्शन, अज्ञान व अविरतिभावरूप तीन प्रकार के परिणामविकारों के निमित्त से उपयोग तीन प्रकार का होकर, स्वयं अज्ञानी होता हुआ कर्तृत्वभाव को प्राप्त होता है। तथा विकाररूप परिणमित होकर जिस-जिस भावरूप अपने को करता है, उस-उस भाव का वह उपयोग कर्त्ता होता है।

देखो ! आत्मा विकाररूप परिणमित होकर जिस-जिस भावरूप होता है, उन-उन भावों का कर्त्ता आत्मा का वह उपयोग ही होता है। मिथ्यादृष्टि जीव कर्त्ता बनकर जिस-जिस भाव को स्वयं करता है, उस-उस भाव का उसका उपयोग ही कर्त्ता होता है; जड़कर्म कर्त्ता नहीं होता। कर्म निमित्त है, निमित्त का निषेध नहीं है; परन्तु निमित्त के कारण जीव में विकार नहीं होता। स्वयं अज्ञानी होकर जीव का उपयोग ही विकारी भाव का कर्त्ता होता है। उपयोग स्वयं अपने कारण अज्ञानी होकर विकार-रूप परिणमन करके उस भाव का कर्त्ता होता है। यह बात भली-भाँति समझ लेना चाहिए। कहीं-कहीं व्यवहार का कथन आता है, परन्तु वहाँ व्यवहार का मात्र ज्ञान कराया है — ऐसा समझना। व्यवहार निश्चय का कर्त्ता है — ऐसा नहीं समझना।

आजकल यह मोटी भूल चलती है कि कर्म के कारण विकार होता है, परन्तु यह बात बिल्कुल असत्यार्थ है — ऐसा यहाँ सिद्ध किया है। मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरतिभावरूप विकारी परिणाम का कर्त्ता अज्ञान-भाव से परिणत जीव का उपयोग स्वयं होता है।

दिगम्बर सन्तों की वाणी परमसत्य है। नियमसार में टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि मेरे मुख में से परमागम झरता है। अहाहा ! ऐसी सत्य बात किसी को न रुचे तो हम क्या करें ? परन्तु सत्य तो यही है।

निश्चय, व्यवहार, निमित्त, उपादान एवं क्रमबद्धपर्याय — ये पाँच बातें तो खास समझने जैसी हैं। जिससमय जो पर्याय होनी हो, वह पर्याय उसीसमय क्रम से होती है। जैसे मोती की माला में प्रत्येक मोती अपने-अपने स्थान में है; उसीतरह द्रव्य की पर्यायमाला में प्रत्येक पर्याय अपने-अपने काल-स्थान में है; जिस पर्याय के प्रगट होने का जो काल हो; वह पर्याय उसी काल में प्रगट होती है, आगे-पीछे नहीं होती।

ऐसा निर्णय करने में पाँचों समवाय आ जाते हैं :—

१. जिससमय जो पर्याय होनी हो, उससमय वही पर्याय होती है — इसमें काललब्धि नामक समवाय आ गया :—

२. जो पर्याय होनी है, वही होती है — इसमें भवितव्य आ गया।

३. यह निर्णय स्वभाव के लक्ष्य से हुआ — इसमें स्वभाव आ गया।

४. पर्याय स्वभावसन्मुख हुई — इसमें पुरुषार्थ आ गया।

५. तब कर्म का अभाव हुआ — इसमें निमित्त आ गया।

इसप्रकार क्रमबद्ध का निर्णय करनेवाले की दृष्टि ज्ञायक पर होती है। जिसकी दृष्टि त्रिकाली पर होती है, वही क्रमबद्ध का यथार्थ निर्णय कर सकता है। क्रमबद्ध तो पर्याय है। पर्याय के आश्रय से पर्याय का निर्णय नहीं होता है, द्रव्य के आश्रय से सम्यग्ज्ञान होता है। और वह क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करता है।

यहाँ कहते हैं कि उपयोग स्वयं अज्ञानी होकर मिथ्यादर्शनादि विकारी परिणामों का कर्त्ता होता है। उपयोग अपने जिन-जिन भावों को करता है, उन-उन भावों का वह कर्त्ता होता है। यहाँ पर्यायरूप उपयोग की बात है, त्रिकाली द्रव्यस्थित उपयोग तो इससे भिन्न है और वह शुद्ध निरंजन है। पर्यायरूप उपयोग परलक्ष्यी होने से समय-समय विकार का कर्त्ता होता है। जड़कर्म उसमें निमित्त है, परन्तु वह विकार का कर्त्ता नहीं है। मिथ्यादर्शन, अज्ञान व रागादि पुण्य-पाप के भावरूप जो-जो विकार होते हैं, उन सब विकाररूप स्वयं परिणमन करके उपयोग कर्त्ता बनता है।

अहो, कितनी स्पष्ट बात है, भाई! समय निकालकर – निवृत्ति लेकर इस बात की समझ करना चाहिये। यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा कर्म के निमित्त (कारणत्व) से निवृत्त है, क्योंकि कर्म के निमित्त (कारणत्व) से विकारी परिणाम उत्पन्न नहीं होता।

अज्ञानी जीव अनेक प्रकार के मिथ्यात्वादि भावों को प्राप्त होता है। उसका वर्तमान उपयोग अज्ञानरूप होता हुआ तीन प्रकार का होकर कर्त्तापने को प्राप्त होता है, जड़कर्म विकार का कर्त्ता नहीं है। पुण्य, पाप, दया, दान, विषय-वासना इत्यादि जो भाव होते हैं; उनमें जड़कर्म निमित्त है, परन्तु उन निमित्तों के कारण से ये भाव नहीं होते।

अज्ञानी का उपयोग उपरोक्त तीन प्रकार से कर्त्तापने को प्राप्त होता है। अज्ञानी स्वयं राग का कर्त्ता होता है – इसमें गर्भितरूप से यह भी आ गया कि ज्ञानी राग का कर्त्ता नहीं है, ज्ञानी तो राग का ज्ञाता है, ज्ञानी को जो राग है, उस राग का कर्त्ता आत्मा नहीं है।

भाई! यह तो वीतराग का मार्ग है। समयसार, प्रवचनसार आदि शास्त्र भगवान की दिव्यध्वनि के सार हैं। सर्वज्ञ परमात्मा ने जो कहा है, उसके अनुसार चार ज्ञान के धनी, अन्तर्मुहूर्त में चौदहपूर्व की रचना करने वाले गणधरदेव ने कहा है, उस सबका सार इस शास्त्र में भरा है। अरे, अज्ञानी अल्पज्ञ जीव इसमें अपनी मति-कल्पना से मनमाना अर्थ करें तो

कैसे चलेगा ? उसमें जरा भी फेरफार करें तो मिथ्यात्व का महादोष उत्पन्न होगा।

पानी उष्ण होता है; वह अग्नि से नहीं, बल्कि अपनी योग्यता से उष्ण होता है। अग्नि उसमें निमित्त है, परन्तु निमित्त कर्त्ता नहीं है। सुन्दर स्त्री का रूप देखकर जो वासना का परिणाम होता है; उस वासना के परिणाम का कर्त्ता अज्ञानी जीव स्वयं है। स्त्री का सुन्दररूप उसमें निमित्त है, परन्तु निमित्त के कारण वासना का परिणाम नहीं होता। ज्ञानावरणी कर्म के कारण ज्ञान की हीनदशा नहीं है; बल्कि ज्ञान की हीनदशा स्वयं अपने से है और उसमें ज्ञानावरणी कर्म निमित्त है। जीव की जो ज्ञान-दर्शन की हीन पर्याय होती है; वह भावघातिकर्म के कारण होती है, द्रव्यघातिकर्म उसमें निमित्त है। घातिकर्म के निमित्त से — ऐसा कथन आता है; परन्तु वह तो निमित्त का कथन है। जड़ घातिकर्म आत्मा की पर्याय का घात नहीं करता। भावघातिकर्मों से अपनी हीन पर्याय है, इसकारण द्रव्यघातिकर्मों को निमित्त कहा गया है। द्रव्यकर्म निमित्त अवश्य है, परन्तु वह भावघातिकर्मों का कर्त्ता नहीं है।

गाथा ९० के भावार्थ पर प्रवचन

"पहले कहा था कि जो परिणमित होता है, सो कर्त्ता है। यहाँ अज्ञानरूप होकर उपयोग परिणमित हुआ, इसलिये जिस भावरूप वह परिणमित हुआ, उस भाव का उसे कर्त्ता कहा है — इसप्रकार उपयोग को कर्त्ता जानना चाहिए।"

जो परिणमित होता है, वह कर्त्ता है। उपयोग विकाररूप परिणमता है, इसकारण उस उपयोग को विकार का कर्त्ता कहा है, निमित्त को कर्त्ता नहीं कहा है। ज्ञानावरणी आदि कर्म परद्रव्य हैं, वे आत्मा की पर्याय को स्पर्श ही नहीं करते, क्योंकि आत्मा की विकारी पर्याय तथा कर्म की पर्याय के बीच अत्यन्ताभाव है।

प्रश्न :— इस शरीर में पीड़ा होती है, वह आसातावेदनीयकर्म के निमित्त से होती है — इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर :— शरीर की अवस्था तो जिससमय जो होनी होती है, वह स्वयं से होती है, उसमें असाता का उदय निमित्त है; परन्तु असाता का उदय शरीर की अवस्था का कर्त्ता नहीं है। तथा उससमय जीव में जो पीड़ा का अनुभव होता है, वह उसकी योग्यता से स्वतंत्र होता है, इसमें शरीर या कर्म का कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है। यह धन-सम्पत्ति, रुपया-पैसा

आदि बाह्य सामग्री जो मिलती है; वह यद्यपि सातावेदनीय के उदय के निमित्त से मिलती है, तथापि कर्मोदय तो निमित्तमात्र है। धन-सम्पत्ति पैसा आदि तो पैसे के कारण आता है। पैसे के आने की क्रिया का कर्त्ता सातावेदनीयकर्म का उदय नहीं है, क्योंकि 'यः परिणमति स कर्त्ता' – जो स्वयं कार्यरूप परिणमता है, वह कर्त्ता होता है।

मिथ्यात्व व राग-द्वेष आदि विकाररूप से उपयोग परिणमता है, इसलिए उपयोग उस विकारी परिणाम का कर्त्ता है। अज्ञानरूप होकर जिस भावरूप उपयोग परिणमन करे, वह उस भाव का कर्त्ता है।

"यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनय से आत्मा कर्त्ता नहीं है, तथापि उपयोग व आत्मा एक वस्तु होने से अशुद्धद्रव्यार्थिकनय से आत्मा को भी कर्त्ता कहा जाता है।"

द्रव्यदृष्टि से आत्मा तो रागादि विकार का कर्त्ता है ही नहीं अर्थात् द्रव्यस्वभाव तो विकार का कर्त्ता है ही नहीं तथा द्रव्यदृष्टि जिसको हुई है – ऐसा द्रव्यस्वभाव का अनुभव करनेवाला ज्ञानी भी राग का कर्त्ता नहीं है; फिर भी अशुद्धद्रव्यार्थिकनय या अशुद्धनिश्चयनय अथवा व्यवहारनय की अपेक्षा आत्मा को रागादि विकार का कर्त्ता कहा जाता है।

अलख पुरुष यौं बखानिये

सुद्धभाव चेतन असुद्धभाव चेतन,
दुहू कौ करतार जीव और नहिं मानिये।
कर्मपिण्ड कौ विलास वर्न-रस-गंध-फास,
करता दुहू कौ पुद्गल परवानिये॥
तातैं वरनादि गुन ज्ञानावरनादि कर्म,
नाना परकार पुद्गलरूप जानिये।
समल विमल परिनाम जे-जे चेतन के,
ते-ते सब अलख पुरुष यौं बखानिये॥

– समयसार नाटक, कर्त्ता-कर्म-क्रिया द्वार, छन्द १२

अथात्मनस्त्रिविधपरिणामविकारकर्तृत्वे सति पुद्गलद्रव्यं स्वत एव कर्मत्वेन परिणमतीत्याह —

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पोग्गलं दव्वं ।।८१।।

यं करोति भावमात्मा कर्त्ता स भवति तस्य भावस्य ।
कर्मत्वं परिणमते तस्मिन् स्वयं पुद्गलं द्रव्यम् ।।८१।।

आत्मा ह्यात्मना तथापरिणमनेन यं भावं किल करोति तस्यायं कर्ता स्यात्, साधकवत् । तस्मिन्निमित्ते सति पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन स्वयमेव परिणमते । तथाहि – यथा साधकः किल तथाविधध्यानभावेनात्मना परिणममानो ध्यानस्य कर्ता स्यात्, तस्मिंस्तु ध्यानभावे सकलसाध्यभावानुकूलतया निमित्तमात्रीभूते सति साधकं कर्तारमन्तरेणापि स्वयमेव बाध्यन्ते

अब यह कहते हैं कि जब आत्मा के तीन प्रकार के परिणामविकार का कर्तृत्व होता है, तब पुद्गलद्रव्य अपने आप ही कर्मरूप परिणमित होता है :–

जो भाव जीव करे स्वयं, उस भाव का कर्त्ता बने ।
उस ही समय पुद्गल स्वयं, कर्मत्वरूप हि परिणमे ।।८१।।

गाथार्थ :– [आत्मा] आत्मा [यं भावं] जिस भाव को [करोति] करता है, [तस्य भावस्य] उस भाव का [सः] वह [कर्त्ता] कर्त्ता [भवति] होता है; [तस्मिन्] उसके कर्त्ता होने पर [पुद्गलं द्रव्यम्] पुद्गलद्रव्य [स्वयं] अपने आप [कर्मत्वं] कर्मरूप [परिणमते] परिणमित होता है।

टीका — आत्मा स्वयं ही उसरूप परिणमित होने से जिस भाव को वास्तव में करता है, उसका वह साधक (मंत्र साधनेवाले) की भाँति कर्त्ता होता है; वह (आत्मा का भाव) निमित्तभूत होने पर पुद्गलद्रव्य कर्मरूप स्वयमेव परिणमित होता है – इसी बात को स्पष्टतया समझाते हैं – जैसे साधक उसप्रकार के ध्यानभाव से स्वयं ही परिणमित होता हुआ ध्यान का कर्ता होता है और वह ध्यानभाव समस्त साध्यभावों को (साधक के साधनेयोग्य भावों को) अनुकूल होने से निमित्तमात्र होने पर साधक के

विषव्याप्तयो, विडंब्यन्ते योषितो, ध्वंस्यन्ते बंधाः तथायमज्ञानादात्मा मिथ्यादर्शनादिभावेनात्मना परिणममानो मिथ्यादर्शनादिभावस्य कर्ता स्यात्, तस्मिंस्तु मिथ्यादर्शनादौ भावे स्वानुकूलतया निमित्तमात्रीभूते सत्यात्मानं कर्तारमंतरेणापि पुद्गलद्रव्यं मोहनीयादिकर्मत्वेन स्वयमेव परिणमते ।

कर्त्ता हुए विना (सर्पादिक का) व्याप्त विष स्वयमेव उतर जाता है, स्त्रियाँ स्वयमेव विडम्वना को प्राप्त होती हैं और वंधन स्वयमेव टूट जाते हैं; इसीप्रकार यह आत्मा अज्ञान के कारण मिथ्यादर्शनादिभावरूप स्वयं ही परिणमित होता हुआ मिथ्यादर्शनादिभाव का कर्त्ता होता है और वह मिथ्यादर्शनादि भाव पुद्गलद्रव्य को (कर्मरूप परिणमित होने में) अनुकूल होने से निमित्तमात्र होने पर आत्मा के कर्त्ता हुए विना पुद्गलद्रव्य मोहनीय आदि कर्मरूप स्वयमेव परिणमित होते हैं ।

भावार्थ — आत्मा तो अज्ञानरूप परिणमित होता है; किसी के साथ ममत्व करता है, किसी के साथ राग करता है और किसी के साथ द्वेष करता है; उन भावों का स्वयं कर्त्ता होता है । उन भावों के निमित्तमात्र होने पर पुद्गलद्रव्य स्वयं अपने भाव से ही कर्मरूप परिणमित होता है । परस्पर निमित्तनैमित्तिकभाव मात्र है, कर्त्ता तो दोनों अपने-अपने भाव के हैं — यह निश्चय है ।

गाथा ९१ की उत्थानिका, गाथा एवं टीका पर प्रवचन

"आत्मा स्वयं ही उसरूप परिणमित होने से जिस भाव को वास्तव में करता है, उसका वह साधक की भाँति अर्थात् मंत्र साधनेवाले की भाँति कर्त्ता होता है; तथा आत्मा के उस भाव के निमित्तभूत होने पर पुद्गलद्रव्य स्वयमेव कर्मरूप परिणमित होता है ।"

आत्मा स्वयं ही मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान तथा मिथ्याचारित्ररूप परिणमित होने से जिस भाव को करता है, उसका वह कर्त्ता होता है । कर्म के उदय के कारण रागादिभावरूप परिणमित नहीं होता । पुण्य से धर्म होता है, व्यवहार से निश्चय होता है, निमित्त कर्त्ता है — इत्यादि मिथ्याश्रद्धारूप आत्मा स्वयं परिणमता है; कर्म उसे नहीं परिणमाता । भगवान आत्मा अपने को भूलकर स्वयं ही मिथ्यात्व, राग, द्वेष आदि जिन भावों को करता है, उन भावों का कर्त्ता होता है । मंत्र साधनेवाले साधक की तरह अज्ञानी अपने भावों का कर्त्ता वनता है । आत्मा का वह भाव निमित्तभूत होने पर पुद्गलद्रव्य स्वयमेव कर्मरूप से परिणमन करता है ।

आत्मा मिथ्यात्वादि विकाररूप स्वयं होता है। विकारभाव का स्वयं कर्त्ता तथा विकारभाव स्वयं कर्म है। विकार का कर्त्ता जड़कर्म तीनकाल में भी नहीं है। जीव जो चतुर्गति में भटकता है, वह अपनी ही भूल से अपने ही कारण भटकता है, कर्म के कारण नहीं। कर्म तो जड़ है, परद्रव्य है; वह जीव को हैरान नहीं करता। जो ऐसा मानते हैं कि कर्म हैरान करता है, उनका यह मानना यथार्थ नहीं है।

जबतक स्वभाव का भान नहीं है, तबतक मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्वभाव का कर्त्ता है। आत्मा का वह भाव निमित्तभूत होने पर पुद्गलद्रव्य स्वयमेव कर्मरूप से परिणमन करता है। अहो! कितना स्पष्ट लिखा है कि पुद्गलद्रव्य कर्मरूप से स्वयमेव परिणमित होता है। आत्मा का विकारी परिणाम निमित्तभूत होने पर जो जड़कर्म बँधता है, वह स्वयं से बँधता है। जड़कर्म की पर्याय जड़ से होती है, आत्मा कर्म की अवस्था का कर्त्ता नहीं है। कर्मबन्धन में जीव का विकारीभाव निमित्त होते हुए भी पुद्गलद्रव्य कर्मरूप परिणमित होता है, जीव इसको कर्मरूप नहीं परिणमाता। जीव ने राग-द्वेष किये, इसकारण कर्म को बँधना पड़ा हो — ऐसा नहीं है।

भगवान आत्मा का स्वभाव तो ज्ञाता-दृष्टा है। शुद्ध निरंजन सदा परमानन्दस्वरूप भगवान आत्मा अन्तर्दृष्टि का विषय है; परन्तु उसकी दृष्टि छोड़कर जो पर्याय पर दृष्टि डालता है, वह जीव मिथ्यात्व व पुण्य-पाप के भावों का कर्त्ता होता है तथा तब आत्मा के वे मिथ्यात्वादि भाव निमित्तभूत होने पर पुद्गलद्रव्य कर्मरूप से स्वयमेव परिणमित होते हैं। जीव ने मिथ्यात्व आदि परिणाम किये, इसकारण कर्म की पर्याय दर्शन-मोहरूप हुई हो — ऐसा नहीं है। अरे भाई! निमित्त-नैमित्तिक का अर्थ कर्त्ता-कर्म नहीं है। अज्ञानी जीव विकार का कर्त्ता होता है, तब पुद्गलकर्म अपने कारण स्वयमेव कर्मरूप से परिणमता है — ऐसी यह स्वतन्त्रता की बात है।

"इसी बात को स्पष्टतया से समझाते हैं — जैसे साधक उसप्रकार के ध्यानभाव से स्वयं ही परिणमित होता हुआ ध्यान का कर्त्ता होता है और वह ध्यानभाव सर्व साध्यभावों को (साधक के साधनेयोग्य भावों को) अनुकूल होने से निमित्तमात्र होने पर साधक के कर्त्ता हुए बिना (सर्पादिक का) व्याप्त विष स्वयमेव उतर जाता है, स्त्रियाँ स्वयमेव विडम्बना को प्राप्त होती हैं तथा बन्धन स्वयमेव टूट जाते हैं।"

देखो! मन्त्रसाधक अपनी मन्त्रसाधना की अथवा ध्यान की पर्याय का कर्त्ता है; परन्तु जो दूसरों का जहर उतर जाता है, उस जहर के

उतरने की क्रिया का कर्त्ता नहीं है। कहा है न कि उसमें साधक का ध्यान अनुकूल होने से निमित्तभूत होने पर साधक के कर्त्ता हुए बिना ही सर्पादिक का जहर स्वयमेव उतर जाता है। अहाहा....! पर में जो परिणति हुई, वह मन्त्रसाधक की नहीं हुई है। मन्त्रसाधक का ध्यान निमित्तभूत होने पर उसके कर्त्ता हुए बिना ही स्त्रियाँ स्वयमेव विडम्बना को प्राप्त हो जाती हैं। स्त्रियाँ में विडम्बना की अवस्था उनकी स्वयं की स्वयं से हुई है, उसमें मन्त्रसाधक का कुछ काम नहीं है, उनकी विडम्बनारूप क्रिया का कर्त्ता मन्त्रसाधक नहीं है। यहाँ आचार्य ने कहा है न कि स्त्रियाँ स्वयमेव विडम्बना को प्राप्त होती हैं; उसीप्रकार साधक का ध्यान निमित्तभूत होने पर साधक के कर्त्ता हुए बिना ही कर्मबन्ध स्वयमेव टूट जाता है।

मन्त्र का साधक अपनी साधना की पर्याय का कर्त्ता है, परन्तु वह पर (नैमित्तिक) की परिणति का कर्त्ता नहीं है। अरे! आजकल तो ऐसा मानते हैं कि ज्ञानावरणी कर्म जीव के ज्ञान को रोकता है, चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से जीव को राग होता है, व्यवहार से निश्चय होता है – इत्यादि; परन्तु भाई! ऐसा नहीं है। यहाँ तो यह कहते हैं कि ज्ञानावरणी कर्म के कर्त्ता हुए बिना ही ज्ञान की हीनदशा स्वयमेव होती है। बहुत सूक्ष्म बात है भाई! परन्तु समझने जैसी है, उपयोग को सूक्ष्म करने से समझ में अवश्य आयेगी।

निश्चय का कर्त्ता व्यवहार नहीं है। चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि देने पर सहजानन्दस्वरूप भगवान आत्मा का अनुभव होने पर जो सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रगट होती है, उसका कर्त्ता आत्मा है। वास्तव में तो उस निर्मलपर्याय का कर्त्ता पर्याय स्वयं है; परन्तु आत्मा की पर्याय का आत्म-द्रव्य के साथ (अभेदपने का) सम्बन्ध मानकर, सम्यग्दर्शनरूप पर्याय का कर्त्ता आत्मा को कहा जाता है; लेकिन उस सम्यग्दर्शनरूप पर्याय का कर्त्ता व्यवहार-सम्यग्दर्शन नहीं है। निश्चय-रत्नत्रय में व्यवहार-रत्नत्रय निमित्त है, परन्तु निश्चय-रत्नत्रय का कर्त्ता व्यवहार-रत्नत्रय नहीं है।

यहाँ कहा है न कि व्यवहार-रत्नत्रय का परिणाम कर्त्ता हुए बिना, जीव स्वयं स्वभाव के लक्ष्य से परिणमता है। जहाँ व्यवहार-रत्नत्रय को मोक्ष का परम्पराकारण कहा हो, वहाँ यह समझना चाहिये कि यह उपचार का कथन है और यह बात ज्ञानी के संदर्भ में कही गयी है। अज्ञानी के शुभराग में तो परम्पराकारण का आरोप भी नहीं आता।

अज्ञानी के तो व्यवहार होता ही नहीं है; उसे तो समयसार की ४१३वीं गाथा में अनादिरूढ़, व्यवहारमूढ़ एवं निश्चय पर अनारूढ़ कहा गया है। वहाँ कहा है :- "जो वास्तव में 'मैं श्रमण हूँ, मैं श्रमणोपासक हूँ' –इसप्रकार द्रव्यलिंग में ममत्वभाव के द्वारा मिथ्या अहंकार करते हैं, वे द्रव्यलिंग में ममत्वभाव के द्वारा मिथ्या अहंकार करते हैं, वे अनादिरूढ़, व्यवहारमूढ़ होते हुए, प्रौढ़ विवेकवाले निश्चय पर आरूढ़ न होते हुए परमार्थसत्य भगवान समयसार को नहीं देखते –अनुभव नहीं करते।

अरे भाई ! राग की मन्दता तो जीव अनादि से करता आया है, इसमें कुछ नवीनता नहीं है। सम्यग्दर्शन विना कथनमात्र व्यवहाररत्नत्रय का जीव ने अनन्तबार पालन किया है। नियमसार के १२१वें कलश में कहा है कि जो कथनमात्र व्यवहार-रत्नत्रय है, उसका भव में डूबनेवाले जीवों ने अनन्तवार आचरण किया है, परन्तु अरे रे। ज्ञानस्वरूप जो एक परमात्मतत्त्व है, उसका आचरण अभी तक कभी नहीं किया। सम्यग्दर्शन विना, भेदज्ञानरहित व्यवहार में जो लीन हैं, वे व्यवहारमूढ़ हैं। सम्यग्दर्शन प्रगट होने पर ज्ञानी को जो व्यवहार होता है; वह उसका ज्ञाता रहता है, कर्त्ता नहीं वनता।

समयसार की ४१३वीं गाथा के भावार्थ में भी स्पष्ट कहा है कि अनादिकाल से परद्रव्य के संयोग से हुए व्यवहार में ही जो पुरुष मूढ़ अर्थात् मोहित हैं, वे ऐसा मानते हैं कि जो यह बाह्य महाव्रतादिरूप भेष है, यही हमको मोक्ष प्राप्त करा देगा; परन्तु जिससे भेदज्ञान होता है, उस निश्चय के स्वरूप को अज्ञानी नहीं जानते। ऐसे पुरुष सत्यार्थ, परमात्मस्वरूप, शुद्धज्ञानमय समयसार को नहीं देखते –इसप्रकार अज्ञानी का व्यवहार निष्फल है, निरर्थक है। ज्ञानी निश्चय पर आरूढ़ हैं; वह व्यवहार में मूढ़ नहीं है, किन्तु व्यवहार का ज्ञाता-दृष्टा है। जिसको आत्मज्ञान की दशा प्रगट अनुभव में आयी है, उस पंचम गुणस्थानवाले व छट्ठे गुणस्थानवाले ज्ञानी के शुभभाव के काल में अशुभभाव टल जाता है। इसकारण उसके शुभराग को व्यवहार कहा है; परन्तु वह व्यवहार, निश्चय का वास्तविक साधन नहीं है। बाह्य निमित्त हो, परन्तु वह बाह्यनिमित्त निश्चय का कर्त्ता नहीं है। जहाँ भी उसे साधन कहा है, वह उपचार से कहा है – ऐसा समझना।

जब जड़ व चेतन की पर्याय होती है, उससमय वहाँ यदि ज्ञानी की उपस्थिति (बाह्यव्याप्ति) हो तो ज्ञानी उसमें निमित्त कहा जाता है, किन्तु निमित्तकर्त्ता नहीं। निमित्त व निमित्तकर्त्ता – इन दोनों में बड़ा भारी

अन्तर है। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव जो राग-द्वेष का कर्त्ता होता है, उसकी भोग आदि जो भी क्रियाएँ होती हैं, उनका निमित्तकर्त्ता अज्ञानी कहा जाता है।' मिथ्यादृष्टि ही निमित्तकर्त्ता कहा जाता है। ज्ञानी को अपने ज्ञाता-दृष्टास्वभाव का भान है। उसे जो राग है, वह ज्ञान की पर्याय में निमित्त है। ज्ञानी की जाननेवाली पर्याय का उपादान वह पर्याय स्वयं है, उसमें राग निमित्त है। ज्ञानी के ज्ञान की स्व-परप्रकाशक पर्याय स्वयं से होती है। उस पर्याय में राग निमित्त है; परन्तु राग निमित्त है, इसलिए वहाँ ज्ञान की पर्याय हुई है — ऐसा नहीं है। राग के कर्त्ता हुए बिना ज्ञान स्वयं ज्ञानरूप से परिणमता है।

जिसको शुद्ध चिदानन्द चैतन्यप्रभु आत्मा की दृष्टिपूर्वक सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है, आनन्द का स्वाद आया है; उस ज्ञानी को राग भी आता है, परन्तु ज्ञानी उस राग का कर्त्ता नहीं है। राग ज्ञानी का कर्त्तव्य नहीं है, क्योंकि ज्ञानी राग को करने लायक नहीं मानता। फिर भी ज्ञानी के राग-रूप परिणमन होने से उसे राग का कर्त्ता भी कहा जाता है। प्रवचनसार के ४७ नयों के प्रकरण में भी आया है कि जैसे रंगरेज रंग का कर्त्ता है, उसीतरह ज्ञानी परिणमन की अपेक्षा से राग का कर्त्ता कहा जाता है।

ज्ञानी को अपनी कमजोरी से राग आता है। उस राग के काल में ज्ञान की स्व-परप्रकाशक पर्याय स्वयं से प्रगट होती है। द्रव्य का ज्ञान पर्याय में आता है, वह स्वप्रकाशकपना है। तथा पर — रागसम्बन्धी अपना ज्ञान स्वयं से पर्याय में होता है, वह परप्रकाशकपना है। वहाँ राग से ज्ञान की स्व-परप्रकाशक पर्याय हुई है — ऐसा नहीं है। स्व-परप्रकाशक ज्ञान की पर्याय तो स्वयं से हुई है, उसमें राग निमित्त है, निमित्तकर्त्ता नहीं।

"उसीप्रकार यह आत्मा अज्ञान के कारण मिथ्यादर्शनादि भावरूप स्वयं ही परिणमित होता हुआ मिथ्यादर्शनादिभाव का कर्त्ता होता है। और वह मिथ्यादर्शनादिभाव पुद्गलद्रव्य को (कर्मरूप से परिणमित होने में) अनुकूल होने से निमित्तमात्र होने पर आत्मा के कर्त्ता हुए बिना मोहनीय आदि कर्मरूप से पुद्गलद्रव्य स्वयमेव परिणमित होते हैं।"

अपने में जो राग होता है, आत्मा उसका कर्त्ता है; उसीसमय समीप में जो कार्माणवर्गणायें हैं, वे स्वयं जड़कर्मरूप से परिणमित होती हैं। उन कर्मपरिणामों का कर्त्ता राग नहीं है। समीप में एकक्षेत्रावगाह रहनेवाले पुद्गल कर्मवर्गणायें जड़कर्मरूप से स्वयं परिणमती हैं। जब आत्मा उनका भी कर्त्ता नहीं है तो प्रगट पर — मकान आदि का कर्त्ता आत्मा कैसे हो सकता है?

कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान एवं अधिकरण – इसप्रकार छह शक्तियाँ परमाणु आदि छहों द्रव्यों में हैं। भगवान कहते हैं कि प्रत्येक द्रव्य में षट्कारकरूप शक्तियाँ पड़ी हैं। ये शक्तियाँ स्वयं से अपना कार्य करती हैं, पर के कारण इनमें कोई कार्य नहीं होता।

प्रश्न :– यह तो एकान्त है न ?

उत्तर :– अरे भाई ! सुनो, यह सम्यक्-एकान्त है। जड़ की पर्याय जड़ से स्वतन्त्रपने होती है, उसका कर्त्ता आत्मा नहीं है। जीव जितने अनुपात में राग-द्वेष करता है, उतने प्रमाण में उसके जड़कर्म बँधता है; तथापि राग-द्वेष के जो परिणाम होते हैं, वे कर्मबन्ध के कर्त्ता नहीं हैं। यहाँ कहा है न कि जीव के मिथ्यादर्शनादिभाव पुद्गलद्रव्य के कर्मरूप से परिणमन होने में अनुकूल होने से निमित्तमात्र होने पर भी आत्मा के कर्त्ता हुए बिना पुद्गलद्रव्य स्वयमेव मोहनीयादि कर्मरूप से परिणमित होते हैं। कर्म की पर्याय अपने कर्त्तागुण से अपनी कर्मपरिणति की कर्त्ता होती है।

गाथा ९१ के भावार्थ पर प्रवचन

"आत्मा तो अज्ञानरूप परिणमित होता है; किसी के साथ ममत्व करता है, किसी के साथ राग करता है और किसी के साथ द्वेष करता है; उन भावों का स्वयं कर्ता होता है।"

यहाँ अज्ञानी की बात है। सम्यग्दृष्टि राग का कर्त्ता नहीं है। नाटक समयसार में पण्डित बनारसीदासजी ने कहा है :–

करे करम सोई करतारा, जो जाने सो जाननहारा।
जो करता नहिं जाने सोई, जाने सो करता नहिं होई ।।

दया, दान, व्रत आदि शुभभाव का जो कर्त्ता होता है, वह मिथ्यादृष्टि है; ज्ञानी तो शुभभाव का जाननेवाला है। आत्मा स्वभाव से ज्ञान का कन्द प्रभु है, इसलिए आत्मा जानने का काम करता है। राग का जो काम होता है, ज्ञानी उसका कर्त्ता नहीं है। सम्यग्दृष्टि को चौथे गुणस्थान में जो राग होता है; उसका वह जाननेवाला है, कर्त्ता नहीं। आत्मा की सर्व-शक्तियाँ शुद्ध हैं और धर्मी की दृष्टि शुद्ध शक्तिवान् चैतन्यघन प्रभु आत्मा पर है। इसकारण जो ये रागादि विकार होते हैं; ज्ञानी उनका ज्ञायक है, कर्त्ता नहीं है। ज्ञानी को राग का परिणमन है – इस अपेक्षा से उसे कर्त्ता कहा जाता है, परन्तु शुद्ध-दृष्टि की अपेक्षा से ज्ञानी राग का कर्त्ता नहीं है।

अहो ! ऐसा सत्यनिरूपण एक दिगम्बर धर्म में ही है, अन्यत्र कहीं नहीं है । वेदान्ती आदि आत्मा को सर्व व्यापक कहते हैं तथा भूल को मायाजाल (भ्रम) कहते हैं, परन्तु ऐसा नहीं है । मायाजाल (भूल) भी वस्तु है, कोरा भ्रम नहीं है । भाई ! उसको अपना मानना मूढ़ता है ।

आत्मा जो राग के कर्त्तृत्वपने से परिणमता है, वही आत्मा का अज्ञानभाव है । अज्ञानीजीव अज्ञानवश किसी के साथ ममत्व – मिथ्यात्व का भाव करता है, किसी के साथ राग करता है, किसी के साथ द्वेष करता है । इत्यादि प्रकार से वह जो-जो भाव करता है, उन-उन भावों का वह स्वयं कर्त्ता होता है । मेरी लक्ष्मी, मेरा मकान, मेरी सम्पत्ति, मेरा पुत्र, मेरी इज्जत-आबरू इत्यादि प्रकार से ममकार करता है । यह ममकार ही मिथ्यात्वभाव है और अज्ञानी उन बाह्यपदार्थों को देखकर उनको अनुकूल-प्रतिकूल मानकर उनमें प्रीति-अप्रीति करता है, राग-द्वेष करता है । बाह्य वस्तुएँ राग-द्वेष की कारण नहीं हैं, क्योंकि परवस्तुएँ तो मात्र ज्ञेय हैं, उनको यह जीव अनुकूल-प्रतिकूल जानकर स्वयं राग-द्वेष करता है ।

यह आत्मा आनन्द का नाथ, नित्यानन्द प्रभु सहजानन्द, परमानन्द, सदानन्दस्वरूप है । ऐसी अपनी आत्मवस्तु की अन्तर्दृष्टि होने पर अनुभव में जो अतीन्द्रिय निराकुल आनन्द आता है, वह आनन्द सम्यग्दृष्टि के अनुभव की मुहर-छाप है । अतीन्द्रिय आनन्द स्वानुभव का ट्रेडमार्क है । सम्यग्दृष्टि आनन्द का वेदन करता है । उसको जो राग आता है, उसका वह ज्ञाता रहता है, दृष्टि की सामर्थ्य से उनका कर्त्ता-भोक्ता नहीं होता ।

धर्मी को शुभराग आता है, परन्तु धर्मी राग को दुःखरूप हेय जानता है । अज्ञानी उसी राग को अपना कर्त्तव्य समझता है तथा इससे अपने को सुखी होना मानता है । इसप्रकार दोनों की मान्यता में जमीन-आसमान का भेद है । जहाँ अज्ञानी विकार के कर्त्तापने से परिणमता है, वहीं ज्ञानी विकार के अकर्त्तापने से परिणमता है । अहो ! दृष्टि का महामात्य ।

देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग, पंचमहाव्रत का परिणाम, शास्त्र का ज्ञान – ये सब निमित्त हैं, परन्तु ये सब निमित्त आत्मा के सम्यग्दर्शन होने के कर्त्ता नहीं हैं ।

यहाँ कहते हैं – "जीव के भावों के निमित्रमात्र होने पर पुद्गलद्रव्य स्वयं अपने भाव से ही कर्मरूप परिणमित होता है । परस्पर निमित्त-नैमित्तिकभावमात्र है । कर्त्ता तो दोनों अपने-अपने भाव के हैं – यह निश्चय है"।

मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ

मैं हूँ अपने में स्वयं पूर्ण,
पर की मुझ में कुछ गन्ध नहीं।

मैं अरस, अरूपी, अस्पर्शी,
पर से कुछ भी सम्बन्ध नहीं ॥

मैं रंग-राग से भिन्न, भेद से
भी मैं भिन्न निराला हूँ।

मैं हूँ अखण्ड, चैतन्यपिण्ड,
निज रस में रमने वाला हूँ ॥

मैं ही मेरा कर्त्ता-धर्त्ता,
मुझ में पर का कुछ काम नहीं।

मैं मुझ में रहने वाला हूँ,
पर में मेरा विश्राम नहीं ॥

मैं शुद्ध, बुद्ध, अविरुद्ध, एक,
पर-परिणति से अप्रभावी हूँ।

आत्मानुभूति से प्राप्त तत्त्व,
मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ ॥

प्रस्तुत ग्रन्थ का मूल्य कम करने वाले दातारों की सूची

१.	श्री जुगराजजी दुलीचन्दजी जैन, बम्बई	५,००१)
२.	श्री नाथूलालजी पोल्याका, जयपुर	२,५०१)
३.	मुंशी कन्हैयालालजी गुलाबचन्दजी जैन, बेगमगंज (म. प्र.)	२,५०१)
४.	श्री लक्ष्मीबेन, बम्बई	१,००१)
५.	श्री दि० जैन मुमुक्षु मण्डल, दमोह	५०१)
६.	श्रीमती तीजकुंवर, धर्मपत्नी – श्री देवीलालजी मेहता, सोनगढ़ (गुज०)	५०१)
७.	श्री दि० जैन मुमुक्षु मण्डल, कूरण (राज०)	४०१)
८.	श्रीमती प्रमोद जैन, धर्मपत्नी – श्री ज्ञानचन्दजी जैन, ग्वालियर	२३१)
९.	श्री दि० जैन मुमुक्षु मण्डल, महिदपुर (म० प्र०)	१६७)
१०.	श्री पूनमचन्द छाबड़ा, इन्दौर,	१५१)
११.	श्री शिखरचन्दजी सोनी, अजमेर	१०१)
१२.	श्री छोटेलाल रत्नमाला जैन धर्मार्थ ट्रस्ट, इटावा (उ० प्र०)	१०१)
१३.	श्री मदनराजजी छाजेड़, जोधपुर	१०१)
१४.	श्रीमती उमरावदेवी, धर्मपत्नी – श्री भँवरलालजी शाह, जयपुर	१०१)
१५.	श्री कपूरचन्दजी राजमलजी जैन, लवाण (राज०)	१०१)
१६.	श्री खेमराजजी दुलीचन्दजी जैन, खैरागढ़ (म०प्र०)	१०१)
१७.	श्री नेमीचन्दजी गेंदालालजी, गुना (म० प्र०)	१०१)
१८.	श्री गट्टूलालजी जैन फर्म, भवानीराम झब्बूलाल, गुना (म० प्र०)	१०१)
१९.	श्री विमलप्रकाशजी अजमेरा, लहर (म० प्र०)	९४)
२०.	ब्र० निर्मलाबेन, भावनगर	९४)
२१.	श्री वी० टी० चवरे, बुरहानपुर (म० प्र०)	५१)
	कुल	१४,००३)

हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

क्रम	प्रकाशन		रु० पै०
१.	समयसार (नया प्रकाशन)		१८—००
२.	मोक्षमार्गप्रकाशक		८—००
३.	जयपुर (खानियाँ) तत्त्वचर्चा भाग १ व २		अप्राप्य
४.	प्रवचनरत्नाकर भाग १		१०—००
५.	प्रवचनरत्नाकर भाग २		१०—००
६.	प्रवचनरत्नाकर भाग ३		१०—००
७.	जिनवरस्य नयचक्रम् (हिन्दी)	साधारण	४—००
		सजिल्द	५—००
८.	क्रमबद्धपर्याय (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल)	साधारण	३—००
		सजिल्द	४—००
९.	धर्म के दशलक्षण (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, अंग्रेजी)	साधारण	४—००
		सजिल्द	५—००
१०.	तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ (हि., गु., म., क., अं.)		६—००
११.	सत्य की खोज (कथानक) (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल)	साधारण	४—००
		सजिल्द	५—००
१२.	मैं कौन हूँ ?		१—२५
१३.	युगपुरुष श्री कानजी स्वामी (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल)		२—००
१४.	परमार्थवचनिका प्रवचन (नया प्रकाशन)		२—००
१५.	अहिंसा-चक्षु (नया प्रकाशन)		१—००
१६.	लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशिका (नया प्रकाशन)		१—००
१७.	छहढाला (मूल)		०—५०
१८.	आचार्य अमृतचन्द्र और उनका पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (सजिल्द)		३—००
१९.	वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका		४—००
२०.	तीर्थंकर भगवान महावीर (हि., गु., म., क., अ., ते., अं.)		०—५०
२१.	वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर (हिन्दी, गुजराती)		०—२५
२२.	गोम्मटेश्वर बाहुबली		०—४०
२३.	चैतन्य-चमत्कार		१—००
२४.	वीर हिमाचल तैं निकसी		१—००
२५.	अर्चना (पूजन संग्रह)		०—४०
२६.	बालबोध पाठमाला भाग १ (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल)		०—५०
२७.	बालबोध पाठमाला भाग २ (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल)		०—८५
२८.	बालबोध पाठमाला भाग ३ (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल)		०—८५
२९.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग १ (हिन्दी, गुजराती, मराठी)		०—७०
३०.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग २ (हिन्दी, गुजराती, मराठी)		१—००
३१.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग ३ (हिन्दी, गुजराती, मराठी)		१—००
३२.	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १ (हिन्दी, गुजराती)		१—२५
३३.	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग २ (हिन्दी, गुजराती)		१—४०
३४.	महावीर वंदना (कैलेंडर)		०—५०
३५.	मैं ज्ञानानंद स्वभावी हूँ (कैलेंडर)		०—५०